इकाई–1 प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा प्रादुर्भाव एवं विकास

1.1. प्रस्तावना
1.2. उद्देश्य
1.3. प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा
1.4. प्राकृतिक चिकित्सा का उद्भव
1.5. आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का विकास
1.6. प्राकृतिक चिकित्सा की प्रगति
1.7. भारत में प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास व प्रगति।
1.8. सारांश
1.9. संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.10. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.11. निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली ने पूरे विश्व में अब बड़े से बड़ा और साधारण व्यक्ति भी प्राकृतिक चिकित्सा के महत्व को समझने लगा है। केवल इंग्लैण्ड में जो क्षेत्रफल में भारत के उत्तर प्रदेश से भी छोटा है। इस समय चार सौ से अधिक प्राकृतिक चिकित्सा सफलतापूर्वक चला रहे है। भारत में भी शहरों व गांवों में भी जगह–जगह पर प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र खुल गये हैं। जिससे प्राकृतिक चिकित्सा का दिनो दिन विकास हो रहा है। प्राकृतिक चिकित्सा को इस वर्तमान स्थिति में लाने का श्रेय उन महान आचार्यो को प्राप्त है। जिन्होंने मान अपमान को सहन कर और कठिनाइयों को झेलते हुए इस चिकित्सा का प्रचार–प्रसार किया। प्राकृतिक चिकितसा के पुनरूत्थान में मदद देने वाले अनेक प्रभावशाली व्यक्ति थे। और कई औषधियों द्वारा उपचार करने वाले चिकित्सक थे। जिन्होंने ऐलोपैथी को छोड़कर प्राकृतिक चिकित्सा को अपनाया जिसमें जैम्स क्यूरी और सरजान प्लेयर के नाम प्रमुख है।

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली या प्राकृतिक जीवन कोई विशिष्ट उपचार पद्धति न होकर जीवन यापन का अटूट नियम या मुख्य प्राणी धर्म है। प्रकृति वह पथ है जिस पर चल कर कोई भी प्राणी जीवन की परिपूर्णता को जीवन के सच्चे आनन्द को तथा जीवन के ध्येय को प्राप्त कर सकता है। प्राकृतिक चिकित्सा में धर्म अस्तिकता एवं स्वास्थ्य का आपस में सामंजस्य एवं समावेश माना जाता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा उस प्रणाली को कहते है। जिस पर चलने से स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

1.2 उद्देश्य

- प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ व परिभाषाओं का अध्ययन करेगें।
- प्राकृतिक चिकित्सा के उद्भव की जानकारी प्राप्त करेगें।
- आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा के जन्म व विकास का क्रम जानेगें।

- भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के विकास के क्रम को जानेगें।

1.3 प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा

प्राकृतिक चिकित्सा प्रकृति पर आधारित चिकित्सा को कहते है। शरीर से संचित विजातीय द्रव्यों को प्राकृतिक साधनों द्वारा निकालना एवं जीवनी शकित को उन्नत करना तथा रोग ग्रस्त अंग को जीवनी शक्ति प्रदान करना ही प्राकृतिक चिकित्सा का उद्देष्य है।
प्राकृतिक चिकित्सा पंच तत्व पर आधारित चिकित्सा पद्धति है। प्राकृतिक चिकित्सा में पंच तत्वों को प्रयोग करके ही चिकित्सा की जाती है। पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाष इन तत्वों से ही शरीर का निर्माण हुआ है। इन तत्वों के असंतुलन के कारण ही रोग या विकृति उत्पन्न होती है। प्राकृतिक चिकित्सा में पंच तत्वों का संतुलन बनाकर रोग दूर होते है। प्राकृतिक चिकित्सा प्रकृति के निर्माणकारी सिद्धान्तों के अनुसार शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक धरातलों पर सामान्जस्य के साथ मानव निर्माण की व्यवस्था है। प्रा0चि0 का आधार ही रोग–प्रतिरोधक क्षमता का संवर्द्धन करना है। कुदरत के कानून का पालन करने से रोग प्रतिरोधक शक्ति में तेजी से वृद्धि होती है। यह शक्ति रोगों को दूर करने में सहायक होती है।

शरीर पर प्रतिक्षण अरबों खरबों रोगाणुओं का आक्रमण होता है। फिर भी शरीर अपनी सेल्फ हीलिंग व रिपेयरिंग एवं चिकित्सा की व्यवस्था स्वयं करता है। रोगाणुओं तथा रोग से लड़ने के लिये प्रत्येक प्राणी तथा वनस्पति में वह दिव्य जीवन शक्ति प्रकृति ने कूट–कूट कर भरी है। प्रत्येक सजीव उस दिव्य जीवन शक्ति को लेकर पैदा होता है। जगत में जो भी सुख स्वास्थ्य एवं सौहार्द की अभिव्यक्ति है यह उस जीवनी शक्ति के कारण है। इस जन्मजात जीवनी शक्ति को प्राकृतिक प्रतिरोध शक्ति कहते है। प्राकृतिक चिकित्सा में इस शक्ति को विकसित कर विजातीय द्रव्य को बाहर निकाला जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषाएं–

लुईस कुने के अनुसार– ''प्राकृतिक प्रणाली जिसका कि चिकित्सा के रूप में उपयोग करते हैं तथा जो दूसरी पद्धतियों से गुण में बहुत अच्छी है, बिना औषधि या आपरेशन के उपचार की आधार की शिक्षा है।''

जे0एम0 जुस्सावाला के अनुसार –''प्राकृतिक चिकित्सा एक विस्तृत शब्द है जो रोगोपचार के सभी प्रणालियों के लिये उपयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य प्राकृतिक शक्ति एवं शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता के साथ सहयोग करना है। यह व्याधि से मुक्त कराने का एक भिन्न तरीका है जिसका जीवन स्वास्थ्य एवं रोग के संबन्ध में अपना स्वयं का एक दर्शन है।

बेनजामिन हेरी के अनुसार– ''प्राकृतिक चिकित्सा व्याधि से मुक्त करने तथा रोग का दर्शन है।'' प्राकृतिक चिकित्सा शरीर की स्वयं की आंतरिक सफाई एवं शुद्धिकरण की स्वीकृति देती है। इस प्रकार यह अशुद्धता एवं अनुपयोगी पदार्थ जो कि अधिक वर्षों के कारण एकत्र हो गया तथा जो सामान्य कार्य में बाधा उत्पन्न करता था उसें निकाल फेंकता है।

महात्मा गांधी के अनुसार–''प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से रोग मिट जाने के साथ ही रोगी के लिये ऐसी जीवन पद्धति का आरम्भ होता है जिसमें पुनः रोग के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।''

पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य–''प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ है प्राकृतिक पदार्थों विशेषतः प्रकृति के पांच मूल तत्वों द्वारा स्वास्थ्य रक्षा और रोग निवारक उपाय करना।''

1.4 प्राकृतिक चिकित्सा का उद्भव

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली सिर्फ चिकित्सा नही अपितु सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है, ये विज्ञान तब से अस्तित्व में है जबसे प्रकृति अस्तित्व में आयी, हालांकि उसका उपयोग मानव ने बाद में सीखा। प्राकृतिक चिकित्सा का उद्भव प्रकृति के पांच तत्वों आकाष, वायु अग्नि, जल व पृथ्वी के द्वारा ही हुआ है। यदि इस चिकित्सा को सबसे प्राचीन और सभी चिकित्सा प्रणालियों की जननी कहें तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी, हमारे सर्वोच्च धार्मिक ग्रन्थ वेदों में भी इस चिकित्सा जैसे जल चिकित्सा, उपवास (आकाश तत्व चि0) का वर्णन मिलता है। वेदों के अलावा इसके बाद आये पुराणों में भी इसकी उपस्थिति सिद्ध है। बौद्ध ग्रन्थ 'महाबग्ग' में भी एक प्रसंग के साथ इस चिकित्सा की चर्चा है। एक प्रसंग के अनुसार एक बार बुद्ध कलन्द निवाय नामक स्थान पर रूके हुए थे वहां पर एक दिन किसी बौद्ध भिक्षु को सांप ने काट लिया, तभी लोगों ने इसकी सूचना बुद्ध को दी, तब बुद्ध ने उन्हें आदेश देते हुए कहा कि तुम सांप के विष के नाश के लिये मिट्टी, गोबर, राख और मूत्र का उपयोग करे या फिर सभी का उपयोग एक साथ ही करे। तब उन्होंने उत्तर दिया कि जो भी चीज पहले मिल जाये उसी का उपयोग बिना समय नष्ट किये करो, इस लगभग 2500 साल पूर्व की इस घटना से पहले इस बात का प्रमाण मिलता है कि रोगों के उपचार में मिट्टी का प्रयोग हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है।

प्रारम्भ में औषधि चिकित्सा नहीं हुआ करती थी उस समय लंघन (उपवास) को ही रोगों की अचूक चिकित्सा माना जाता था, औषधियों के प्रयोग का प्रारम्भिक काल रावण के समय से माना जा सकता है। रावण भोग विलासी होने के कारण उसे उपवास से कष्ट होता था, अतः उसने वैद्यो को ऐसी औषधियों की खोज करने के लिये कहा, जिनका प्रयोग करने पर उपवास आदि न करना पड़े, इसी प्रकार धीरे–धीरे कालान्तर में औषधियां लोगों के मध्य फैलती गयी, परन्तु वह उतनी प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई जितनी की प्राकृतिक चिकित्सक थी, सृष्टि ने आदि से अब तक इतिहास को यदि देखें तो स्वयं ही विदित हो जायेगा भी पूर्वक काल में न तो इतनी चिकित्सा पद्धतियां थी और न ही इतने चिकित्सक, परन्तु तब आज की अपेक्षा लोग दीर्घायु हुआ करते थे, तथा इतने अधिक रोग भी नहीं हुआ करते थे जितने की आज है। इसका कारण स्पष्ट हैं, क्योंकि उस काल में लोग प्रकृति से जुड़े हुए थे। वे प्रकृति के साथ चलते थे, विरूद्ध नहीं जबकि आज मनुष्य को प्रकृति से तालमेल बैठाने में भारी समस्या का सामना करना पड़ रहा है। क्योंकि वह अपनी आदतों का गुलाम बन चुका है। प्राचीन काल में लोग असमय निर्बल व निष्तेज नहीं हुआ करते थे। वे सभी दृष्टि से (शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक) जीवन पर्यन्त बलषाली व तेजस्वी व ओजस्वी बने रहते थे। इसका स्पष्ट कारण यह भी है कि वे सच्चे अर्थो में प्रकृति की उपासना किया करते थे। प्राचीन काल से ही हमारे देष में तीर्थ भ्रमण पंचतत्व पूजन आदि सभी स्वास्थ्य हेतु अति आवष्यक होने से धर्म के अंग के रूप में स्वीकार कर ली गई, प्राचीन काल में केवल प्रकृति ही वह साधन की जिससे स्वास्थ्य लाभ लिया जा सके अन्य कोई वस्तु इसके लिये उपलब्ध नहीं थी और नहीं उसकी कोई आवश्यकता ही महसूस की जाती थी, इसके अलावा प्राकृतिक चिकित्सा में योगासनों का भी अत्यधिक महत्व है।

योगासन प्राकृतिक चिकित्सा में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आसनों द्वारा स्वास्थ्य रक्षण व स्वास्थ्य सुधार का प्रचलन आदि काल से ही निरन्तर चला आ रहा है। मानव कल्याण हेतु हमारे ऋषि मुनियों ने, अपने अथक परिश्रम व शूक्ष्म अन्वेक्षण के माध्यम से विभिन्न आसनों

का निर्माण किया तथा उनकी वैज्ञानिकता को भी सिद्ध किया, आज के युग में इनका प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में रोजगार हेतु सफलतापूर्वक किया जा रहा हैं। इन आसनों से पुराने से पुराने रोगों को तो दूर किया ही जाता है। परन्तु यदि इस आसनों का प्रयोग अन्य यौगिक क्रियाओं के साथ विधि–विधान से किया जाये तो अतिष्योक्ति नहीं होगी कि इनके द्वारा अमरता को प्राप्त किया जाता है। इसका कारण यह है कि इन अभ्यासों के द्वारा सभी शारीरिक विष जो कि शरीर को क्षीण करके मृत्यु का कारण बनते हैं को दूर किया जा सकता है।

उपरोक्त सभी बातों का निचोड़ यह है कि जिस स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियाओं को हम सभी आजकल अपने जीवन में प्रयोग कर रहे हैं वे सभी पहले भी प्राचीन भारत में विद्यमान थी, यह अलग बात है कि उनके नाम आधुनिक चिकित्सा पद्धति के नामों से भिन्न थे। जैसे आजकल के स्टीमबाथ, हिपबाथ, एनिमा, वाटर सीपींग आदि को पहले, स्वेद स्नान, कटि स्नान, वस्ति, आचमन आदि नामों से जाना जाता था, जिसे आजकल सनबाथ कहते हैं, वह प्राचीन काल में सूर्य नमस्कार के रूप में या सूर्य को अर्ध देकर किया जाता था, इनके अलावा उपवास भी नया नहीं है, छन्दोग्यपनिषद में कहा गया है कि व्यक्ति 15 दिनों तक आसानी से व लाभ लेता हुआ उपवास कर सकता है। उपनिषद में भी उपवास की महत्ता बताते हुए वह किन–किन रोगों में लाभकारी है, यह बताया गया है। साथ ही साथ उपवास तोड़ने के नियमों को भी बताया गया है। ये सभी बातें यह संकेत करती है कि केवल भारत ही नहीं अपितु समस्त संसार में किसी ना किसी रूप में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग अवष्य होता था, लेकिन बाद के समय में धीरे–धीरे औषधियों और औषधि चिकित्सकों का जोर बढ़ता गया तथा हम प्राकृतिक चिकित्सा से दूर होते चले गये, इसका एक कारण यह भी था कि औषधि चिकित्सा लेना प्राकृतिक चिकित्सा से काफी आसान था, तथा उसके लिये प्रकृति के नियमों का पालन करना भी अनिवार्य नहीं समझा जाता था और साथ ही इससे परिणाम शीघ्र मिलते थे, परन्तु समय के साथ–साथ इस औषधि चिकित्सा के दुष्परिणाम सामने आने लगे, लोग इस बात को जानने लगे कि वे जिन औषधियों का सेवन कर रहे हैं वे औषधियां वास्तव में उनके शरीर में विषाक्त तत्वों को बढ़ा रही है, तथा यह औषधि (एलोपैथिक) चिकित्सा केवल लाक्षणिक उपचार तक ही सीमित है रोग तो जहां का तहां बना हुआ हे, इसने तो केवल उसके लक्षण को दबाया है। तथा बाद में यही रोग गंभीर रोगो के रूप में प्रकट हो रहे हैं। हम तरह–तरह की दवाईयां रखते हैं। इंजेक्षन लगवाते हैं। जिनसे हमारे शरीर में दूषित पदार्थो का ढेर जमा हो जाता है। यदि मानव को इन सबकी वास्तव में आवष्यकता होती तो ईश्वर मानव को इन सभी विषों को पचाने की शक्ति देता, मगर ऐसा नहीं है ये सभी विषय शरीर द्वारा बाहर फेंकने का प्रयास किया जाता है और इसी प्रयास को हम तीव्र रोगों के नाम से जानते हैं। इन सभी कारणों से कालान्तर में लोगों इस औषधि चिकित्सा के विरूद्ध आवाज उठानी शुरू कर दी और इसके स्थान पर प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली को पुनः प्रतिष्ठित करने का संकल्प लिया, इस कार्य की सबसे रोचक बात यह थी कि प्राकृतिक चिकित्सा का समर्थन करने वालों में अधिकांश ऐलोपैथी के डाक्टर ही थे।

हालांकि प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति भारत की अपनी प्राचीन पद्धति हैं परन्तु बीच में कुछ समय के लिये इस पद्धति के लोप हो जाने के बाद इसे पुर्नजन्म या पुर्ननिर्माण का श्रेय पष्चिमी देषों को ही जाता है। प्राकृति चिकित्सा के पुनरूत्थान में सहयोग करने वाले

अनेक प्रभावषाली प्राकृतिक चिकित्सक थे और ये लोग औषधि द्वारा चिकित्सा करते–करते अपने जीवन का एक बड़ा भाग बिताने पर आत्मिक शांन्ति न पा सके।

1.5 आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का विकास (पाश्चात्य संदर्भ में) –

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति पर विष्वास जागने के पष्चात अनेक ऐलोपैथी डॉ0 इसके पुनरूत्थान में लग गये थे, इस श्रेणी में पहले दो डॉ0 जेम्स क्यूरी ;श्रंउमे ब्नततपमद्ध और सरजॉन फ्लायर ेै;पत श्रवीद थ्संलमतद्ध थे जो अठ्ठासी शताब्दी से सम्बन्ध रखते हैं, डॉ0 फ्लॉयर इग्लैंड के रिचफील्ड के रहने वाले थे। एक बार उन्होंने कुछ किसानों को एक स्रोत के पानी में नहाकर स्वास्थ्य लाभ लेते हुए देखा, तभी उनके मन में जल के स्वास्थ्यकारण प्रभाव के विषय में अधिकाधिक खोज करने की प्रबल इच्छा जागृत हुई थी, डॉ0 जेम्स क्यूरी लिवर पूल के रहने वाले थे। सन् 1717 में इन्होंने जल चिकित्सा के ऊपर एक पुस्तक लिखकर उसका प्रकाशन करवाया था।

विनसेंज प्रिस्निज (Vincenz Preisnitz) :– वास्तव में उपरोक्त दोनों डाक्टरों के समय तक लोगों में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार व्यवहारिक रूप से नहीं हो सका था। इस श्रम को सर्वप्रथम जर्मनी में डॉ0 प्रिस्निज ने ही किया। यही कारण है कि कुछ विद्वानों के अनुसार डॉ0 प्रिस्निज ही आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा के जन्मदाता है। सत्य चाहे जो भी हो किन्तु लगभग 2300 वर्ष पूर्ण हिपोक्रेटस के उठाये हुए रोग उपषम संकट के अनुसंधान के कार्य को इन्होंने ही अपने समय में पूरा किया। इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का आन्दोलन आज से लगभग सवा सौ साल पूर्व ही हुआ था जो कि प्रिस्निज का भी समय है।

सीलास ओ0 ग्लीसन (Silas O Gleason) :– ये प्रिस्निज के शिष्य थे जिन्होंने उनके कार्य को आगे बढ़ाया।

हरगार्षेन, बिजल, फेल्के :–ये तीनों प्राकृतिक चिकित्सक जर्मनी के रहने वाले थे, तथा अपने समय में वहां इनका बहुत नाम था, इन्होंने अपने जीवन काल में प्राकृतिक चिकित्सा के उत्थान के लिये अथक प्रयास किये।

जेम्स सी0 जैम्सन (James C. Jackson) :– जेम्स सी0 जैम्सन अमेरिका के निवासी थे, वस्तुतः अमेरिका में इन्हें ही प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का उन्नायक माना जाता है। इनका समय 1811 ई0 का है।

जोहान्स स्क्रॉथ (Johannes Schroth) :– स्क्राथ ने भी प्राकृतिक चिकित्सा के पुनरूद्धार के लिये अथक प्रयास किये, प्रिन्निज के ही भांति तथा उनके ही समय में तथा उनके स्थान के आस पास इन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का पुनरूद्धार किया। पहले इन्होंने अपने घुटने की कड़ी चोट को एक साधु द्वारा बताये गये जल चिकित्सा द्वारा ठीक किया। इसके बाद इन्होंने अपने घायल घोड़ों और कुत्तों पर जल चिकित्सा का प्रयोग करके आषातीत परिणाम प्राप्त किये। बाद में सिद्धहस्त हो जाने के बाद इन्होंने मनुष्यों की भी चिकित्सा शुरू कर दी, तथा जल्द ही प्रिस्निज की ही भांति इनकी ख्याति बढ़ने लगी, जिस कारण औषधि विज्ञान में श्रद्धा रखने वाले लोगों ने इनकी अत्यधिक निन्दा की। लगभग 20 वर्षो तक इनकी इसी प्रकार निन्दा होती गयी यहां तक की उन्हें जेल भी जाना पड़ा। 1849 ई0 में जेल से छूटने के बाद लड़ाई में घायल बर्टेम्बं के डयूक के घावों को

कुछ ही दिनों में ठीक कर दिया तो इनके शत्रुओं का कहीं पता न रहा, इनकी चिकित्सा प्रणाली को लोग इनके नाम से स्क्राथ–चिकित्सा पुकारते हैं।

इमेन्युल स्क्राथ (Emanule Schoth) :– ये जोहान्त स्क्राथ के पुत्र थे, इन्होंने अपने पिता के बाद उनकी चिकित्सा विधि को आगे बढ़ाने तथा उसके प्रचार का कार्य करते हुए अनेक रोगियों का सफल उपचार किया।

फादर सेबस्टियन नीप (Father Sebastain Kennepp) :– जोहान्स स्क्राथ के ही समकालीन प्रकृति के प्रबल उपासक पादरी फादर नीप ने भी अपने पूरे उत्साह और लगन से प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार किया, इन्होंने ये जल चिकित्सा के साथ–साथ जड़ी बूटियों द्वारा चिकित्सा करने के पक्षधर थे, इन्होंने एक स्वास्थ्य गृह बनाया तथा उसका संचालन 45 साल से अधिक अवधि तक बड़ी तत्परता और सफलता के साथ किया, आज भी जर्मनी में इनके नाम से अनेक संस्थायें कार्यरत है। जिनमें इनकी ही चिकित्सा प्रणाली प्रचलित है। इन संस्थाओं में सदस्यों की संख्या लगभग 50,000 से अधिक है। नीप द्वारा लिखी पुस्तक माईवाटर क्योर आज भी व्यापक रूप से पढ़ी जाती है।

आर्नल्ड रिक्ली (Arnold Rickli) :– आर्नल्ड पहले एक व्यापारी थे परन्तु बाद में प्राकृतिक चिकित्सा से प्रभावित होकर इन्होंने अपना सारा जीवन इसी समर्पित कर दिया ये आस्ट्रिया के रहने वाले थे। 1848 ई0 में इन्होंने केन प्रान्त के टेल्डास नामक स्थान पर धूप और वायु का सेनिटोरियम स्थापित किया जो कि अपने ढंग का प्रथम प्राकृतिक चिकित्सा भवन था जिसे देखकर बाद में अन्य चिकित्सकों ने भी इसी प्रकार के भवन बनवाये। सबसे पहले इन्होंने ही धूप तथा वायु के साथ–साथ रोगियों को सात्विक आहार पर रखकर उनके उपचार की प्रणाली विकसित की ओर इससे सम्बन्धित सिद्धान्तों का प्रचार किया।

डॉ0 रसे (Dr. Rause) :– उपरोक्त तीनों डॉ0 लुई कुने से पूर्व हुए थे, जो कि प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक थे इनके आश्रम में जाकर लुई कूने ने अपने रोग की चिकित्सा करवाई थी जिसके बाद उन्हें प्राकृतिक चिकित्सा पर अटूअ विष्वास हो गया तथा इस चिकित्सा के गुणों को देखकर वे बाद में स्वयं एक सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक बने।

लूई कूने (Luis Kuhne) :– प्राकृतिक चिकित्सा में जल चिकित्सा को पुर्नजीवित करने तथा उसका विकास करने का श्रेय मुख्य रूप से प्रेस्निज, नीम व कूने ने ही किया। किन्तु यदि देखा जाये तो इन तीनों में से कूने को श्रेष्ठ माना जाता है। यहां तक की इस प्रणाली का नाम कूने के ही पड़ गया। कूने द्वारा लिखी गयी विभिन्न पुस्तकों में जीम छमू ैबपमदबम व िभ्मंसपदह तथा जीम ेबपमदबम व िथ्िंस मगचतमेेपवद विष्व प्रसिद्ध है। इन पुस्तकों के आज तक लगभग 60–70 एडिसन (आवृतियां) छप चुकी है। इन पुस्तकों का अनुवाद विष्व की अधिकांष भाषाओं में हो चुका है। इनका जन्म स्थान जर्मनी है। इनके पिता जुलाहे थे, जिनकी मृत्यु एलोपैथिक डाक्टरों के हाथों हुई थी। जब ये 19–20 वर्ष के थे तब इन्हें मस्तिष्क तथा फेफड़ों के असाध्य रोग हुए। एलोपैथी द्वारा काफी इलाज कराने के बाद भी जब ये ठीक न हुए तब इन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की शरण ली। जिससे में पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि ये प्राकृतिक चिकित्सा पर पूर्ण विष्वास करने लगे तथा उसके भक्त वन गये। सन् 1883 में इन्होंने अपना एक स्वास्थ्य गृह खोला जिससे इनकी ख्याति चारों दिशाओं में फैलने लगी।

हेनरिच लेमैन (Heinrich Lammaon) :– ये भी पहले ऐलोपैथी पर ही विश्वास करते थे। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा के गुणों से प्रभावित होकर बाद में प्राकृतिक चिकित्सा

के गुणों से प्रभावित होकर बाद में प्राकृतिक चिकित्सक बन गये। इन्होंने मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिये आवश्यक पोषक तत्वों से सम्पन्न प्राकृतिक भोजन के महत्व का अनुसंधान करके आहार–विज्ञान में सबसे बड़ी सहायता की थी।

एडोल्फ (Adalf Just) :– मिट्‌टी के प्रयोग द्वारा समस्त रोगों को दूर करने में सक्षम एडोल्फ जस्ट द्वारा लिखी पुस्तक ष्त्मजनतद जव छंजनतमष (प्रकृति की ओर) विश्व विख्यात है। इन्होंने ही अपनी मालिश स्वयं करने की क्रिया को भी जन्म दिया।

हेनरी लिण्डल्हार (Henry Lindlhar) :– ये प्राकृतिक चिकित्सक बनने से पूर्व एक उच्च ऐलोपैथिक चिकित्सक थे। ये अमेरिका के निवासी थे, और इन चिकित्सकों में से एक थे जो प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों के विरूद्ध जाकर रोग, उपषम, संकट के उपस्थित होने पर प्राकृतिक उपचारों के साथ–साथ उन उत्तेजक दवाओं, विषेषकर होमियोपैथिक औषधियों में दिये जाने के पक्ष में थे। इन्होंने सिद्ध किया कि तीव्र रोग हमारे मित्र है, ये शरीर से विज्ञातीय द्रव्यों के निष्कासन के लिये ही उत्पन्न होते हें तथा निष्कासन बाद स्वतः ठीक हो जाते है। इनके द्वारा लिखी सुप्रसिद्ध पुस्तकें प्दकपंहतवेपे और जैम चैपसवेवचील ंदक चतंबजपबम व िछंजनतंस जैमतंचमदजपव हैं, जिनकी ख्याति विष्व भर में है।

एडवड हूकर डेवी (Edward Hooker Dewey) :– ये उपवास चिकित्सा के बड़े नामी विषेषज्ञ थे। ये लगातार 30 वर्षो तक उपवास चिकित्सा का प्रयोग करते रहे तथा इसके बाद इन्होंने इस चिकित्सा का प्रचार आम लोगों में करना शुरू किया। इन्होंने ही सबसे पहले छव ठतमां च्संद अर्थात स्वास्थ्य की रक्षा हेतु प्रातःकाल कुछ न खाने की सत्यता को प्रमाणित किया।

बेनिडिस्ट लस्ट (Benedict Lust) :– इनका जन्म जर्मनी में सन् 1372 ई0 को हुआ, ये फादर नीप के प्रिय षिष्यों में से एक थे। 1892 में जब ये मात्र 20 वर्ष के थे, उस समय फादर नीप ने इन्हें अमेरिका के जल चिकित्सा का संदेष देने तथा समस्त संसार में जल चिकित्सा का प्रचार और प्रसार कर करने के लिये चुना। अमेरिका में इन्होंने नीप वाटर केयर नामक मासिक पत्र निकाला तथा न्यूयार्क में एक स्कूल तथा कॉलेज की स्थापना की। इसके बाद इनके द्वार एक और पत्र नेचार्न पाथ भी प्रकाषित किया गया। इनके द्वारा स्थापित स्कूल अमेरिकन स्कूल ऑफ नेचुरोपैथी तथा अस्पताल सुप्रसिद्ध यंग वार्न्स अस्पताल के नाम से परिणित हो गया है।

1.6 प्राकृतिक चिकित्सा की प्रगति

प्राकृतिक चिकित्सा ने बहुत कम समय में ही काफी उन्नति कर ली है। आज साधार मनुष्य की इसके गुणों को पहचानने लगे हैं, तथसा अपने रोगों की चिकित्सा के लिये इस प्रणाली को अपनाने लगे हैं। मात्र इंग्लैण्ड में ही जो भारत से काफी छोटे क्षेत्रफल में फैला है, वहां पर भी आज लगभग 3–4 सौ प्राकृतिक चिकित्सक अपनी चिकित्सा द्वारा सफलतापूर्वक रोगों का उपचार कर रहे हैं। इनमें से अधिकतर अमेरिका के प्राकृतिक चिकित्सा की षिक्षा देने वाले कॉलेजों में तथा अन्य कुछ स्काटलैण्ड के सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक थामसन के कॉलेज में षिक्षा पाकर चिकित्सक बूने हैं। इन दोनों ही स्थानों पर 4 वर्ष का प्राकृतिक चिकित्सा का कोर्स कराया जाता है। जिसके बाद ये चिकित्सक बनते हैं, इंग्लैण्ड, जर्मनी, स्विटरलैण्ड आदि लगभग सभी पष्चिमी देषों में प्राकृतिक चिकित्सा का विकास काफी तेजी

से हो रहा है। आज लोग ऐलोपैथी से होने वाले सहप्रभावों को जान चुके हैं और साथ ही ये भी जान चुके हैं कि ये चिकित्सा रोगों की केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही है ये रोग दूर नहीं करती अपितु केवल रोग के लक्षण को ही मिटाती है। जिस कारण रोग जहां का तहां बना रहता है और फिर और उग्र रूप लेकर प्रकट होता है।

इस चिकित्सा की प्रगति का श्रेय उन सभी महान चिकित्सकों को जाता है। जिन्होंने तत्कालीन कलेषों, मान, अपमान को सहन करके सभी कठिनाइयों को झेलते हुए प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार–प्रसार किया। इन प्रचारकों के नाम व संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है। जिनके विषय में पढ़कर आने वाले समय के भावी प्राकृतिक चिकित्सक प्रेरणा ले सकें, और इस चिकित्सा पद्धति की प्रगति में अपना योग दान पूर्ण रूप से दे सकें।

एल्फ्रेड डब्लू मैक्कन :– मैक्कन एक अमेरिकन आहार शास्त्री है, जिन्होंने इसके ऊपर एक पुस्तक जेीम ृबपमदबम वि िंजपदहष लिखी है। जो काफी प्रचलित है।

ऐण्ड्रयू ही स्टिल :– डॉ0 स्टिल को आस्टियोपैथी का जन्मदाता कहा जाता है।

डॉ0 पामर :– डॉ0 पामर बैपतवचतंबजपब (कर चिकित्सा) के संस्थापक है।

हैरी बैन्जामिन :–इनका जन्म लन्दन में सन् 1896 ई0 में हुआ था। इनकी आंखे बाल्काल से ही खराब थी और जैसे–जैसे इनकी उम्र बढ़ती गयी इनकी आंखे और अधिक खराब होती गयी। परन्तु बाद में इन्होंने डॉ0 वेट्स द्वारा लिखी पुस्तक 'चष्मे के बगैर पूर्ण दृष्टि' पढ़ी और द्वारा चिकित्सा करते हुए अपनी आंखे पूर्ण रूप से ठीक कर ली। ये सन् 1929 से हैल्थ फार आल नामक पत्रिका में का कर रहे हैं।

स्टैनली लीफ (Dr. Stanley Lief) :–ये लंदन से 50 किमी0 दूर चंपनी नामक गांव में स्थित एक विषाल प्राकृतिक चिकित्सालय 'Life's Nalure cure Resort' संस्थापक है। इनके द्वारा लिखी दो पुस्तकें Diet Reform Simplified तथा How to Feed Children from Infancy on ward' काफी प्रसिद्ध है। ये आजकल प्राकृतिक चिकित्सा के लिये बहुत कुछ कर रहे हैं। लंदन का प्रसिद्ध ब्रिटिष कॉलेज ऑफ नेचुरोपैथी इनके तत्वावधान में बहुत तेजी से प्रगति कर रहा है।

डमर (Thomas G. Dummer) :– ये डॉ0 लीफ के ब्रिटिष कॉलेज ऑफ नेचुरोपैथी में अनेक प्रोफेसरों में काफी प्रभावषाली है। ये लंदन में अपनी प्राकृतिक चिकित्सा की प्रैक्टिस सुचारू रूप से कर रहे हैं।

बरनर मैकफैडन (ठंतदंतत डंब थ्ंककमद) :– ये आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा के जानकारों में ष्चीलेपबंस ब्नसजनतमष पत्रिका के सम्पादक तथा ठववा वि भ्मंसजी तथा डंबनिककमदे म्दबलबसवचमकपं वित चीलेपबंस बनसजनतम आदि दर्जनों उपयोगी पुस्तकों के प्रणेता हैं। इन्होंने आजीवन समस्त व्यायाम पद्धतियों का स्वयं अनुभव करके थ्ंजीमत वि चीलेपबंस ब्नसजनतम की उपाधि प्राप्त की है।

डेन्स विली (क्ंदे टपससप) :– डेन्सविली न्यूयार्क स्थित सुप्रसिद्ध स्वास्थ्य संस्था जैम्सन सेनीटोरियम के संरक्षक है।

प्रो0 आर्नल्ड एहरेट (।तदवसक मैतमज) :– इनका जन्म जर्मनी में हुआ था परन्तु बाद में अपने कार्य क्षेत्र के रूप में इन्होंने अमेरिका को चुना। इनकी चिकित्सा पद्धति मुख्य रूप से फलाहार व उपवास थे। इनके द्वारा लिखित पुस्तकें त्वजपवदंस थ्ंजपदह तथा डनबनसमे क्पमज भ्मंसपदह ृलेजमउ अधिक प्रसिद्ध है।

जे0एच0 केलांग (श्रण्भ्ण् ज्ञमससवह) :– ये एम.डी.आर.सी.एस.एल.एल.डी. अमेरिका के महान शल्य विषेषज्ञ, मालिष क्रिया, धूप चिकित्सा आदि अनेक विषयों पर लिख चुके हैं, तथा मिचिगैन अमेरिका के विष्व प्रसिद्ध बैटिल क्रीम सेनीटोरियम के डायरेक्टर है। इनके अनेक अविष्कारों में विद्युत ज्योति स्नान ;म्समबजतपब स्पहीज ठंजीद्ध भी सम्मिलित है। जिसका प्रयोग आज विष्व के लगभग सभी बड़े–बड़े अस्पतालों में अच्छी तरह से हो रहा है। बैटल क्रीम सेनीटोरियम अपने आप में एक अनोखा सेनिटोरियम है। जिसमें एक स्थान पर जल चिकित्सा, आहार चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, स्वीडिष मूवमेन्ढ तथा विद्युत चिकित्सा आदि से रोगों का उपचार किया जाता है। द यू डायटेटिम्स नैषनल हाइड्रो थैरेपी तथा होम है। बुक ऑफ हाइजीन एण्ड मेडिसीन इनके द्वारा प्रसिद्ध पुस्तकें है।

जे0एच0 टिल्डेन (श्रण्भ्ण् ज्पसककमद) :– डॉ0 टिल्डेन अमेरिका के एक अग्रणी प्राकृतिक चिकित्सक थे। इनका विचार यह था कि सर्वप्रथम रोग के कारणों को खोजकर उन कारणों को दूर किया जाये। तथा उसके बाद रोगी को यह षिक्षा दी जाये कि वह किसी प्रकार प्राकृतिक जीवन जी कर स्वस्थ रह सकता है। ये एक महान लेखक होने के साथ–साथ एक उत्कृष्ट विचारक भी है। इनके द्वारा लिखी पुस्तकें प्उचमदतमक भ्मंसजी तथा फूड काफी लोकप्रिय है।

श्वेनिगांर ;ैबीमूमदपहमत) :– प्राकृतिक चिकित्सक बनने से पूर्व में एलोपैथी के डाक्टर थे। इनके द्वारा लिखी गयी पुस्तक द डाक्टर के द्वारा इन्होंने ऐलोपैथी चिकित्सा के दुष्प्रमाणों को उजागर करते हुए इस चिकित्सा की कड़ी आलोचना की है।

सर विलियम औसलर ;ैपत ॅपससपंउ व्ेसंत) :– औसला ऐलोपैथी डाक्टर होते हुए भी प्राकृतिक चिकित्सा पर अगाध विष्वास रखते थे, इन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की प्रगति में काफी सहायता पहुंचायी। ये अमेरिका के जान हापकिन्स विष्वविद्यालय तथा इंग्लैण्ड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के चिकित्सा विभाग के अध्यक्ष पद पर भी रह चुके हैं।

रसेल टी0ट्राल (त्नेमस ज्ण् ज्तंसस) :– डॉ0 रसेल भी पहले एक ऐलोपैथीक डाक्टर थे, परन्तु बाद में ये केवल प्राकृतिक चिकित्सक ही नहीं बल्कि एक महान प्राकृतिक चिकित्सक बने, इनके द्वारा लिखी गयी पुस्तकें जो कि प्राकृतिक जीवन व प्राकृतिक चिकित्सा पर आधारित है बड़े आदर्ष व सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है।

डॉ0 लिअनडर विलियमस (स्मवदंतक ॅपससपंउे) :– इन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार में काफी योगदान दिया। इनकी पुस्तक डपदवत डंसंकपमे ंदक जीमपत ज्तमंजउमदज काफी उत्कृष्ट पुस्तक है।

आटो कार्क :– ये जर्मन निवासी थे तथा अपने समय के उत्कृष्ट प्राकृतिक चिकित्सकों में गिने जाते थे, लंदन से प्रकाषित होने वाले तीन प्रमुख पत्रों 'हैल्थ लाइफ' हैल्थ एण्ड लाइफ' हियर्ज हैल्थ का इन्होंने सम्पादन किया।

जे0सी0 थामसन (श्रण्ब्ण् जीवउेवद) :–किंग्सटन क्लीनिक डाक्टर थामसन का एक सुन्दर चिकित्सालय है। जो एडिनबर्ग में स्थित है। इस चिकित्सालय में लगभग 35–40 रोगियों की व्यवस्था है। इसी चिकित्सालय के पास इनका एक कॉलेज भी है। जिसे ब्रिटेन में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रथम और सबसे प्राचीन षिक्षण केन्द्र माना जाता है। इनका समस्त परिवार प्राकृतिक चिकितसा है। इनके द्वारा लिखी पुस्तकें Naturecure from Inside, Influenja, Two Health problems The heart, Appendictis, High and low blood pressure आदि काफी प्रसिद्ध है।

हेन्स माल्टेन (डमकण भ्दे डंसजमद) :– ठंकमद.ठंकमद ;ळमतउंदलद्ध के रहने वाले डॉ0 माल्टेन एलोपैथी व प्राकृतिक चिकित्सक दोनों ही है। ये केवल हृदय रोग व मधुमेह का ही उपचार करते है। एंजाइना पैक्टोरिस इनके द्वारा लिखी एक उपयोगी पुस्तक हैं।

विर्चर बर्नर :– इनका स्विटरजरलैण्ड में एक क्लीनिक है। जो आहार सम्बन्धित अपने अनुसंधानों के लिये विष्व में प्रसिद्ध है। इनके द्वारा उपवास, जलोपचार और भोजन प्राकृतिक चिकितसा से सम्बन्धित कई पुस्तकें लिखी गयी है जो सभी जर्मन भाषा में है। केवल दो पुस्तकें जीम चतमअमदजपवद व`प्दबनतंइसम कपेमेंमे और थ्ववक`बपमदबम वित ंसस का ही अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है।

टी0जे0 (ज्ण्श्रण म्ससपवज) :–में एक अमेरिकन प्राकृतिक चिकित्सक है। लेकिन बाद में इन्होंने ब्रिस्टल (ब्रिटेन) में टावर लेज नामक चिकित्सालय की स्थापना की।

एडविन बैबिट एन0डी0 :–कुछ लोग इन्हें प्राकृतिक चिकित्सा में 'सूर्य किरण' चिकित्सा का जन्म दाता मानते हैं। इनके दो पुस्तकें लिखी गयी है। रंगों के नियम तथा जीम भ्नउंद ब्नसजनतम ंदक ब्नतम काफी प्रसिद्ध है।

मारग्रेट ब्रैडी :– इन्हें जब प्रथम सन्तान हुई तो गर्भावस्था की सभी स्थितियों का इन्होंने गहन अध्ययन व निरीक्षण किया, तथा प्रसव कालीन अवस्थाओं को गंभीरता से जाना। इसी अध्ययन के परिणाम स्वरूप इन्होंने इंग्लैण्ड से प्रकाषित होने वाली पत्रिकाओं, गर्भिणीयों की समस्याओं पर लिखना प्रारम्भ किया। जिनमें 'हैल्थ फार आल' नामक पत्रिका प्रमुख है। ये लगभग 40–50 वर्षो में माताओं और षिषुओं के पालन से सम्बन्धित समस्याओं पर लगभग 15 हजार से अधिक स्त्रियों को परामर्ष दे चुकी है। सन् 1940 जल इन्हें लगा कि माताओं की समस्याओं के हल के लिये प्राकृतिक चिकित्सा के दृष्टिकोण से कोई पुस्तक लिखी जाये तब इन्होंने 'सुख प्रसव' नाम नाम से अपनी पहली रचना प्रकाषित करायी जिसके अब तक 6 संस्करण निकल चुके हैं। बाद में सन् 1948 में इनकी दूसरी कृति 'बाल्यवस्था' का प्रकाषन हुआ जिसमें 3–4 से लेकर 12–14 वर्ष के बच्चों के लालन पालन पर प्रकाष डाला गया है।

मिल्टन पावल :–आप व्यायाम, आसन और आहार शास्त्र उत्कृष्ट ज्ञाता है। इस समय आपकी आयु 100 से अधिक है। आपने पहले विष्व युद्ध में सैनिक अस्पताल में भी नाम किया आप ब्रिटिष नेचर क्योर एसोसियेषन के संस्थापको में भी काम किया आप ब्रिटिष नेचर क्योर एसोसियेषन के संस्थापकों में से एक है। काफी समय तक आप इस संस्था के मंत्री भी रहे थे। स्टैनली लीक, तथा जे0सी0 थामसन के साथ–साथ आप भी इंग्लैण्ड में अपने व्याख्यानों द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार प्रसार कर रहे हैं। आजकल आप एक मासिक पत्रिका का सम्पादकीय लिखते है। तथा एक अन्य मासिक पत्र में पाठक गणों की समस्याओं का समाधान कर रहे हैं।

एलेन माथेल :– ये मिल्टन पावल के शिष्य है। ये इंग्लैण्ड के प्राकृतिक चिकित्सा के सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय लेखक है। ये लगभग 40 वर्षो तक 'हैल्थ फॉर ऑल' नामक पत्रिका में प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति लेख लिखते रहे हैं। इस दिशा में काम करने के लिये लीफ ने इन्हें काफी प्रोत्साहन दिया हैं।

रोलियर ए0 :– इन्होंने सन् 1900 में स्विटजरलैण्ड ने यक्ष्मा में रोगियों के लिये प्रथम धूपशाला खोली जिसके आश्चर्यजनक परिणाम निकले, जिन्हें देखकर सारा विष्व धूप की

रोग नाशक शक्ति का प्रशंसक बन गया। इस विज्ञान पर इन्होंने एक सुप्रसिद्ध पुस्तक भ्मसपव जीमतंचल लिखी हैं।

अषाविर लेट होआनेसियन :– संसार में आहार क्रान्ति का श्रेय इन्हें ही जाता है। स्वयं रोगी होने की दशा में जब इन्होंने किसी भी औषधि से लाभ नहीं पाया तब इन्होंने अपक्वाहार को अपनाया, तथा उसी पूर्ण स्वास्थ्य लाभ लिया। आज समाज में अपक्वाहार लगातार लोकप्रिय होता जा रहा है।

उपरोक्त सभी चिकित्सकों के अलावा भी अन्य कई और नाम ऐसे हैं जिन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की प्रगति के लिये विषेष योगदान दिया है। इन सभी के नाम नीचे दिये जा रहे हैं।

1. प्रो0 एफ0ई0 बिल्ज 2. शेल्टन 3. एडगर जे0 सेक्सन 4. विन्टर नीट्ज 5. हरबर्ट स्पेन्सर 6. पेज 7. ओसवाल्ड 8. हैन 9. टर्न वेटर जॉन 10. एलिन्सन 11. बोन पीजली 12. सेलमन एम0डी0 13. बैल 14. राबर्ट वाल्टर

पूर्व वर्णित सभी प्राकृतिक चिकित्सकों ने अपने गहन अभ्यास व अध्ययन के द्वारा समस्त विष्व में प्राकृतिक चिकित्सा की एक मषाल जलाई है। जिसकी वजह से यह पद्धति आज एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुकी है के प्राकृतिक चिकित्सा ही नहीं अपितु सम्पूर्ण चिकित्सा जगकत इन सभी प्राकृतिक चिकित्सकों एवं प्राकृतिक चिकित्सा के उन्नयकों का ऋणी हैं जिन्होंने मनुष्य को फिर से प्रकृति की ओर मोड़ने का महान कार्य किया है।

1.7 भारत में प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास व प्रगति

प्राकृतिक चिकित्सा रोगो को दूर करने का एक अति प्राचीन विज्ञान और जीने की कला है।यह विज्ञान इतना पुराना है जितना मानव जीवन । प्रकृति के तत्व जिनसे तीवन की उत्पत्ति होती है सदैव यही तत्व रोगो को दूर करने में सहायक रहें है। भारत में प्राचीन काल से ही तीर्थ स्थानो में घुमना नदी तट आश्रमों रहना उपवास आदि करना। पैड पोधो की पूजा करना सूर्य अग्नि की पूजा करना आदि कर्म के अंग माने जाते रहें हैं ।यदि किसी प्राकृतिक नियम के तोडने से कोइ अस्वस्थ्य हो जाता था तो उपवास जडी बुटियों तथा अन्य प्राकृतिक साधनो का प्रयोग करने से वह स्वस्थ्य हो जाता था।

ऋग्वेद में कहा गया है–

आपो इदा उभेषजोरा**यो अभीव वातकी ।**
आपस सर्वस्य भेषज **स्तास्तु कृष्णान्तु भेषज।।**

अर्थात –जल औषधि है । यह सभी रोगो का नास करता है। इसलिए यह तुम्हारा भी रोग दूर करें ।

अर्थववेद में कहा गया है–

अप्सवन्तरय मृतमप्नु।

अर्थात –जल में अमृत है।

वेदकाल के बाद पुराण काल में भी प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग रोगो को दूर करने के लिए किया जाता था एक प्रंसग में बताया गया है कि राजा दिलिप ने दुग्ध कल्प एंव राजा दसरथ ने फल कल्प के माध्यम सन्तान प्राप्ति की थी इस समय उपवास को बेजोड ओषधि माना जाता था। महाबग्ग नामक बौद्व ग्रन्थ में भी भगवान बुद्व के द्वारा मिटटी चिकित्सा का उपयोग करने के संकेत मिलते है। इसी प्रकार सिन्धु घाटी सभ्यता और मोहजोदडो सभ्यता में भी जल चिकित्सा का महत्व था मोहजोदडो सभ्यता में पाए

वृहद और सर्वसुलभ स्नानागार जिसमें गर्म व ठंडे दोनो प्रकार के स्नान का प्रबन्ध था। इससे ज्ञात होता है कि 350 ई0पूर्व भी जल चिकित्सा महत्वपूर्ण स्थान रखती थी ।

भारत में प्राकृतिक चिकित्सा का जिक्र अन्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पद्धति हमारे देष में ही सर्वप्रथम उपयोग में लायी गयी। परन्तु बाद में धीरे–धीरे ये पद्धति हमारे देष में लुप्त प्रायः हो गयी। भारत में पुनः प्राकृतिक चिकितसा का आरम्भ लुई कुने की प्रसिद्ध पुस्तक 'छमू ेबपमदबम व िभ्मंसपदह' के भारतीय भाषा में अनुवाद के साथ हुआ। इस पुस्तक का अनुवाद प्रारम्भ में मुख्य तीन भाषाओं में हुआ जिनमें से श्री डी0वेंकट चेलापति शर्मा में मुख्य तीन भाषाओं में हुआ जिनमें से श्री डी0वेंकट चेलापति शर्मा ने सन् 1894 में तेलगु भाषा में तथा कृष्ण स्वरूप श्रोत्रिय ने हिन्दी तथा उर्दु में सन् 1904 में किया। कुने की इस पुस्तक को पढ़कर काफी लोग इसमें रूचि लेने लगे। भारतीय पृष्ठ भूमि ऐसी थी, जिसमें पले बढ़े लोगों के लिये कुने की चिकित्सा विधियों को समझना व अपनाना अधिक सरल था। इसलिये बहुत ही जल्दी यह पद्धति लोकप्रिय होने लगी तथा बहुत कम समय में ही अनेक जीर्ण रोगों से पीड़ित व्यक्ति इससे लाभ लेने लगे।

वर्तमान शताब्दी में प्राकृतिक चिकित्सा को नया जीवन देने का श्रेय राष्टपिता महात्मां गांधी को जाता है। उन्हे भारत का प्रथम प्राकृतिक चिकित्सक कहा जाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी इस चिकित्सा पद्धति के अनुयायी थे। एडोल्फ जुस्ट की पुस्तक त्मजनतद जव छंजनतम पढ़कर वे काफी प्रभावित हुए जिसके फलस्वरूप उन्होंने इस पद्धति का गहन अध्ययन किया तथा सर्वप्रथम अपने ऊपर और फिर अपने परिवारजनों व अपने आश्रम के लोगों पर प्रयोग किया। इस प्रयोग से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल कि भारतीयों के स्वास्थ्य संवर्धन के लिये यह एक निष्कर्ष निकाला कि भारतीयों के स्वास्थ्य संवर्धन के लिये एक सर्वाधिक उपयुक्त पद्धति है। इनके द्वारा साप्ताहिक पत्रिका हरिजन व नवजीवन में प्राकृतिक चिकित्सा के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे। वे चाहते थे कि इस पद्धति का प्रचार जन–जन तक हो इसके लिये इन्होंने अपने कार्यक्रमों में प्राकृतिक चिकित्सा को भी शामिल किया। इसी कड़ी में उन्होंने असली कांचन में एक प्राकृतिक चिकित्सालय की भी स्थापना की जो अभी भी अपनी सेवाएं दे रहा है। उन्होंने ही प्राकृतिक चिकित्सा में राम नाम को जोड़ा इसमें अपने धर्म व आस्था के अनुसार प्रार्थना है। इनके ही कारण कई लोग इस पद्धति से जुड़े और इसके प्रचार प्रसार में अपना जीवन लगा दिया इन सभी लोगों का संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है।

कृष्ण स्वरूप क्षेत्रिय :– ये उत्तर प्रदेश स्थित बिजनौर के निवासी थे। इन्होंने ही लुई कूने की प्रसिद्ध पुस्तक न्यू सांइस ऑफ हीलिंग का हिन्दी व उर्दु भाषा में अनुवाद किया। इनकी इन पुस्तकों के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ये अपने समय में प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक थे।

विनोवा भावे :– महात्मा गांधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोवा भावे प्राकृतिक चिकित्सा जीवन और उसके षिक्षण के लिये पूर्ण रूप से समर्पित रहे। उन्होंने अपने गीता प्रवचन तथा राम नाम एक चिन्तन में प्राकृतिक जीवन के मूल आदर्शों का बड़े अच्छे ढंग से विवेचन किया है। उनके द्वारा लिखी पुस्तक गांवों की स्वास्थ्य योजना स्वास्थ्य की दृष्टि से एक मार्गदर्शिका है।

मोराजी भाई देसाई :— इन्होंने भारत के प्रधानमंत्री के पद पर रहते हुए भी प्राकृतिक चिकित्सा में अपना अमूल्य योगदान दिया। ये अखिल भारतीय प्राकृतिक चिकित्सा परिषद के शीर्षस्थ नेताओं में से एक रहे हैं।

डॉ0 लक्ष्मी नारायण चौधरी :— ये राजस्थान स्थित नीम का थाना के रहने वाले थे। ये एक सिविल सर्जन थे, परन्तु ऐलोपैथी के दुष्प्रभावों को देखकर प्राकृतिक चिकित्सा की ओर मुड़े तथा आखिरी श्वास तक सैकड़ों रोगियों को प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा रोगों से मुक्ति दिलाई।

जानकी शरण वर्मा :— इनके द्वारा लिखी दो पुस्तकें रोगों की अचूक चिकित्सा और अचूक चिकित्सा के प्रयोग इस पद्धति की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है। वे एक सफल चिकित्सक भी थे, परन्तु उनका नाम इन दो पुस्तकों की वजह से प्राकृतिक चिकित्सा में सदा अमर रहेगा।

डॉ0 कुलरंजन मुखर्जी :— ये बंगाल के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक हुए है। इन्होंने अनेक लोकप्रिय प्राकृतिक चिकित्सा के ग्रन्थों का बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में लेखन व प्रकाषन किया।

डॉ0 लक्ष्मण शर्मा :— तमिलनाडु में जन्मे लक्ष्मण शर्मा भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के पितामह कहे जाते है। इन्होंने उच्च षिक्षा ग्रहण करने के बाद अपना सारा जीवन प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार प्रसार में लगा दियां आज इनके अनेक शिष्य विष्व भर में प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार में लगे हुए हैं।

डॉ0 बालेश्वर प्रसाद :—इन्होंने महात्मा गांधी से प्रेरणा लेकर जीवन पर्यन्त समर्पित भाव से प्राकृतिक चिकित्सा की सेवा की तथा भारत में अनेक स्थानों पर शिविर लगाकर कई लोगों को रोग मुक्त किया। इनके द्वारा जीवन संख्या मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया गया।

डॉ0 वेगिराज कृष्णम राजू :— ये भारत के प्राकृतिक चिकित्सकों में काफी उत्कृष्ट चिकित्सक माने जाते हैं। इन्होंने दक्षिण भारत स्थित भीमावरम नामक स्थान में एक विषाल प्राकृतिक चिकित्सालय की स्थापना की तथा एक आदर्ष प्राकृति चिकित्सा षिक्षण संस्था का भी संचालन किया साथ ही इन्होंने दक्षिण भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना भी की।

डॉ0 खुशीराम दिलकश :—ये आरोग्य निकेतन (लखनऊ) के संस्थापक व संरक्षण थे। साथ ही इन्होंने वार्षिक पत्र प्राकृतिक जीवन का सम्पादन भी करते रहे। ये काफी समय तक केन्द्रीय योग एक प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद के सदस्य भी रहे।

डॉ0 महावीर प्रसाद पोद्दार :— प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र के वरिष्ठ चिकित्सक **डॉ0 महावीर प्रसाद पोद्दार** महात्मां गांधी की प्रेरणा से प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में आए । ये आरोग्य मन्दिर गोरखपुर के संस्थापकों में से एक है। इन्होंने अपने अन्तिम समय तक जेसीडीह के प्राकृतिक चिकित्सालय में हजारें रोगियों का उपचार कर उन्हें एक नया जीवन दिया जो कि अपने जीर्ण रोगों का उपचार करते—करते निराश हो चुके थे।

डॉ0 गंगा प्रसाद गौड़ :—गंगा प्रसाद गौड जी ने अनेको स्वास्थ्य सत्बन्धी पुस्तको व पत्र पत्रिकाओं का लेखन एंव सत्पादन कार्य किया । आप 1969 से 1975 तक कलकत्ता प्रकृति निकेतन डायमंड हार्बर रोड के प्रधान चिकित्सक के पद पर रहे हैं।

डॉ0 शरण प्रसाद :— ये अनेक वर्षो तक प्राकृतिक चिकित्सा विद्यापीठ कलकत्ता के प्रधान चिकित्सक रहे हैं। तथा इसके बाद काफी समय तक निसर्गोपचार केन्द्र असली

कांचन के मुख्य चिकित्सक रहे। तथा गुजरात में प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के अनरेटी निदेशक के पद परे भी रहे हैं।

वाल्कोवा भावे :–आप विनोवा भावे के छोटे भाई थे जिन्होंने कई वर्षो तक उरली कंचन में प्राकृतिक चिकित्सा प्रदान की। आप भारतीय प्राकृतिक चिकित्सा परिषद के अध्यक्ष भी रहे।

डॉ0 विट्लदास मोदी :– आप आरोग्य मंदिर गोरखपुर (उत्तर प्रदेष) के संस्थापक व संचालन है। तथा प्रसिद्ध (आरोग्य) मासिक पत्रिका के वरिष्ठ सम्पादक है।

डॉ0 बी0टी0 चिदानंद मूर्ति :– आप राष्ट्रीय प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान पुणे में निदेशक के पद पर कार्यरत है।इस पद पर आप प्रथम प्राकृतिक चिकित्सक है। इन्होने कई मुख्य संस्थाओ में मुख्य चिकित्सक के रूप में कार्य किया है।

डॉ0 सत्यपाल ग्रोवर :– आप प्राकृतिक चिकित्सा परिषद एवं भारती योग संस्थान के संस्थापक सदस्य है। आपके द्वारा लिखी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है।

श्री जय प्रकाश – जय प्रकाश जी सूर्या फाउण्डेशन के चेयरमैन है ये बहुत बडे उधोगपति होने के कारण इतना व्यस्त रहते थे कि स्वास्थ्य पर ध्यान नही दे सके जिसके कारण इनका शरीर जर्जर हो गया था । प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से ही इन्होने नया जीवन पाया । और सफल प्रयोगो से प्रेरित होकर प्राकृतिक चिकित्सा के अनन्य भक्त बन गए ।

डां0 ओंकर नाथ– डां0 ओंकर नाथ ने प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार प्रसार तें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है इन्होने कई पुस्तको के माध्यम से समाज में प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति जाग्रति पैदा की है।

उपरोक्त सभी प्राकृतिक चिकित्सकों के अलावा अन्य कई नाम और है जिन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की प्रगति में अहम योगदान दिया है अथवा दे रहे हैं। इन सभी के नाम नीचे दिये जा रहे हैं।

1. महात्मा जगदीश्वरा नंद जी 2. डॉ0 मन्नारायण 3. डॉ0 एस0जे0 सिंह 4. डॉ0 हीरालाल 5. डॉ0 वी0 वेंकटराव 6. विजय लक्ष्मी 7. डॉ0 जे0एम0 जुस्सावाला 8. डॉ0 गौरी शंकर मिश्रा 9. डॉ0 एस0 स्वामी नाथन 10. सेठ धर्मचन्द सरावगी 11. डॉ0 जगदीष चन्द्र 'जौहर' 12. डॉ0 सुखबीर सिंह रावत 13. स्वामी साधना नंद जी 14. डॉ0 एम0 एल0 राठौर 15. डॉ0 भोजराज छाबड़िया 16. डॉ0 युगल किशोर चौधरी 17. डॉ0 रविन्द्र चौधरी 18. डॉ0 इन्द्र प्रसाद गुप्त 19. डॉ0 देवेन्द्र स्वरूप शर्मा 20. डॉ0 एन0एस0 अधिकारी 21. डॉ0 श्याम नारायण पाण्डेय 22. डॉ0 योगेन्द्र नाथ मिश्रा 23. वैद्य महावीर प्रसाद शर्मा 24. वैद्य महेन्द्र कुमार गुप्त 25. श्री जय प्रकाश 26. डॉ0 उषा जिन्दल 27. डॉ0 ओंकार नाथ

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न –1. कौन ऐलोपेथी डॉ0 थे जो बाद में प्राकृतिक चिकित्सक बनें ।

क. लूई कूने   ख. विनसेंज प्रिस्निज

ग. जेम्स क्यूरी   घ. वनोवा भावे

प्रश्न –2. **आधुनिक चिकित्सा का जनक कहा जाता है।**

क. विनसेंज प्रिस्निज   ख. लूई कूने

ग. फादर नीफ   घ. जेम्स क्यूरी

प्रश्न –3. संसार में आहार क्रान्ति का श्रेय जाता है।

क. जेम्स क्यूरी   ख. अशविर लेट होआनेसियन

ग. शेल्टन   घ. ऐलेन माथेल

प्रश्न –4. महात्मा गाँधी किस किताब से प्रभावित हुए।

क. हाइडोथेरेपी ख. रिर्टन टू नेचर

ग. मडथेरेपी घ. न्यू सांइस आंफ हींलीग

1.8 सारांश :–

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक चिकित्सा कितनी प्राचीन है और किस प्रकार इस पद्धति ने प्रगति की है वैदिक काल से आधुनिक काल तक के सफर को तय कर आज प्राकृतिक चिकित्सा विकसित हो रही है और लगातार विकास को प्राप्त हो रही है। वर्तमान समय में प्राकृति चिकित्सा की उपयोगिता दिनो दिन बढ़ रही है। अधिक से अधिक लोग कुप्रभावहीन पद्धति को अपनाकर स्वास्थ्य लाभ कर रहे है।

1.10 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1–ग 2–क 3–ख 4– ख

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

सरल प्राकृतिक चिकित्सा –डां ओ पी सक्सेना

प्राकृतिक आर्युविज्ञान–डां राकेश जिन्दल

1.12निबन्धात्मक प्रश्न :–

1.प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा का वर्णन करें।

2.प्राकृतिक चिकित्सा का उद्‌भव एवं विकास को समझाइये।

3.भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के विकास के क्रम को समझाइये।

इकाई–2 प्राकृतिक चिकित्सा के मूल सिद्धान्त

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 प्राकृतिक चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्त
2.3.1 सभी रोग एक, कारण एक, उनकी चिकित्सा की एक।
2.3.2 रोग का कारण कीटाणु नहीं।
2.3.3 तीव्र रोग शत्रु नहीं मित्र होते है।
2.3.4 प्रकृति स्वयं चिकित्सक है।
2.3.5 चिकित्सा रोग की नहीं अपितु रोगी के पूरे शरीर की होती है।
2.3.6 प्राकृतिक चिकित्सा में रोग निदान की विषेश आवष्यकता नहीं है।
2.3.7 जीर्ण रोगों के ठीक होने में समय लगता है।
2.3.8 प्राकृतिक चिकित्सा में दबे रोग उभरते हैं।
2.3.9 मन, शरीर तथा आत्मा तीनों की चिकित्सा एक साथ।
2.3.10 प्राकृतिक चिकित्सा में उत्तेजक औषधियों के दिये जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है।
2 .4 सारांश
2. 5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2. 6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
2. 7 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्राकृतिक चिकित्सा वास्तव में तत्व चिकित्सा है। जिसका अर्थ है। महत् तत्व, आकाष तत्व, वायु तत्व, अग्नि तत्व, जल तत्व व पृथ्वी तत्व द्वारा तीन प्रकार के तापों (आधिदेविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक) की चिकित्सा होती है। इस चिकित्सा के अन्य कई नाम भी प्रचलित है। नैसर्गिक चिकित्सा, प्राकृतिक चिकित्सा, प्रकृति चिकित्सा, प्रकतोपचार,स्वाभाविक चिकित्सा आदि।

उपरोक्त कोई भी नाम इसके लिये उपयुक्त नहीं लगता। क्योंकि वास्तव में देखा जाये तो यह चिकित्सा न होकर जीवन विज्ञान या जीवन जीने की कला है। यदि हम इसके अनुसार जीवन यापन करते हैं तो शरीर के रोगी होने की कोई संभावना शेष नहीं रहती और यदि रोग हो भी जाये तो प्राकृतिक जीवन अपनाकर रोग से मुक्ति पायी जा सकती है। इसी कारण इसे चिकित्सा का नाम दे दिया गया है। हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि आखिर हम रोगी क्यों होते हैं यदि इस तथ्य पर गौर किया जाय तो हम जान

पायेंगे कि हमारे रोगी होने का कारण है। प्रकृति के नियमों व सिद्धान्तों का उल्लघंन और यदि हम फिर से अपनी भूल सुधारते हुए उन नियमों का पालन करने लगे तो फिर से अपनी पूर्वावस्था में आकार सुख भोगते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा हमें ऐसे नियमों का ज्ञान कराती है जिस ज्ञान को अन्य कोई चिकित्सा पद्धति नहीं कराती। यह हमें बताती है किस प्रकार आशा या निराशा की अवस्था मन को स्थिर रखा जाये। इसके द्वारा रोग से मुक्ति तो एक अत्यन्त साधारण सी बात है। रोग मुक्ति के लिये तो इसका प्रयोग पशु भी करते है। वे जैसे ही बिमार पड़ते हैं सबसे पहले भोजन को त्यागकर उपवास द्वारा अपनी चिकित्सा स्वयं शुरू कर देते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में हमें सीधे ईश्वर और उसकी कृपा पर विश्वास करना होता है। इसके लिये किसी वैद्य या डाक्टर की आवष्यकता नहीं होती। यह हमारे शरीर के मन व आत्मा को भी निर्मल करती है।

2.2 उद्देश्य

- प्राकृतिक चिकित्सा के आधाभूत सिद्धान्तों के बारे में अध्ययन करेगें।
- प्रत्येक सिद्धान्तों को सरल व उदाहरणों के माध्यम से समझाया जायेगा।
- प्राकृतिक चिकित्सा में आधाभूत सिद्धान्तों की आवश्यकता के बारे में जानेगे।

2.3 प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सा के अनेक सिद्धान्त है। परन्तु उनमें से 10 मुख्य है। जिनका वर्ण आगे किया जा रहाहै। इनमें पहला सिद्धांत है।

2.3.1 सभी रोग एक हैं, उनके कारण एक हैं, उनकी चिकित्सा भी एक है :–रविन्द्रनाथ ने एक स्थान पर लिखा है कि भारत देश की सदैव एक कोशिश रहती है कि वह अनेकता में एकता की स्थापना करना चाहता है वह विश्व में अनेक मार्गो को मोड़कर एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर करना चाहता है। वह अनेकों में से किसी एक को संषय रहित रूप से उपलब्ध कराना चाहता है। उसका उद्देश्य यह है कि जो बाहरी विभिन्नता दिखायी देती है। उस भिन्नता को दूर करके उसके भीतर जो गूढ़ संयोग होता है। उसे प्राप्त करना चाहिये।

रविन्द्रनाथ का उपर्युक्त कथन सत्य है, इसका कारण यह है कि हमारे शास्त्रों में आया है कि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मं' अर्थात ब्रह्म एक ही है दूसरा नहीं है। सभी दर्षनों में इस अद्वैत सिद्धान्त का एक विषेश स्थान है।

प्राकृतिक चिकित्सा भी एक दर्शन ही है। तथा इस दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है। सभी रोग एक कारण एक, चिकित्सा एक जिस प्रकार एक सत्य वस्तु विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। जिस प्रकार एक स्वर्ण विभिन्न नामों व रूपों में प्रदर्शित होता है। उसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि मानव के शरीर में स्थित एक ही कारण विज्ञातीय द्रव्य अनेक रोगों के रूप में विभिन्न नामों से प्रकट होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार मानव का शरीर एक और अभिन्न होता है। समूचा मनुष्य एक और अभिन्न है। सारा विष्व एक और अभिन्न है। सारा ब्रह्माण्ड एक और अभिन्न है। सारे ब्राह्मण्ड को एक नियम व एक सूत्र में बांधने वाली सत्ता भी एक ही है। और यही 'सर्वखाल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है। एकता का यही दार्षनिक सिद्धान्त प्राकृतिक चिकित्सा का भी प्रमुख सिद्धान्त है।

यदि हम मनुष्य में होने वाले सभी रोगों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें और उन पर विचार करें तो हमें उन सभी रोगों में एक रूपता दिखायी देगी। सभी रोग अनेक होते हुए भी वास्तव में एक ही है। केवल उनके रूप और प्रकार में ही भिन्नता दिखायी देती है। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से और अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। माना एक घर में चार लोग रहते है। जो पूर्ण रूप से अप्राकृतिक जीवन यापन करते हैं। उत्तेजक व मादक पदार्थो का सेवन करते हैं। अधिक मात्रा में ढूंस–ढूंस कर अनाप–शनाप चीजें खाते है। व्यायाम नहीं करते, प्रकृति के वरदान स्वरूप, सूर्य प्रकाश, शुद्ध वायु, निर्मल जल आदि उचित सेवन नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है। कि उनका रक्त विषाक्त हो जाता है। शरीर दूषित द्रव्यों जिन्हें हम चिकित्सा की भाषा में विजातीय द्रव्य कहते हैं से भर जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि आज नहीं तो कल उन लोगों की रोगी होना ही पड़ता है। ताकि उन रोगों के माध्यम से शरीर अपने भीतर स्थित विजातीय द्रव्यों को बाहर निकाल सके तथा शरीर पुनः स्वस्थ हो सके।

परिस्थिति उनकी आयु व शारीरिक प्रकृति आदि के अनुसार उन चारों प्राणियों में से प्रत्येक में एक ही रोग नहीं हो सकता। बल्कि सभी के शरीर में अलग–अलग रोग उत्पन्न होते हैं। किसी को दस्त आना शुरू हो सकते है। किसी को ज्वर हो सकता है। किसी को गठिया और किसी को बवासीर हो सकता है। देखने पर ये सभी रोग एक दूसरे से भिन्न लगते है। परन्तु वास्तव में एक ही है क्योंकि सभी का कारण एक ही अर्थात विजातीय द्रव्यों का शरीर में जमा होना है।

अब प्रकृति के मल बहिष्करण की क्रिया जो कि मनुष्य के रोगी होने की दशा में होती है में रोगी और उसके चिकित्सक का क्या कार्य है। उनका कार्य मल बहिष्करण में प्रकृति को सहयोग करना चाहिये अर्थात उपवास, युक्ताहार, जलोपचार, जीवनी शक्ति को बढ़ाना तथा मल विसर्जन के सभी मार्गो को खोलकर इस कल्याणकारी प्रक्रिया को आसान बनाना होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के सभी रोग वास्तव में एक ही है। तथा उनके कारण निदान व चिकित्सा भी एक ही है। अधिकांश ऐसा देखा जाता है कि कोई रोगी अपने किसी एक रोग विषेश के उपचार के लिये प्राकृतिक चिकित्सक के पास आता है। परन्तु जब वह चिकित्सा करवा रहा होता है तब उसे पता चलता है। कि और कई अन्य रोग सामने आ गये हैं जो पहले दिखायी नहीं दे रहे थे और अन्त में वह पूर्णतः स्वस्थ होकर जाता है क्योंकि यह सिर्फ रोग की चिकित्सा नहीं करती बल्कि पूरे शरीर की चिकित्सा करती है। एक ही प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा सभी रोग समाप्त हो जाता है।

2.3.2 रोग के कारण कीटाणु नहीं :– प्रथम सिद्धान्त के विवेचन से स्पष्ट है कि रोगों का कारण अन्य कुछ नहीं बल्कि शरीरस्थ विजातीय द्रव्य ही है। कीटाणु के रोग का कारण मानना सर्वथा अनुचित है। परन्तु ऐलापैथी में कीटाणु को रोग का कारण माना जाता है।

वास्तव में हकीकत तो यह है कि संसार में उपस्थित सभी प्रकार के कीटाणु हमारे शरीर में रह ही नहीं सकते। उनके विकसित होकर रोग उत्पन्न होने की तो बात ही दूर है। क्योंकि हमारा शरीर कीटाणु के रहने के लायक ही नहीं है। किटाणुओं को विकसित होने के लिये जिस माध्यम की आवष्यकता होती है ऐसा माध्यम स्वस्थ शरीर में होता ही नहीं, और जब माध्यम ही नहीं होगा तो वे पनपेगें कैसे।

हम अपने गलत आहार–विहार से अपने पेट को कूड़ादान समझकर अनाप–शनाप खाते पीते हैं। जिससे शरीर में विजातीय द्रव्यों का स्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और उसी विजातीय द्रव्य में किटाणु पनपते है।

प्रकृति का एक नियम यह कि सृष्टि में जितने भी पदार्थ मौजूद है। उन सभी के सूक्ष्म परमाणु लगातार वातावरण में गतिषील रहते है। जिस अणु परमाणुओं की गति एक समान होती है। उनमें परस्पर आकर्षण होता है। तथा जिसकी गति विपरीत होती है। वे एक दूसरे से दूर भागते है। यदि हम सिद्धान्त के अनुसार देखे तो पायेंगे की रोग के कीटाणुओं का अस्तित्व उन्हीं शरीरों में होता है। जिन शरीरों में पहले से ही रोग के कारण विजातीय द्रव्य उपस्थित रहते है। अर्थात जहां पर गन्दगी होगी कीटाणु वहीं पनपेगें और विकसित होगें।

इसके विपरीत जिन शरीरों में कीटाणुओं के विपरीत पोषक तत्व विद्यमान होगें, अर्थात जो विजातीय द्रव्यों से सर्वथा मुक्त होगें तथा वास्तव में सही मायनों में स्वस्थ होगें उन सभी में उपरोक्त नियमानुसार कीटाणुओं का आक्रमण होना असंभव है और अगर यह मान भी लिया जाये कि स्वस्थ शरीर में भी रोगों के कीटाणुओं का आक्रमण होता है। तो भी स्वस्थ शरीर की निरोधक शक्ति द्वारा कीटाणुओं का विषाक्त प्रभाव स्वतः ही समाप्त हो जायेगा। क्योंकि कीटाणुओं को विकसित होने के लिये उसका आहार एवं भूमि प्राप्त ही नहीं होती है जिससे वे ऐसे शरीर में नहीं रह सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोग का कारण कीटाणु नहीं है। बल्कि रोग ही कीटाणुओं को आकर्षित करने का कारण होते है।

2.3.3 तीव्र रोग शत्रु नहीं मित्र होते है : एक सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक ने कहा है कि तुम मुझे ज्वर दो और मैं तुम्हें स्वास्थ्य दूंगा कहने का तात्पर्य है कि मलों से भरा शरीर, मल रहित बनाने के लिये ज्वर, अतिसार, जुकाम आदि तीव्र रोग ही सच्चे उपाय है। हमारे शरीर में मिथ्या आहार–विहार के कारण सदैव विजातीय द्रव्य बनते रहते है। जो साधारण मलों के साथ ही शरीर से बाहर निकल जाते है। किन्तु जब इस प्रक्रिया में बाधा आती है या शरीर इन अतिदूषित पदार्थो को सामान्य मलों के साथ शरीर से बाहर निकालने में असमर्थ हो जाता है। तब शरीर तीव्र रोगों के माध्यम से उन विषों को शरीर बाहर निकालने का प्रयास करता है। तीव्र रोगों को मित्र कहने पीछे यही तर्क है कि वे हमारे शरीर को शुद्ध व निर्मल बनाने के लिये ही उत्पन्न होते है।

उदाहरण स्वरूप मान लिजिये की प्रकृति को हमारे पेट जनित मलों को निकालना है तो इस कार्य को उल्टी या दस्त को उत्पन्न करके कर सकती है।

हम जिन्हें तीव्र रोगों के नाम से जानते हैं वास्तव में वह रोग नहीं बल्कि रोग की चिकित्सा है रोगी होने की दशा में हमें अपने द्वारा की गयी गलतियों को देखना चाहिये और मन में भावना होनी चाहिये कि हमने जो भी गल्तियां की थी उनका प्रायष्वित हमें रोगी होकर करना पड़ रहा है जो कि हमारे भले के लिये ही है। यदि ये विकार शरीर में रह जाते और हमारे द्वारा गल्तियां की यूं ही जारी रहती तो उनका परिणाम कितना भयंकर हो सकता था। अतः कहने का तात्पर्य है कि हमें तीव्र रोग से डरना नहीं हैं बल्कि उसका स्वागत करना चाहिये।

अन्य चिकित्सा पद्धतियों की तरह प्राकृतिक चिकित्सा में रोग को शत्रु समझकर उससे लड़ा नहीं जाता। क्योंकि रोग स्वयं में कुछ नहीं होते जिनसे लड़ा जाये। स्वास्थ्य के अभाव को ही रोग कह दिया जाता है। स्वास्थ्य निर्माण की कोशिश करने पर रोग स्वयं ही समाप्त हो जाता है।

उपरोक्त सभी कथन सत्य है, परन्तु फिर प्रष्न उठता है कि रोग होने पर लोग मर क्यों जाते हैं इसका समाधान यह है कि रोगी में जीवनी शक्ति बहुत कम बची होती है या विजातीय द्रव्य पूरे शरीर में अत्यधिक मात्रा में जमा हो जाते है। जो कि रोग को दवाओं द्वारा बार–बार दबाने के कारण होता है। या फिर रोग का उपचार अपर्याप्त या गलत हुआ है। इन परिस्थितियों में प्रकृति अपना सफाई का कार्य करने में असफल हो जाती है। जिस कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है। जो सुख थक कर सोने में मिलता है भूख लगने पर भोजन करने से जो आनन्द मिलता है। विपत्ति आने पर राम नाम और धैर्य से जो शांति प्राप्त होती है वहीं सुख और शांति रोग से मुक्ति मिलने के बाद हो मिली है। मन मष्तिष्क से एक भारी बोझ उतर गया है। यदि यह अनुभूति नहीं होती तो यह समझा जाना चाहिये कि प्रकृति तीव्र रोग द्वारा शरीर का जो उपकार करना चाहती थी उसमें विघ्न पड़ गया है।

2 3 4. प्रकृति स्वयं चिकित्सक है :– प्राकृतिक चिकित्सा की मान्यता है कि हमारे जीवन का संचालन एक विचित्र व सर्वशक्तिमान शक्ति द्वारा होता है। जो प्रत्येक जीवन के साथ रहकर उसके जन्म–मरण, रोग स्वास्थ्य आदि सभी चीजों को देखती है। वह शक्ति विजातीय द्रव्यों की अधिकता होने पर जब शरीरों में रोग उत्पन्न की आवष्यकता समझती है। तब रोग उत्पन्न करती है और पुनः वही शक्ति उस रोग से मुक्त करके आरोग्य भी प्रदान करती है। चिकित्सा वह शक्ति है जो हमारे शरीर में भीतर वास करती है। वही हमारे स्वास्थ्य को बनाये रखती है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत गीता में कहा है कि

''अहं वैष्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः''।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।15/14 गीता

अर्थात् मैं ही प्राणियों की देह में वेष्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान समीकरण और बहिष्करण इन दोनों प्राण धाकर क्रियाओं से मुक्त हुआ चार प्रकार के अन्न भक्ष्म (खूब चबाकर खाने वाले) भोज्य (सामान्य रूप से चबाकर खाने वाले) लेहय (बिना चबाय ग्रहण करने वाले) चोष्य (पीनी वाले) को पचाता हूं। अतः शरीरस्थ सभी क्रियायें उसी एक अन्तर्भूत शक्ति की उपस्थिति के कारण होती है। वह शक्ति न की मानसिक विकारों को नष्ट करती है बल्कि शारीरिक विकारों को भी दूर करने वाली है।

जब हम इस विषय पर चिन्तन करते हैं कि किस प्रकार प्रकृति ने मानव के शरीर का निर्माण किया है। तो हम आश्यर्चचकित हुए बिना नहीं रह सकते। ह्रदय, मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान चाहे जो भी अंग हो उसके निर्माण और आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये व्यवस्था करने में जो महान कौशल दिखाया उसे देख चकित हुए बिना रह सकते। ईश्वर ने इस छोटे शरीर के भीतर ही उसके साज संभार के लिये सारी आवश्यक वस्तुएं निर्मित कर रखी है और इन्हीं वस्तुओं के माध्यम से शरीर के रोगी होने की दशा में जीवनी शक्ति इन्हीं वस्तुओं के संयोग से रोगों का शमन करती है। तथा जन्म लेने से लेकर मृत्यु पर्यन्त यही शक्ति शरीर के निर्माण और सुधार का काम करती रहती है।

यह बात बिल्कुल तर्कहीन है कि हमें जन्म देने वाला परमात्मा, हमें पैदा करके सभी प्रकार के भोग उपलब्ध करवाये परन्तु रोगी होने पर उससे मुक्ति पाने की शक्ति न प्रदान करें।

परन्तु सत्य यह है कि प्रत्येक प्राणि इस संसार में ऐसी शक्ति के साथ ही जन्म लेता है जिसकी सहायता से वह अपने स्वास्थ्य की स्वयं रक्षा कर सके।

प्रकृति स्वयं चिकित्सक है इसे सिद्ध करने के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत है। जब पानी पीते समय पानी हवा की नली में प्रवेश कर जाता है तब कौन खांसी को उत्पन्न करके उसे ठीक करता है। जब तम्बाकू व अन्य जहरीली चीज पेट में चली जाती है तो कौन उसे वमन के माध्यम से बाहर निकालता है। घाव होने पर बिना चिकित्सक के भी वह भर कैसे जाता है हड्डी के टूट जाने पर कौन आकर उसे जोड़ता है। डाक्टर तो सिर्फ उसे सीधा करके बांध देता है। परन्तु जुड़ती वह स्वयं हैं।

हमें इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि रोग स्वयं ठीक होते हैं। कोई बाहरी वस्तु उन्हें ठीक नहीं करती जो चीजें शरीर में मौजूद हैं वही चीजें बाहर से भी सहायक होती है। अन्य चीजें तो हम व्यर्थ ही ग्रहण करते है। यदि हम दवाओं के प्रयोग के विषय में सोचें तो पायेंगे की वह तो केवल रोग को बढ़ने से रोक रही है। उसे ठीक नहीं कर रही ठीक प्रकृति करती है। प्रकृति का कार्य अपने आप में आयें विकार को स्वयं दूर करता है। इसके लिये उसे अन्य की आवष्यकता नहीं है। हम या चिकित्सक तो मात्र उसके सहयोगी है जो इस कार्य में प्रकृति का सहयोग करते हैं। अतः सिद्ध है कि प्रकृति ही वास्तविक चिकित्सक है।

2.3.5 चिकित्सा रोग की नहीं अपितु रोगी के पूरे शरीर की होती है :— प्राकृतिक चिकित्सा कभी भी किसी रोग विषेष की चिकित्सा नहीं करती बल्कि वह सम्पूर्ण शरीर के कल्याण के लिये प्रतिबद्ध होती है। जबकि अन्य पद्धतियां रोगों की चिकित्सा पर ही केन्द्रित रहती है। तथा मुख्यतः लाक्षणिक चिकित्सा करती है।प्राकृतिक चिकित्सा अपनाने से समस्त शरीर की चिकित्सा होने पर रोग के चिन्ह स्वयं समाप्त हो जाते है। जिन्हें अन्य पद्धतियां रोग लाभ से जानती है। प्राकृतिक चिकित्सा उन्हें रोगों का चिन्ह मात्र मानती है। क्योंकि जो वास्तविक रोग है वह तो शरीर में अनावश्यक रूप से जमा हुआ विजातीय द्रव्य या विष है। जो समय पाकर किसी विषेष प्रक्रिया (रोग) द्वारा शरीर से बाहर निकलने का प्रयास करता है। अतः चिकित्सा रोग के चिन्ह की न होकर उस कारण की होनी चाहिये जिसका वह चिन्ह है या साधारण शब्दों में कहे तो चिकित्सा रोग की नहीं अपितु पूरे शरीर की होनी चाहिये। इसका एक कारण यह भी हे कि विजातीय द्रव्य हमारे पूरे शरीर में विद्यमान रहते है। जहां उसकी अधिकता होती है। उस अंग विषेश से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होता है। हम उस अंग विषेश का उपचार करके वहां से विजातीय द्रव्य को निकाल भी दें तो फिर वह अन्य स्थानों पर भी एकत्र होकर रोग को उत्पन्न कर सकता है। क्योंकि हमनें एक विषेश स्थान से उसे निकाला है पूरे शरीर से नहीं।

प्राकृतिक चिकित्सा से सभी रोगो को दूर किया जा सकता है परन्तु सभी रोगियों को नहीं इसके मुख्य पांच कारण है जिनके द्वारा प्रत्येक रोगी को ठीक नहीं किया जा सकता।

1. रोगी के शरीर में उपस्थित विजातीय द्रव्य की मात्रा कितनी है।

2. रोग दूर करने के लिये उसमें यथेष्ट जीवनी शक्ति है या नहीं।
3. रोगी कितने समय से चिकित्सा करा रहा है कहीं उसका धैर्य जबाव तो नहीं दे रहा।
4. प्राकृतिक चिकित्सा शुरू करने से पहले रोगी को घातक औषधियां दी गयी या नहीं या फिर कोई बड़ा आप्रेशन हुआ या नहीं।
5. रोगी को प्राकृतिक चिकित्सा पर विश्वास है या नहीं।

उपरोक्त विवरण इसी बात की ओर संकेत करती है कि प्राकृतिक चिकित्सा से रोग अवश्य ही ठीक हो जाता है ये अलग बात है कि जीवनी शक्ति के अभाव में प्रत्येक रोगी ठीक नहीं हो पाता। प्रत्येक रोग ठीक होने का कारण यह है कि जब प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा उपचार किया जाता है तो वो उपचार पूरे शरीर का होता है। जिससे एक रोग के साथ–साथ शरीर के अन्य छिपे रोग भी अपने आप ठीक हो जाते है। क्योंकि चिकित्सा रोगों के कारण की होती है न कि लक्षण की। इस सभी तथ्यों से प्रस्तुत सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

2.3.6 रोग निदान भी विषेष आवष्यकता नहीं :–जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि चिकित्सा रोग नहीं अपितु पूरे शरीर की होती हैं। इस दषा में रोग निदान की आवश्यकता क्या है और यदि निदान करना भी है तो देखकर ही किया जा सकता है। उसके महंगे उपकरणों की आवश्यकता नहीं हैं।

रोग निदान की आवश्यकता का एक तर्क यह भी है कि यदि प्रकृति चाहती की रोग अथवा निरोग अवस्था में डाक्टर निदान के लिये लोगों के शरीर के भीतर के अव्यवों और उनमें होने वाली क्रियाओं को देख सके तो वह मनुष्य के शरीर में मांस का अपारदर्शी खोल न चढ़ाती बल्कि शरीर को एक ऐसी पारदर्शी झिल्ली लगाकर रखती जिससे शरीर के भीतर होने वाली गड़बड़ी को आसानी से देखा जा सकता।

यह बात सिद्ध करती है कि प्रकृति स्वयं नहीं चाहती है कि कोई भी रोग निदान हेतु अपना समय और धन खर्च करे। निदान की खींचतान के लिये मानव ने जितने यन्त्र बना रखे हैं। वे सभी प्रकृति और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों का पता लगाने में कदापि सक्षम नहीं है। अतः उससे रोग निदान की पूर्ण रूप से सही होने की आशा कैसे की जा सकती है। यही कारण है कि उनके अधिकांश निदान गलत साबित होते हैं। अब इस बात से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि गलत निदानों से चिकित्सा कितनी सही हो पायेगी। पहले तो निदान गलत फिर चिकित्सा गलत तो हम कैसे कह सकते हैं कि इससे रोगी ठीक हो सकता है। इसके परिणाम अत्यन्त भयानक होते हैं जिन्हें रोगी को भुगतना पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाये कि रोग का सही निदान भी हो पाया। लेकिन केवल निदान हो जाने से ही रोग ठीक हो जाये ऐसा नहीं हैं इस विषय में बड़े–बड़े डाक्टरों का अनुभव बताता है कि औषधि द्वारा उपचार करने में सही निदान हो जाने के बाद भी कई रोगों पर इस चिकित्सा का कोई विषेश प्रभाव नहीं पड़ता इसके विपरीत बहुत से रोग चिकित्सा करते–करते जीर्णावस्था को प्राप्त हो जाते है तथा उनमें कुछ को तो असाध्य घोषित कर दिया जाता है।

इस अवस्था में प्राकृतिक चिकित्सा ही ऐसी उत्तम पद्धति है जो निदान पर विषेश बल नहीं देती तथा इस पर निर्भर भी नहीं रहती। जो थोड़ा बहुत नाममात्र का निदान होता भी है उसमें किसी प्रकार की भूल या गलती के कारण रोग के बढ़ने की संभावना नही होती।
प्राकृतिक चिकित्सा में रोगों का कारण विजातीय द्रव्य का एकत्र होना माना गया है। निदान हेतु एक प्राकृतिक चिकित्सक को केवल यह देखना होता है कि वह विजातीय द्रव्य शरीर के किसी भाग में एकत्र है। वह बगल में हो सकता है। सामने पीछे, मुख, गर्दन या फिर पूरे शरीर में हो सकता है। रोगी की शारीरिक दशाओं को देखकर उसके मुख से सुनकर भी निदान कर लिया जाता है।
डाक्टरों के रोग निदान और प्राकृतिक चिकित्सा के निदान में एक विषेश अन्तर यह है कि डाक्टर मुख्यतः मुर्दो को चीर फाड़कर निदान का ज्ञान प्राप्त करने का काफी समय तक प्रयास करते हैं। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सक शरीर में आये परिवर्तन व उसमें होने वाले कार्यो का दृष्टिपात करके मिनटों में रोग के कारण को जान पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा की निदान विधि में भटकने या गलती करने का भय नहीं होता तथा यह एक अत्यन्त साधारण प्रक्रिया है। जिसे कोई आम आदमी कर सकता है। इसलिये प्राकृतिक चिकित्सा निदान को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है।

2.3.7 जीर्ण रोगों के ठीक होने में समय लगता है – एक बार डॉ0 लिण्डहार से प्राकृतिक चिकित्सा पर आक्षेप करते हुए उनके किसी विरोधी ने कहा कि प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा उपचार करने पर तो रोगी बहुत देर में ठीक होते हैं और उपचार कराते–कराते रोगी उकता जाते है। इसके जबाव में उन्होंने तुरन्त कहा कि यह एक मात्र भ्रम है इससे तो रोगी बहुत जल्दी ठीक होते हैं बल्कि आज जितनी भी चिकित्सा उन सबसे तेज रफ्तार से कार्य करती है। मगर हमारी सबसे बड़ी परेशानी यह है कि हमको केवल असाध्य रोग के रोगी ही मिलते हैं जो सब जगह से निराश हो चुके होते हैं।
प्राकृतिक चिकित्सा की सबसे बड़ी परेशानी यह है कि इसमें वहीं लोग चिकित्सा हेतु आते हैं। जो केवल रोग से ग्रस्त ही नहीं होता बल्कि उन दवाओं का भी जहर होता है। इस वजह से प्राकृतिक चिकित्सा को केवल रोग का ही उपचार नहीं करना पड़ता बल्कि उन सभी विषों को भी शरीर से बाहर निकालना होता है। जिसमें महीना, दो महीना और कभी–कभी साल भी लग सकता है।
इस प्रणाली में निरोग होने का मतलब केवल रोग का दूर होना ही नहीं बल्कि नया जीवन प्राप्त करना है। अतः इस पद्धति में हम यह नहीं कह सकते की रोग तुरन्त ही छूमन्तर हो जायेगा। इसमें काफी समय लगता है। प्रकृति के समस्त कार्य तेजी से नहीं अपितु धीरे–धीरे होते हैं। जैसे बीज बोने के बाद प्रतिक्षा करनी पड़ती है। तभी उस प्रतिक्षा के फलस्वरूप वह बीज पौधा बनकर वृक्ष में परिणित होता है। यदि हम अपनी जल्दी की आदत के कारण बीज बोएं और अगले दिन देखे कि वह उगा नहीं और फिर उसे उखाड़कर दूसरी जगह पर बो दें और यही क्रिया दोहराते रहें तो वह बीज कभी नहीं उगेगा बल्कि एक समय बाद उसमें उगने की शक्ति ही समाप्त हो जायेगी यही हाल हम अपने शरीर का कर लेते हैं। रोगी हुए नहीं कि चले डाक्टर के पास कुछ दिन दवायें खायी, ठीक न हुए तो फिर दूसरे डाक्टर के पास वहां भी ऐसे ही किया और धीरे–धीरे ऐसे करते हुए न जाने कितने डाक्टरों को दिखाया कितनी दवायें खायी पता ही नहीं और

दवाओं का सारा विष अपनी नस नाड़ियों में अपने पूरे शरीर में भर लेते है और अन्त में में आते हैं प्राकृतिक चिकित्सक के पास अब स्वयं चिन्तन कीजिये कि वह कैसे हमें तुरन्त ठीक कर सकता है। परन्तु फिर भी प्राकृतिक चिकित्सा बड़े प्रभावषाली ढंग से चिकित्सा करती है। जिससे रोगी काफी कम समय में साधारण रूप से स्वस्थता का अनुभव करने लगतस है और उसे लगता है कि वह ठीक हो चुका है। जिस कारण अपनी जल्दबाजी की आदत के कारण वह उपचार बीच में छोड़ देता है और इस कारण कुछ ही समय बाद पुनः रोगी हो जाता है और इसका दोष की वह प्राकृतिक चिकित्सा को ही देता है। जबकि दोष उसके स्वयं का होता है।

उदाहरण के लिये मान लिया जाये कि एक व्यक्ति जो रोगी होने पर दवा खाते–खाते और इंजेक्षन लेते–लेते अपनी पूरी जीवनी शक्ति खो बैठा है। फिर भी उसका रोग दूर नहीं हो पाया। बल्कि वह साधारण रोग से असाध्य रोग में बदल गया। उसका रक्त विषाक्त हो गया। नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो गयी। मलों के विसर्जन में बाधा आने लगी पाचन खराब हो गया। इस प्रकार के रोगी को कोई भी चिकित्सा तुरन्त ठीक नहीं कर सकती, यदि ऐसा रोगी वर्षो में भी ठीक हो जाये तो उसे भगवान की कृपा समझकर उनका धन्यवाद करना चाहिये।

इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है कि अत्यधिक कष्ट पीड़ित रोगी का रोग से जल्दी मुक्त होने के कारण उसका धैर्य टूटना स्वाभाविक है। परन्तु यहां पर प्राकृतिक चिकित्सक को यह मानना चाहिये कि रोगी का धैर्य न रख पाना भी उसके रोग का ही एक अंग है और उसकी ओर भी ध्यान देते हुए रोगी को लगातार धैर्य बंधाते रहना चाहिये। तथा उसकी चिकित्सा भी निरन्तर लाभ के साथ जारी रखनी चाहिये।

उपरोक्त सारे विवरण व उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि किसी की रोग को दूर करने में धैर्य की बहुत अधिक आवष्यकता होती है। क्योंकि इस चिकित्सा में जीव रोगों के ठीक होने में समय अधिक लगता है।

2.3.8. प्राकृतिक चिकित्सा में दबे रोग उभड़ते हैं :– इस सिद्धान्त के अनुसार दबे रोग उभड़ते हैं परन्तु औषधि चिकितस से रोग दब जाते हैं। जैसे कि नाम से स्पष्ट है दवाई या दबाने वाली अतः स्पष्ट है कि औषधि चिकित्सा रोग को समाप्त नहीं करती बल्कि दबाती है परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा रोग को दबाती नहीं बल्कि उसे उभाड़कर रोग को समूल नष्ट कर देती है। उभाड़ को चिकित्सीय भाषा में रोग का तीव्र रूप, पुराने रोग का प्रभावर्तन, आरोग्य प्रद दारूण स्थिति रोग जीर्ण रोग की चिकित्सा काल में किसी समुचित समय पर उस रोग की तीव्र प्रतिक्रिया का होना, या फिर प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा अर्जित प्रबल जीवनी शक्ति के कारण रोग का सदा के समूल रूप से चले जाने के लिये प्रस्तुत हो जाना और थोड़े समय तक अथवा उग्र रूप दिखाकर फिर रोगी को सदा के लिये छोड़ देना। उभाड़ शरीर में दो चार दिन या अधिक हुआ तो एक सप्ताह में रोगी को निरोग दषा में छोड़कर चला जाता है। उभाड़ की क्रिया अपने आप में विलक्षण क्रिया है। इसमें शरीर में क्रम से जो–जो रोग दबे होते है। वे उल्टे क्रम से उभड़ते हैं और एक–एक करके नष्ट होते जाते है। साथ ही एक रोचक तथ्य यह है कि इसमें दो रोगों के बीच उभाड़ का जो अन्तराल होता है वह 7 से भाग देने पर कट जाने वाला कोई अंक होता है।

जैसे एक उदाहरण ही ले रोगी को पहले दस्त हुए वह दवा से दब गये, दर्द हुआ वह भी दब गया, ज्वर हुआ वह भी दब गया तो प्राकृतिक चिकित्सा करने पर जब उभाड़

शुरू होगें तो सर्वप्रथम ज्वर 7 या 14 दिन में उभड़ेगा और समाप्त हो जायेगा उसके 7, 14 या 21 दिन बाद दर्द उभड़ेगा और चला जायेगा और अन्त दस्त का रोग उभरेगा और रोगी को पूरी तरह से नीरोग करके चला जायेगा। इस सिद्धान्त के अपवाद हो सकते है। जैसे अन्य सिद्धान्तों में भी देखा जाता है। परन्तु अधिकांष ऐसा ही देखा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दबे हुए रोगों को उभाड़ने में प्रकृति को एक निष्चित समय तक कार्य करना पड़ता है। एक के बाद दूसरा दूसरे के बाद तीसरा और इसी प्रकार अन्य रोग उभड़ते हैं और हर उभाड़ तैयारी के बाद उभाड़ होता है। उदाहरण स्वरूप मलेरिया ज्वर को ही लीजिये जो लौट–लौट कर आता है। प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा उपचार करने पर वह ज्वर कुछ दिनों तक बढ़ा हुआ रहता है। यह उसका उभाड़ प्रत्येक उभाड़ को स्वास्थ्य के लिये वरदान समझना चाहिये।

सृष्टि संचालन में प्रकृति की दो शक्तियां काम करती है। एक है रचनात्मक और दूसरी है विनाषक, प्राकृतिक रोगोपचार में प्रकृति की रचनात्मक शक्ति रोगी में रोग उपषम संकट पैदा करके उसे रोग मुक्त बना देती है। तथा विनाषक शक्ति रोगी में विध्वंसकारक रोग संकट पैदा करके मृत्यु का कारण बनती है। यह अवस्था तब उत्पन्न होती है जब रोगी के शरीर में स्थित विजातीय द्रव्य किसी भी मार्ग से शरीर से निष्कासित नहीं हो पाते जैसे मल, मूत्र, स्वेद आदि के माध्यम से जिसका परिणाम यह होता है कि रोगी की मृत्यु हो जाती है और यह मृत्यु तभी होती है जब शरीर में मलों का स्तर इतना बढ़ जाता है कि शरीर की रोग निवारण शक्ति उसे बाहर निकालने में अक्षम रहती है।

यह उभाड़ की स्थिति केवल रोग के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि सारे संसार में सर्वत्र मिलते है। जैसे कभी गर्मीयों के दिनों में गर्मी व उमस बहुत अधिक बढ़ जाती है। किन्तु कुछ समय बाद निष्चय ही हवा चलने लगती है या तेज आंधी आने लगती है या कि बारिष की फुहारे पड़ने लगती है और हमें गर्मी से शांति मिल जाती है। प्राकृतिक चिकित्सक डॉ0 लिण्डल्हार वे तो युद्ध व क्रांतियों को भी राज्यों का जीवन से सम्बन्धित आरोग्यपद दारूणी स्थिति माना है।

जब हम अपने कमरे की सफाई करते हैं तो कुछ समय के लिये कमरे में धूल ही धूल दिखायी देती है। परन्तु धूल के हट जाने के बाद कमरा पहले से कहीं अधिक साफ सुथरा हो जाता है। सभी प्रकार के तीव्र रोग जैसे ज्वर, दस्त चेचक, हैजा आदि हमारे मलों से भरे शरीर से शरीर की जीवनी शक्ति द्वारा मलों को अत्यधिक तेजी से निकालकर फेंकने में शीघ्रता करते हैं। उसे हम रोग का तीव्र रूप, उभाड़ या तीव्र उपषम संकट कह सकते हैं।इस तरह कह सकते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा करते समय रोग का उभड़ना कितना लाभकारी और आवश्यक है। इससे घबराने की बजाय खुष होना चाहिये। साथ ही यह भी सही बात है कि उभाड़ को जल्दी बुलाना और उसे विकट रूप में लाना उचित नहीं है। क्योंकि इस समय जल्दबाजी से काम लेना हानि पहुंचा सकता है। यहां पर भी प्रकृति का वही नियम लागू होने देना चाहिये जिसमें प्रकृति अपने सभी कार्यो को धीरे–धीरे करती है।देखा जाता है कि परेशान करने वाले उभाड़ अक्सर उन्हीं रोगियों की चिकित्सा के दौरान देखे गये हैं जो चिकित्सा के पहले अनेक विषाक्त दवाईयों का सेवन कर चुके होते हैं। उपरोक्त बातें इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग करने से दबे रोगों को उभाड़ कर फिर उन्हें शान्त किया जाता है। ताकि रोग पुनः लौटकर नहीं आये और शरीर को बिल्कुल स्वच्छ और नया बना दें।

2 3 9.मन, शरीर तथा आत्मा तीनों की चिकित्सा एक साथ :– जब हमारा शरीर, मन व आत्मा पूर्ण रूप से स्वस्थ होते हैं तभी पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति समझनी चाहिये, प्राकृतिक चिकित्सा में केवल शरीर ही नहीं अपितु इन तीनों स्तरों पर स्वास्थ्य का विषेश ध्यान रखा जाता है क्योंकि यह एक दूसरे से इस प्रकार विषेश ध्यान रखा जाता है क्योंकि यह एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि एक में विकार होने या एक के रोगी होने पर दूसरे भी रोगग्रस्थ हो जाते है या कष्ट भोगते है यदि शरीर में कोई रोग होता है और वह समय से ठीक नहीं होता तो उससे मन बहुत कष्ट पाता है और यदि मन कष्ट मुक्त अवस्था में होता है तो मनुष्य आत्मिक शांति व कल्याण के लिये प्रयत्न नहीं कर पाता जिससे मन के साथ–साथ आत्मा भी कष्ट पाता है। इसी प्रकार आत्मा के कष्ट की अवस्था में मन और फिर शरीर भी कष्ट जाता है। यह प्रक्रिया दोनों और समान रूप से चलती है।

प्राकृतिक चिकित्सक मानसिक स्वास्थ्य को शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक आवश्यक मानते है तथा आत्मिक बल का स्थान इन दोनों से श्रेष्ठ मानते है। महान दार्षनिक सुकरात कहा करते थे कि यदि मनुष्य केवल बलवान हो तो इसमें उसकी कोई विशेषता नहीं है। मृतक मनुष्य नहीं बल्कि शव मात्र है। परन्तु जीवित मनुष्य के शरीर और उसके मन में अविच्छेद सम्बन्ध है। दोनों को मिलाकर एक ही समझना चाहिये इनका विकास अलग–अलग सम्भव नहीं है। मस्तिष्क की उन्नति व शरीर का बल जिसके पास होता है। वह व्यक्ति सुख की ओर अग्रसर होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में हम केवल शरीर के रोगों पर ही ध्यान नहीं देते बल्कि अपने रहन–सहन, खान–पान आदि का भी ध्यान रखते हैं जिससे हमारा मन शांत होकर हमें आत्मिक शांति प्रदान करता है। जिससे हम आध्यात्मिक उन्नति को ओर बढ़ते है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि यदि मानव प्राकृतिक चिकित्सा ही नहीं बल्कि पूरे प्राकृतिक दर्षन को समझे और अपनाये तो निर्दयता, पैशाचिकता, पाशविकता सभी संसार से एक दम समाप्त हो जायें और यह पृथ्वी स्वर्ग की भांति दुख रति हो जाये। मनुष्य के रोगी शरीर निर्बल आत्मा व विकार मुक्त मन इन तीनों की चिकित्सा के लिये प्राकृतिक चिकित्सा में ईष प्रार्थना अथवा राम नाम एक अचूक रामबाण चिकित्सा है।

2.3.10 प्राकृतिक उपचार में उत्तेजक दवाओं के दिये जाने का कोई प्रष्न ही नही हैं –

औषधि उपचार प्रणाली का यह सिद्धान्त है कि रोग शरीर से बाहर की वस्तु है जिसने शरीर पर आक्रमण किया है और जो हमारा घोर शत्रु है। अतः हमें शक्तिशाली से शक्तिशाली साधनों का उपयोग करके उससे लड़ना चाहिये और उसे हराना चाहिये। इस कारण डाक्टर विषैली दवायें जैसे शंखिया पारा अफीम आदि का प्रयोग करके रोगों से लड़ने के लिये करते हैं का परन्तु वे इस बात की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते कि विष तो आखिर विष ही है। चाहे इसकी मात्रा कम हो या अधिक वह हर परिस्थिति में शरीर के लिये तो द्यातक ही है। वह शरीर को लाभ कैसे पहुंचा सकता है। यदि कारण है कि रोग ठीक होने के बजाय दिन प्रतिदिन और भी गंभीर होते जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में औषधियों का प्रयोग मात्र अनावष्यक ही नहीं बल्कि अत्यधिक द्यातक भी समझा जाता है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त उपरोक्त पद्धति से बिल्कुल उल्टा है। प्राकृतिक चिकित्सा में रोग को बाहरी वस्तु नहीं समझा जाता बल्कि शरीर की चीज माना जाता है और रोग को भी उन्हीं प्राकृतिक साधनों द्वारा ठीक किया जाता है। जिनके

प्रयास द्वारा रोग आवश्यकता पड़ने पर उत्पन्न होता है। शरीर की जो शक्ति हमें उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करती है वहीं हमें रोगों से भी मुक्ति दिलाती है।

औषधियों में शरीर के लिये आवश्यक पोषक जीवन तत्व नहीं होते। उनके प्रयोग से शरीर में जो प्रतिक्रिया मालूम पड़ती है। वह औषधियों की प्रतिक्रिया नहीं होती वास्तव में वह उस शरीर की होती है। जिसमें वे जीवन हीन औषधियां प्रवेश करती है। क्या औषधियां किसी मृत व्यक्ति पर अपना कोई प्रभाव डाल सकती है। बिल्कुल नहीं यह प्रष्न यह है कि औषधियों के कुप्रभाव से हमारा शरीर कैसे निपटता है। हमारा शरीर सदैव अपने भीतर अनावश्यक रूप से आये दुर्दव्यों को जल्द से जल्द बाहर निकालने का प्रयास करता है। क्योंकि वे शरीर के लिये अनावश्यक होने के साथ–साथ हानिकारक भी होते है।

औषधियों को उनमें भी विशेष रूप से विशैली औषधियों को जब स्वस्थ अवस्था में ग्रहण नहीं करते तो रोगी होने पर कैसे उनका सेवन कर सकते है और कैसे इस दषा में डाक्टरों द्वारा उन्हें यह औषधियां दी जाती है। स्पष्ट है कि जो औषधियां स्वास्थ्य की अवस्था में हानी पहुंचाती है। वे रोगी होने पर कैसे हमें लाभ पहुंचा सकती है। प्राकृतिक चिकित्सा के चौथे सिद्धान्त से स्पष्ट है कि प्रकृति स्वयं चिकित्सक है। अर्थात रोगों से मुक्ति प्रकृति देती है दवा नहीं।

क्योंकि औषधियों कार्य रोग दूर करना है ही नहीं। औषधि तो वह वस्तु है जो प्रकृति के द्वारा मरम्मत के काम में लगाई जाती है। इसका कारण यह भी औषधि शरीर के द्वारा ग्राह्य होती है और अनेक अवयवों के गठन में या अन्य क्रियाओं में जैसे कि विजातीय द्रव्य निष्कासन में प्रयोग की जा सकती है। औषधि की वास्तविक और सही परिभाषा यही है जो कि औषधि चिकित्सकों की परिभाषा से अलग है। इस परिभाषा के अनुसार सभी पदार्थ जो भी प्राण शक्ति से भरपूर है वे औषधि ही कहलायेगें, परन्तु ध्यान रहे पहले खाद्य पदार्थ है बाद में औषधि है।

प्राकृतिक चिकित्सा में काष्ठ औषधियां दी जाती है। परन्तु शर्त यह है कि वे ताजी हो, उत्तेजना देने वाली न हो, और अकेली या सजातीय हों व सजातीय होने पर भी दो या तीन से अधिक हो साथ ही इनकी मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिये तथा ये रोगी के शरीर के अनुकूल हो।

प्राकृतिक चिकित्सा में काष्ठ औषधि उपचार व खाद्य उपचार एक ही चीज के दो नाम है अक्सर सभी प्रकार के उद्भिज पदार्थो में जो की मनुष्य के भोजन का अंष हो सकते हैं प्राण कणों के लिये अच्छी व ताजी औषधियां मौजूद होती है। जिनका प्रयोग प्राकृतिक उपचार में रोगी के शरीर व स्वभाव में सहायता पहुंचाने की दृष्टि से बिना किसी रोक टोक के किया जा सकता है।इस प्रकार हमने 10 प्राकृतिक सिद्धान्तों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जिन पर पूरी प्राकृतिक चिकित्सा टिकी हो इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे आज यह पद्धति उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है और दिन प्रतिदिन और अधिक विकसित व प्रचारित हो रही है। प्रकृति के नियमों का पालन करने पर इन सभी सिद्धान्तों का पालन स्वयं ही हो जाता है। क्योंकि ये नियम स्वयं प्रकृति के ही तो है इनका पालन करने वाला सदा स्वस्थ व सुखी होता है।

अभ्यास प्रश्न–

प्रश्न 1. रोग के कितने कारण है।

क. एक ख. दो

ग. तीन घ. चार

प्रश्न 2. रोग का मूल कारण क्या है।

क. कीटणु ख. विजातीय द्रव्य

ग.गन्दगी घ. कमजोरी

प्रश्न 3. ....शत्रु नही होते है।

क. जीर्ण रोग ख. कीटाणु

ग. तीर्व रोग घ. ज्ञानेद्रियां

प्रश्न 4. प्राकृतिक चिकित्सा में .... उभरते है।

क. दबे रोग ख. त्वचारोग

ग. मानसिक रोग घ.शारीरिक रोग

2.4 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यदि हम प्राकृतिक चिकित्सा को अपने जीवन में स्थान देते हैं तो हमें प्रस्तुत मुख्य 10 सिद्धान्तों को भी अपनाना पड़ेगा तभी हम प्राकृतिक चिकित्सा का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकेगें। यदि बिना इन सिद्धान्तों को जाने हम चिकित्सा देते हैं या फिर चिकित्सा लेते तो दोनों ही दश ााओं में यह चिकित्सा काम नहीं करेगी। क्योंकि प्रत्येक चिकितस के अपने–अपने सिद्धान्त होते हैं जिन्हें अपनाकर ही चिकित्सा पद्धति आगे बढ़ती है। इसलिये प्रत्येक चिकित्सक व रोगी को इन सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है।

2.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्राकृतिक चिकित्सा एंव योग– डां नागेन्द्र कुमार नीरज
2. सरल प्राकृतिक चिकित्सा –डां ओ पी सक्सेना
3. प्राकृतिक आर्युविज्ञान–डां राकेश जिन्दल
4. प्राकृतिक चिकित्सा सिद्वान्त एंव व्यवहार– बीना मिश्रा

2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1.क 2.ख 3.ग 4.क

2.7 निबंधात्मक प्रश्न :–

- प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या कीजिये।
- प्रकृति स्वयं चिकित्सक हैं सिद्ध कीजिये।
- रोग का कारण कीटाणु नहीं होते सिद्ध कीजिये।

इकाई– 3 पंच महाभूत एवं महत् तत्व परिचय

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 आकाश तत्व
3.3.1 मन में संयम द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति
3.3.2 सदाचार द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति
3 3.3 मानसिक अनुशासन द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति
3.3.4 ब्रह्मचर्य द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति
3.4 वायु तत्व
3.4.1. पवन स्नान द्वारा वायु तत्व की प्राप्ति
3.4.2 प्राणायाम द्वारा वायु तत्व की प्राप्ति
3.5 अग्नि तत्व
3.5.1 सूर्य के प्रकाश का विश्लेषण
3.5.2 अल्ट्रा वायलेट किरणे
3.5.3 लाल किरणें
3.5.4 नारंगी किरणें
3.5.5 पीली किरणें
3.5.6 हरी किरणें
3.5.7 आसमानी किरणें
3.5.8 नीली किरणें
3.5.9 बैगनी किरणें
3.5.10 नीलोत्तर किरणें
3.6 जल तत्व
3.6.1 मृदु जल
3.6.2 अस्थाई कठोर जल
3.6.3 स्थाई कठोर जल
3.7 पृथ्वी तत्व
3.7.1 मिट्टी के गुण
3.7.2 मिट्टी के प्रकार
3.8 महत तत्व
3.8.1 प्रार्थना द्वारा रोग निवारण
3.9 सारांश
3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

क्षित्यपतेजोमरूदव्योम (पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश) ईश्वर से ही अविर्भूत हुए है या ईश्वर का ही रूप है। उत्पत्ति के बाद यें पांचो तत्व सृष्टिरचना के लिए उस समय तक निष्क्रिय या अक्षम रहे जब तक कि स्वंय परमात्मा ने उसमें प्रवेश करके उन्हे सक्रिय नही बनाया अथवा उनको सृष्टि रचना की क्षमता प्रदान नही की ।इस तरह विश्व की उत्पत्ति ईश्वर से एंव उनकी एकता ईश्वर के साथ सिद्व होती है।जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है।सर्वगुण समपन्न ईश्वर

आकाश–एक गुण –शब्द

वायु –दोगुण –शब्द –स्पर्श

अग्नि– तीन गुण –शब्द –स्पर्श–रूप

जल–चार गुण ––शब्द –स्पर्श–रूप– रस

पृथ्वी –पांच गुण–––शब्द –स्पर्श–रूप– रस –गन्ध

इसमे सबसे सूक्ष्म तत्व आकाश है और सबसे स्थूल तत्व पृथ्वी है।सांख्य दर्शन पंच तत्वो की उत्पत्ति के लिए पुरूष और प्रकृति के सयोंग को उत्तरदायी मानता है ।जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

प्रकृति + पुरूष

↓

महत् (बुद्धि)

↓

अंहकार

↓ ↓ ↓

सात्विक अंहकार | राजसिक अहंकार | तामसिक अहंकार

↓ ↓

पंच कर्मेन्द्रियां –पंच ज्ञानेन्द्रियां मन | पंच तन्मात्रा और पंच महाभूत

अर्थात प्रकृति और पुरूष के संयोग से महत् (बुद्धि) की उत्पत्ति हुई और महत् से अहंकार की उत्पत्ति हुई और अहंकार से तीन प्रकार के अहंकारो की उत्पत्ति हुई और सात्विक अंहकार से पंच कर्मेन्द्रियां, और पंच ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति हुई इसी प्रकार तामसिक अहंकार से पंच तन्मात्र और पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई ।इन पंच तत्वो से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है प्राणियो के शरीर भी इन पंच तत्वो से ही बने है। संसार में जितनी वस्तुए दृष्टिगोचर होती हैंया इन्द्रिय द्वारा अनुभव होती है सभी की उत्पत्ति पंचतत्वो के माध्यम से ही होती हैं

3.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई में आप

- पंच महाभूतों का परिचय का अध्ययन करेगें।
- आकाश तत्व को प्राप्त करने में साधनों को जानेगें।
- सूर्य किरण चिकित्सा को जानेगें।
- मिट्टी के प्रकारों का अध्ययन करेगें।

प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत पंच महाभूतों का अपना अलग महत्व है। क्योंकि प्राकृतिक चिकित्सा इन्हीं पंच तत्वों पर आधारित है। मनुष्य शरीर पंच महाभौतिक ही है। पंच तत्वों की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई है। प्रकृति और पुरूष के संयोग से महत् (बुद्धि) की उत्पत्ति हुई और महत् से अहंकार की उत्पत्ति हुई और अहंकार से कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन, पंच तन्मात्र और पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई। आगे हम पंचमहाभूतों के बारे में जानेगें।

3.3 आकाश तत्व :–

आकाश तत्व पंच तत्वों में प्रथम तत्व है। जिस प्रकार हम ईश्वर को निराकार मानते हैं आकाश भी उसी प्रकार से निराकार है। निराकार होते हुए भी जिस प्रकार ईश्वर सत्य व शास्वत है इसी प्रकार आकाश भी सत्य व शास्वत है। यह अविनाशी और निर्विकार है। आकाश को अर्द्धव लोक माना गया है। जिसे प्राप्त करने के लिये मनुश्य को सतकर्म करने पड़ते हैं। आकाश में ही स्वर्गलोक की कल्पना की गयी है। जहां देवता निवास करते हैं, तथा वे सभी अमर हैं, हम भी आकाश तत्व के सेवन से अमर सही निरोग और दीर्घायु तो हो ही सकते हैं। आकाश पंचतत्वों में एक महत्वपूर्ण तत्व है जिसके कारण ही मानव का जीवन संभव होता है इसी कारण से आंतरिक और बाह्य क्रियायें दोनों संपन्न हो पाती हैं। यदि आकाश तत्व न हो तो हम न सांस ले सकते हैं और न ही हमारी अपनी क्रियात्मक गतिविधियां हो पातीं। हमारे शरीर में इसका विशिष्ट स्थान हैं। सिर गला, हृदय, उदर, तथा कटि प्रदेश, मस्तिष्क में स्थित आकाश तत्व, वायु का मुख्य स्थान है। हृदय में आकाश तत्व पित्त है उदर में जल का भाग है। आकाश तत्व का तात्पर्य है रिक्त स्थान। शरीर के प्रत्येक आंतरिक अंग में आकाश तत्व होता है त्वचा के दो छिद्रों के बीच का रिक्त स्थान आकाश ही है। जब इन रिक्त स्थानों में विजातीय द्रव्य भर जाते हैं तो शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। अतः रिक्त स्थान को शुद्ध रखने के लिये समय समय पर उपवास करना आवश्यक है।

यह सत्य है कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकाने के लिये कोई द्रव्य मान वस्तु उपलब्ध नहीं है। फिर भी हर सत् कार्य की प्रेरणा व शक्ति हमें ईश्वर से प्राप्त होती है ठीक उसी प्रकार का स्थान आकाश तत्व का भी हमारे जीवन में है आकाश तत्व द्वारा प्राप्त यह शक्ति आत्मिक, मानसिक व शारीरिक तीनों प्रकार के स्वास्थ्य को उन्नत बनाने वाली होती है। यह बात भी सत्य ही है कि यदि आकाश तत्व न होता तो न तो हमारे श्वास प्रश्वास के वायु विवरण ही कर पाती और न हमारी स्थिति ही हो पाती और नहीं हमारा अस्तित्व ही होता। यहां तक कि अन्य चारों महाभूत भी इसी आश्रित है। इसके बिना अन्य की स्थिति नहीं हो सकती।

हमारा यह शरीर पंच तत्वों से मिलकर बना है। कविता की कुछ पंक्तियों में कहा गया है।

पवन, पानी, पृथ्वी प्रकाश और आकाश।
पंचभूत के खेल से, बना जगत का पाश।।

अर्थात –पंच महाभूतों के संयोग से यह सम्पूर्ण शरीर बना है। यह एक विचित्र यन्त्र है। जो कि ब्रह्माण्ड का एक छोटा नमूना भी है ''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'' जो पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में है। अर्थात जो हमारे शरीर में है वहीं ब्रह्माण्ड में मौजूद है। आकाश इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भी आधार है। ब्राह्मण्ड से इस तत्व को प्राप्त करने का एक मुख्य साधन उपवास नहीं कर सकते तब भी अपनी भूख से थोड़ा कम भोजन करके हम इस तत्व को अर्जित कर सकते हैं। तथा इससे प्राप्त होने वाली सुख शांति का अनुभव कर सकते हैं।

जब हम बीमार पड़ते है तो उपवास द्वारा अपने शरीर की जीवनी शक्ति को अन्य सभी शारीरिक कार्यो से हटाकर अपने शरीर में इस तत्व की कमी को पूरा करते है। तथा शीघ्र ही ठीक हो जाते है। आकाश तत्व के कुछ कार्य शोक, मोह, क्रोध काम एवं भय है। हमारे शरीर में आकाश तत्व वैसे तो सम्पूर्ण शरीर में रहता है। परन्तु फिर भी इसकी अधिकता वाले स्थान जैसे–सिर, कण्ठ, ह्ृदय कटिप्रदेश व उदर है। सिर में स्थित आकाश वायु का भाग कहा गया है। जो प्राण का मुख्य स्थान है। ह्ृदय प्रदेशगत अग्नि का भाग है। जहां पित्त का मुख्य स्थान है। उदर प्रदेश गत आकाश जल का भाग है। जिसके द्वारा सभी प्रकार के मल विसर्जन की क्रिया सम्भव होती है। कटिप्रदेश गत आकाश पृथ्वी तत्व का भाग है। यह सबसे अधिक स्थूल होता है और गन्ध का आश्रय कहा गया है।

महात्मा गांधी ने तो यहां तक कहा है कि उपवार आरोग्य सम्राट है और साथ ही यह भी कहा कि जिस प्रकार ईश्वर के भेद को जानना है उसी प्रकार इसका भेद जानना है। इस महान तत्व का जितना अधिक उपयोग किया जाये उतना अधिक अरोग्य प्राप्त किया जा सकता हैं यदि बिना आश्रय व वस्त्रों के इस अनन्त आकाश से सम्बन्ध जोड़ लें तो हमारा शरीर हमारी बुद्धि तथा हमारी आत्मा पूरी तरह से आरोग्य से परिपूर्ण हो जाये।

आकाश तब हमारे आस–पास हमारे ऊपर नीचे, बाहर, भीतर प्रत्येक रोम छिद्र में उपस्थित है। साधारणतः हम देखते हैं कि लोग ढूंस–ढूंस कर खाते हैं पेट में जरा भी स्थान खाली नहीं छोड़ते जिस कारण वहां आकाश तत्व की कमी हो जाती है। तथा भोजन के पाचन में परेशानी होती है। यही स्थिति निरन्तर रहे तो मनुष्य रोगी हो जाता है। जबकि हम देखते है की अधिक खाने से पूरे शरीर में एक भारीपन का अनुभव होता है कार्यो में अनिच्छा होती है। परन्तु इसके विपरीत यदि हम भूख से थोड़ा कम भोजन करते है। तो पूरे शरीर में हल्कापन व स्फूर्ति महसूस होती है। तथा कार्यो में भी स्वाभाविक रूचि होती है। इसके लिये हो सके तो सप्ताह में एक दिन पूर्ण उपवास अवश्य रखना चाहिये यदि यह सम्भव न हो सके तो कम से कम एक समय का भोजन त्याग देना चाहिये। इससे भी काफी लाभ लिया जा सकता है, योग में भी इस सम्बन्ध में मिताहार की चर्चा की गयी है। जिसमें पेट के आधा भाग भोजन एक चौथाई जल तथा एक चौथाई वायु के लिये खाली छोड़ना चाहिये ताकि भोजन आसनी से पच सके। हमारी जीवनी शक्ति को बढ़ाने व सभी प्रकार के रोग आदि की निवृत्ति के लिये आकाष तत्व की प्राप्ति उपवास समय, सदाचार मानिसक अनुसाशन, ब्रह्मचर्य, विश्राम, प्रसन्नता, मनोरंजन व अच्दी निद्रा के द्वारा की जा सकती है।

3.3.1 मन के संयम द्वारा आकाष तत्व की प्राप्ति :– मन के संयम में सबसे बड़ी बाधा इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त होना है। जिस कारण मनुष्य अनेक विषयों भोगों की ओर आकृष्ट होकर उनमें ही उलझा रहता है। वह एक प्रकार से इन इन्द्रियों के हाथों की कठपुतली है। जैसा ये उसे नचाती है वो वैसे ही नाचता रहता है। परन्तु यह भी सत्य है ये इच्छायें वासनायें न तो कभी पूर्ण होती है और न कभी इससे तृप्ति ही मिलती है। ये

इच्छाएं वासनायें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी निरन्तर उठती रहती है। और मनुष्य इनकी पूर्ति के लिये आजीवन प्रयन्त करता रहता है। अपने कल्याण अपनी शांति के विषय में सोचने का उसे समय ही नहीं मिलता, इन वासनाओं को पूरा करतने में बिता दिया, स्वयं के लिये तो कुछ किया ही नहीं, मनुष्य में अधिकांश समय इन्द्रियों की प्रभुता ही बनी रहती है। हमारी बुद्धि मन आदि तो उनके इशारों पर नाचते हैं। यदि हमें वास्तव में अपने कल्याण के लिये कुछ करना है तो हमें इन्द्रियों की गुलामी से बाहर निकलना होगा तथा अपने अच्छे बुरे निर्णय के लिये इन्द्रियों को छोड़कर बुद्धि का आश्रय लेना होगा, इस प्रकार अभ्यास द्वारा एक दिन बुद्धि इतनी शक्तिषाली हो जायेगी कि वह इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख सके। इन्द्रियों के नियन्त्रण में जितना कार्य बुद्धि का है। उससे कहीं ज्यादा कार्य मन का है। क्योंकि यह इन्द्रियां के सबसे अधिक समीप है और इसी समीपता के कारण इसे भी इन्द्रियों में गिना जाने लगा है। मन इन्द्रियों का नियन्त्रण अपने आप में संयम रखकर करता है। इसलिये मन के संयम से पहले मन को जानना अति आवष्यक हो जाता है। क्योंकि जिस वस्तु का हमें ज्ञान ही नहीं है। उसका संयम कैसे होगा।

मन एक उभय इंद्री है जो इन्द्रिय मुक्त व इन्द्रियतीत दोनों है। इसीलिये इसे इन्द्रियों में प्रमुख माना गया है इसी मन के अन्य दस शक्ति भेद हैं जिन्हें ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां कहा गया है। कोई भी इंद्री मन के सहयोग के बिना विषय में प्रवृत्त नहीं होती क्योंकि जिस–जिस इन्द्री के साथ मन होता है। वही विषय ग्रहण करती है। इसका एक उदाहरण यह है कि हम कभी देखते हैं कि जब हम किसी कार्य में लगे होते हैं। तब कभी–कभी ऐसा होता है। किसी के हमारे पास से आंखों के सामने से गुजर जाने के बाद भी हम नहीं जान पाते कि कौन गया। या कभी–कभी ऐसा होता है कि कभी हम टीवी देख रहे होते है। तो किसी के बुलाने पर उसकी आवाज सुन नहीं पाते। इसका कारण यह होता है कि ध्यान उस समय उस इन्द्रि के साथ नहीं होता उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जब तक मन–इन्द्रि का संयोग नहीं होगा, इन्द्रि विषयों को ग्रहण नहीं करेगी। अतः इन्द्रियों पर नियन्त्रण के लिये मन का संयम आवष्यक है।

मन को संयमित करने का सबसे पहला चरण यह है कि हम प्रतिदिन के अपने कार्यो का निरीक्षण करते रहे। ऐसा करने से धीरे–धीरे मन में उत्पन्न होने वाली चंचलता नष्ट होने लगती है। मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह यह समझकर बुरे कार्यो को करता है कि कोई उसे नहीं देख रहा है उसका वह कार्य सबसे छिपा हुआ है परन्तु सत्य यह है कि हम सभी से अपने दुष्कर्मो का छिपा सकते हैं परन्तु स्वयं से नहीं, इसलिये जब हम एक तटस्थ भाव से अपने दैनिक व पूर्ण कर्मो का निरीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि हमारे भीतर कितने कपट, कितने बुरे विचार, कितना घमण्ड, आदि भरा हुआ है जिसे जानकर हम स्वयं ही भयभीत व शर्मिन्दा हो जाते हैं अपने इन कार्यो का निरीक्षण करने के समय उत्पन्न यह ज्ञान वैराग्य उत्पन्न करने वाला होता है।

मन को संयमित करने का दूसरा साधन ईष्वर उपासना है जो कि आज के समाज में बहुत कम प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह संसार भौतिकवादी अत्यधिक भौतिक वादी होता जा रहा है। सभी धर्म हिन्दु मुस्लिम, सिख इसाई आदि में ईष प्रार्थना का विधान है जो कि व्यर्थ नहीं है। यदि हम प्रत्येक दिन 10–20 मिनट की इसका अनुसरण करें और देखेगें कि कुछ ही समय में हमारा नियन्त्रण बढ़ेगा जिससे इन्द्रियों के साथ मन बार–बार विषयाशक्त नहीं होगा।

मन को विषयाशक्त होने से रोककर संयमित करने के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि मन को विषयों की ओर जाने के लिये छोड़ देना चाहिये, विषय भोग करते–करते वह एक दिन स्वतः उन विषय से तृप्त होने के बाद उन विषयों का त्याग करके स्वयं स्थिर व शांत हो जायेगा। परन्तु उनकी ये बातें न्यायोचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि मन का स्वभाव ऐसा है कि वह एक विषय की पूर्ति होने पर तुरन्त ही दूसरे विषय की ओर आकृष्ट हो जाता है। मन को खुली छूट देने का परिणाम यह होता है कि वह और अधिक बलषाली होकर बार–बार विषयों में आषक्त होता रहता है। अतः मन को अभ्यास पूर्वक संयमित करने का प्रयास करते रहना चाहिये, क्योंकि प्रयास न करने पर मनः संयम संभव नहीं है।

3.3.2 सदाचार द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति :– सदाचार दो शब्दों से मिलकर बना सद् सत्य पर आधारित आचार आचरण करना, अतः सदाचार का अर्थ हुआ सत्य पर आधारित आचरण करना इसे ही भागवत गीता में धर्म की संज्ञा दी गयी है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो तन और मन की पवित्रता से युक्त है, वह सदाचारी है। सदाचार आत्मिक शांति को प्राप्त करने का एक शास्वत मार्ग है। सदाचार प्रत्येक मानव, प्रत्येक जाति, समाज, राष्ट्र के सदैव सुख एवं शांति का मूल है। महर्षि चरक ने सदाचार के सिद्धान्तों पर विशेष विचार किया है। क्योंकि मनुष्य की शरीरस्थ उन्नति का मुख्य स्रोत इसी में है।

3.3.3 मानसिक अनुशासन द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति :– मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। यही मन की शक्ति हमारे अच्छे या बुरे स्वास्थ्य के लिये उत्तरदायी होती है। इसका उदाहरण यह है कि रोगावस्था में रोगी मनोभावना जिस प्रकार की होगी अच्छी अथवा बुरी उसी के अनुसार रोग का घटना या बढ़ना होता है। अच्छी अथवा बुरी भावनाओं का असर हमारे शरीर पर निश्चित रूप से पड़ता है।

जिस प्रकार बुरी भावनाएं हमें रोगी बनाती है ठीक उसी प्रकार अच्छी भावनायें हमारे भीतर एक धनात्मक ऊर्जा का संचार भी करती है। जिससे मन से अतिरिक्त भार उतर जाता है। हम स्वयं को काफी हल्का महसूस करते है। ये हल्कापन बुरे विचारों के निकल जाने से रिक्त हुए स्थान में आकाष तत्व की वृद्धि के ही कारण उत्पन्न होता है।

3.3.4 ब्रह्मचर्य द्वारा आकाश तत्व की प्राप्ति :– ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में आचरण करना या ब्रह्म के अनुसार आचरण इसका दूसरा अर्थ इन्द्रियों के नियन्त्रण से भी लिया जाता है। ब्रह्मचर्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इसमें पहला उपकुर्वाण है जिसमें 25 वर्ष तक वेदाध्याय के पश्चात गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेना तथा दूसरा नैष्ठिक है। जिसमें जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। वैसे तो ब्रह्मचर्य अपने आप में काफी व्यापक शब्द है परन्तु जननेन्द्रि के संयम को ही सामान्यतः ब्रह्मचर्य माना जाता है। जिसमें आठों प्रकार के मैथुन का त्याग बतलाया गया है। इन्द्रिय के संयम द्वारा ब्रह्मचर्य में स्थापित हुआ जा सकता है। इसके अलावा विश्राम, प्रसन्नता आदि भी हे जिनके द्वारा हमें आकाश तत्व की प्राप्ति होती है।

अभ्यास प्रश्न–!

प्रश्न 1. आकाश तत्व को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है।

क. उपवास ख.स्टीम बाथ

ग.लपेट घ.मिटटी पटटी

प्रश्न 2. पंच तत्वो में आकाश तत्व का स्थानहै।

क. प्रथम ख.तृतीय

ग.पंचम घ.द्वितीय

प्रश्न 3. किसके संयम से आकाश तत्व की प्राप्ति होती है।

क. मन ख.आत्मा

ग.शरीर घ . ज्ञानेद्रियां

प्रश्न .4 अंहकार की उत्पत्ति किस तत्व से हुइ है।

क. प्रकृति ख.पुरूष

ग.महत् घ.आत्मा

3.4 वायु तत्व

वायु तत्व पंच महाभूतों में दूसरा आवश्यक तत्व है।इस प्रकार जल तत्व को जीवन की संज्ञा दी गयी है। उसी प्रकार वायु को प्राणियों का प्राण कहा गया है। जल व भोजन के बिना तो मनुष्य काफी समय तक जीवित रह सकता है परन्तु वायु के बिना कुछ ही मिनट में प्राणान्त भी हो सकता है। अतः यह मनुष्य जीवित रहने के लिये अत्यन्त आवष्यक तत्व है। एक सामान्य व्यक्ति एक मिनट में 14–18 बार श्वास लेता है और इस श्वास प्रष्वास की क्रिया का सम्बन्ध हमारे शरीर में स्थित सौ से अधिक मांस पेषियों से होता है। हमारे फेफड़ों में हर समय लगभग 60 घन इंच वायु मौजूद रहती है। जो वायु श्वास द्वारा फेफड़ों के भीतर आती है। उसमें अनेक गैसों का मिश्रण होता है। उन सभी गैसों में केवल आक्सीजन ही हमारे उपयोग की होती है। अन्य सभी गैसे रेचक के द्वारा वैसे ही बाहर निकल ही जाती है। केवल आक्सीजन भीतर रहकर हमारे फेफड़ों से रक्त में मिलती है और अषुद्ध रक्त शुद्ध कर देती है। वायु तत्व से सम्बन्धित अनेक उदाहरण हमारे ग्रन्थों में मिलते हैं जैसे ऋग्वेद में कहा गया है।

''वात आ वातु मेषजं शभु मर्याभुवोह्वदे।''

प्रण आयुषि तारिषत्

अर्थात यह वायु हमारे दवा बनाकर हमारे हृदय में शांति पैदा करे वह सुख देने वाला होकर हमारे पास बहता रहे। वह हमारे आयु को दीर्घ करें। इसी प्रकार एक अन्य ऋचा में भी वायु के गुणों की महानता का वर्णन मिलता है।

''यद्‌दो वात ते गहे मृतस्य निधिर्हितः ततोनो देहीजीवसेः।''

अर्थात हे वायु तेरे घर में जो वह पूर्ण अमृत का भण्डार है उससे हमारे दीर्घ जीवन के लिये थोड़ा सा भाग दें। हमारे शरीर में पांच प्रकार के वायु रहते हैं, प्राण, अपान, समान उदान और व्यान। हमारे शरीर में कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां वायु न हो। ये पांच प्रकार के वायु जिन्हें पंच प्राण कहा जाता है की स्थिति हमारे शरीर में पृथक–पृथक स्थानों पर होती है। जैसे प्राण वायु का स्थान हृदय प्रदेष, अपान वायु का स्थान कटि प्रदेश, समान वायु का स्थान नाभी प्रदेश, उदान वायु का स्थान, कण्ठ से ऊपर तथा व्यान का स्थान पूरे शरीर में होता है।

शरीर से मल मूत्र के विसर्जन का कार्य अपान वायु करती है। समान वायु भोजन के पाचन एवं शरीर के ताप को नियन्त्रित करती है। प्राण वायु शरीर में जीवनी शक्ति को बनाये रखता है। उदान वायु शरीर को गिरने से रोकती है तथा हमारे मस्तिष्क के प्रत्येक अंग को रक्त पहुंचाने का कार्य करती है। व्यान वायु रोग कूपों द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करके शरीर में शुद्ध रक्त की वृद्धि करती है।

3.4.1 पवन स्नान द्वारा वायु सेवन :– वास्तव में पवन स्नान और वायु सेवन एक ही है इसी अंग्रेजी में मोर्निग वाक या एयर बाथ कहते हैं। हमारी साधारण भाषा में ये टहलना कहते हैं। इस स्नान के द्वारा शरीर की बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार की शुद्धि होती है।

यह इस बात को ठीक से समझा जाये कि जिस प्रकार हम नाक द्वारा हर समय श्वास लेते है। ठीक उसी तरह हमारे शरीर में स्थित असंख्य रोमछिद्र द्वारा भी वायु का सेवन अनिवार्य है। तो हम इस पावन स्नान की महत्ता व इसके लाभ से कभी भी इंकार नहीं कर सकते। जैसे हम अपने घर को स्वच्छ रखने के लिये खिड़की, दरवाजों को वायु आने जाने के लिये खुला रखते हैं ठीक वैसे ही हमें अपने शरीर के रोम छिद्रों से शरीर में वायु का प्रवेश सदैव होते रहने देना चाहिये। जिसके लिये वायु स्नान के समय शरीर में वस्त्र कम से कम होने चाहिये और वह वस्त्र भी ऐसे हों जिनमें वायु का संचार हो सके जैसे खादी के वस्त्र, अन्य सिन्थैटिक वस्त्रों का उपयोग पवन स्थान करते समय वर्जित है। पवन स्नान करने का नियम यह भी है कि वायु प्राकृतिक होनी चाहिये बिजली के पंखे की हवा में कृत्रिम तरीके से स्नान करने से वह लाभ नहीं लिया जा सकता जो लाभ प्राकृतिक वायु से मिलता है किसी भी प्रकार की कृत्रिम वायु का उपयोग पवन स्नान के लिये करना हितकर नहीं है ये वायु उदान वायु को कुपित करती है तथा प्राण के संचरण को रोक देती है क्योंकि यह तेज और घूमती हुई होती है।

कपड़े के पंखे से प्राप्त हवा, शरीर का पसीना सुखाने, बेहोशी व थकावट को दूर करती है। बाड़ के पत्तों से निर्मित पंखे की हवा से तीनों दोष वात, पित्त व कफ कुपित होते है। बांस से निर्मित पंखे की हवा गर्म होने के कारण रक्तपित्त को कुपित होते है। बांस से निर्मित पंखे की हवा गर्म होने के कारण रक्तपित्त को कुपित करती है। इनके अलावा खस, मोरपंख आदि से बने पंखों की हवा स्निग्ध व हृदय को आनन्दित करने वाली होती है।

वायु का सेवन सदैव शुद्ध स्थान में ही करना चाहिये। अशुद्ध स्थान की वायु का सेवन करने से पाचन सम्बन्धि दोष, खांसी फेफड़ों में प्रदाह तथा दुर्बलता आदि दोष उत्पन्न उत्पन्न होते है। पवन स्नान करने का सबसे आसान तरीका है सुबह ताजी हवा में टहलना। परन्तु प्रश्न यह है कि कहां कैसे और कितना टहला जाये। कहां टहला जाये इसका उत्तर है कि टहलने के लिये ऐसे स्थान का चयन करे जहां पर बहुत से वृक्ष वनस्पतियां, आदि हों वातावरण शांत हो प्राकृतिक हवा का संचार ठीक से होता है।
कैसे टहलें इसका उत्तर यह है कि टहलते समय हमारा पूरा ध्यान अपने शरीर पर होना चाहिये दीर्घ श्वसन करते हुए सामान्य रफ्तार से थोड़ा तेजी से चलना चाहिये। टहलते हुए किसी से बातचीत नहीं करनी चाहिये, अक्सर देखा जाता है कि लोग टहलते समय अपने साथ एक दो साथियों को लेकर चलते हैं। जिनसे वे चलते–चलते बात करते हुए समय बिता सकें, परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये की हम समय बिताने के लिये नहीं टहलते बल्कि अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिये टहलते है। यदि समय की बात करे तो टहलने के लिये सूर्योदय से पूर्व का समय उत्तम होता है परन्तु यदि किसी कारण वश सुबह समय नहीं मिल पाता तो शाम को अवश्य ही टहलना चाहिये।

3.4.2 प्राणायाम द्वारा वायु सेवन :– प्राणायाम की अनेक विधियों द्वारा भी हम वायु का सेवन करते है परन्तु यह एक विशिष्ट विधि होती है और इसका उचित ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही अपनायी जाती है।

3.5 अग्नि तत्व

अग्नि तत्व पंच महाभूतों में तीसरा तत्व है अग्नि तत्व जीवन का उत्पादक है। ताप के बिना कोइ जीव या पौघा न उत्पन्न हो सकता है और नही विकसित हो सकता है पंच तत्वों में प्रथम दृव्य तत्व भी अग्नि ही है। इससे पूर्व के दो तत्व आकाश और वायु द्रव्यमान नहीं है। गायत्री मन्त्र में भी जो कि अग्नि तत्व के अधिष्ठात्मक सूर्य की ही उपासना की जाती है। सूर्य अग्नि का मूतिमान प्रतीक है।इसलिए सूर्य को जगत की आत्मा माना गया है यह प्रत्यक्ष देखने को मिलता हैकि जिन व प्रणियो को सूर्य की किरणे मिलती है वे पूर्णत विकसित होते हैऔर जिन्हे य

सूर्य की किरणे प्रर्याप्त मात्रा में नही मिलती वे पूर्ण विकसित नही होते और जल्दी समाप्त हो जाते है। भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से ही समय से ही सूर्य के गुणो को स्वीकार किया गया है ।इसिलिए प्राचीन काल से ही सूर्य उपासना की नाना व्यवस्थाएं प्रचलित है। जिन्हे धार्मिक मान्यताए प्राप्त है जैसे सूर्य को अर्घ देना नदी या जलाश्य मे खडे होकर सूर्य उपासना करना आदि जिसके माघ्यम से अग्नि तत्व को प्राप्त किया जा सकता है सूर्य से हमें प्रकाश व गर्मी ही नहीं मिलती बल्कि वह हमें बुद्धि और दीर्घायु भी प्राप्त होती है जैसे कहा गया है –

सवितानः सुवतु सर्वातीतं सवितानो रासतांदीर्घमायुः।

अर्थात यह श्रेष्ठ प्रकाश जो विष्व को प्रकाशित कर रहा है हमें सद्बुद्धि और दीर्घायु प्रदान करे। यह सत्य ही है, कि जो सूर्य के प्रकाश का सेवन जितना अधिक करेगा उसकी दिमागी शक्ति का विकास उतना अधिक होगा, हमारे ऋषि मुनी सूर्योपासना से ही बुद्धिमान बने। सूर्य की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है।

नमः सूर्याय शांताय सर्व रोग विनाषिते।
आयुषरोग्यमैष्वर्यदेहिदेव नमोस्तुते। आ0 ह्रदय

अर्थात शांतिप्रदान करने वाले सर्व रोग नाशक सूर्य भगवान को नमस्कार है। सूर्य देव आयु, अरोग्य और ऐष्वर्य हमें दो। आपको नमस्कार है।

"स्वास्ति श्रद्धां मषः प्रज्ञान विद्यांबुद्धिश्रियं बलम्।
आयुषं तेज–आरोग्य देहिमे द्रव्य वाहन।। ह0वि0

अर्थात हे हव्य वाहन। हवन ग्रहण करने वाले अग्निदेव, कल्याण, यश, श्रद्धा, विद्या, लक्ष्मी बल आयुष्य, तेज एवं आरोग्य प्रदान करो। अग्नि तत्व जीवन का उत्पादक है सूर्य के बिना कोई जीव व पौधा न उत्पन्न हो सकता है और न विकसित हो सकता है अग्नि तत्व से शेष चारो तत्व तृप्त होते हैइसी से संसार में सोन्दर्य हैं जीवन है अग्नि तत्व के अभाव में शरीर निर्जीव हो जाता हैऔर शरार में सुस्ती सर्दी वायु विकार गठिया आदि रोग हो जाते हैं

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है, कि भारतवर्ष में अनादिकाल से ही अग्नि तत्व की प्राप्ति के लिये सूर्य की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। क्योंकि हम सूर्य के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते भारत ही नहीं अपितु अन्य देशों मिश्र, यूनान, रोम, जपान आदि सभी देशों में सूर्य को देवता स्वीकार किया गया है। क्योंकि मूल रूप से सूर्य ही अग्नितत्व को प्रदान करने वाला है। सूर्य अग्नि तत्व का मूर्तीमान प्रतीक है। इसलिए सूर्य को जगत की आतमा कहा गया हैं। अग्नि तत्व को शेष चारों तत्वो का आधार माना जाता हैं।यही संसार के सौन्दर्य का द्योतक है। इसी सूर्य की वजह से पुष्प खिलते है, फल पकते है,

इसी के द्वारा समुद्र से जल वाष्पित होकर भूमि को सिंचित करता है। मानव की सभी वृत्तियां सुख, दुख, पाप, द्रव्य, लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि सभी सूर्य किरणों के संयोग से ही उत्पन्न होते है।

अग्नि तत्व के अभाव में शरीर निर्जीव हो जाता हैं तथा यदि कमी हो तो शरीर में सुस्ती, शीतजनित शोथ, सिकुड़न, वायु जनित पीड़ा, गठियां, मन्दाग्नि, निद्रा की अधिकता, कब्ज आदि उपद्रव आरम्भ हो जाते है।जैसा की हम पहले बता चुके हैं कि अग्नि तत्व की प्राप्ति का मूल स्रोत सूर्य ही है अतः अग्नि तत्व की प्राप्ति के लिये सूर्य के प्रकाश का विश्लेषण करना अनिवार्य हो जाता है जिससे इसके अनेक रंगो के गुण धर्मो का ज्ञान हो सके।

3.5.1 सूर्य के प्रकाश का विश्लेषण :– प्रकाश व्हाय रूप से भौतिक होते हुए की सूक्ष्म ही है, सूर्य प्रकार को यदि प्रकृति का उत्साह कहा जाये तो गलत नहीं होगा। सूर्य के प्रकाश विष्लेषण करने के लिये यदि सूर्य प्रकाश को प्रिज्म के भीतर से गुजारे तो हम देखेगें की वह प्रकाश सात भागों में विभाजित हो गया है। इस सप्तरंगी प्रकाश को अंग्रेजी में स्पैक्ट्रम कहा जाता है। इसके एक सिरे पर बैगनी व दूसरे सिरे पर लाल रंग दिखाई देता है। इन दोनों सिरों पर इनके अतिरिक्त और किरणें होती हैं बैगनी सिरे पर स्थित अदृष्य किरणों को नीलोत्तर किरणें (न्सजतंअपवसमज त्ंले) तथा लाल किरणों वाले सिरे पर अदृष्य किरणें (प्दतिं तमक तंले) इन्फ्रारेड किरणें स्थित होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई किरणें होती है। जिनका वर्णन यहां आवश्यक नहीं है। इनमें एल्फा (α) किरणे, बीटा (β) किरणें तथा गामा (γ) किरणें हैं। जिनका पता लग चुका है। तथा अन्य का पता लगाया जा रहा है।

3.5.2 अल्ट्रा वायलेट किरणें :–इनका प्रभाव हमारे शरीर पर निम्न प्रकार से होता है रक्त की कमी, अंगों में सूजन, संक्रामक रोग, गठियां, रक्त स्थानीय अधिकता आदि में ये किरणें लाभ प्रदान करती है। इन किरणों का प्रयोग सीधे नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ये अदृष्य होती है। चिकित्सकों द्वारा इसका प्रयोग मंत्रों के माध्यम से किया जाता है।

3.5.3 लाल किरणे :– सूर्य के प्रकाश के 80 प्रतिशत केवल लाल किरणें और इन्फ्रा रेड किरणें होती है। स्नायु मण्डल को उत्तेजित करना इनका मुख्य कार्य है। लाल रंग गर्मी को बढ़ाता है। रक्तहीनता व गठियां जैसे रोगों में लाल रंग के वस्त्र धारण करना अच्छा रहता है। जिन लोगों का हृदय कमजोर होता है। उन्हें लाल रंग के वस्त्र नहीं पहनने चाहिये, जिनके पैर सदैव ठण्डे रहते हैं। वे लोग लाल रंग के मौजे का प्रयोग लाभ के साथ कर सकते हैं। यह रंग चंचलता उत्पन्न करता है ये चंचलता रजोगुण के कारण आती है। क्योंकि रजोगुण का रंग लाल होता है। यह रंग वायु से जोड़ों का दर्द, सर्दी का दर्द, सूजन, मोच, लकवा आदि स्नायु मण्डल के सभी रोगों में लाभकारी है।

3.5.4 नारंगी रंग :– यह रंग गर्मी को बढ़ाता है। इसका उपयोग जीर्ण रोग में में किया जाता है। यह रंग दमा, नसों की बीमारी और लकवा आदि व्याधियों की एक उत्तम औषधि है। तिल्ली बढ़ने, मूत्राषय, व आंतों की षिथिलता, उपदंष आदि में नारंगी रंग किरण तप्त जल का प्रयोग किया जाता है। लाल रंग अत्यधिक गर्म होने के कारण आन्तरिक प्रयोग में नहीं लाया जा सकता इसलिये उसके स्थान पर नारंगी रंग का प्रयोग किया जा सकता है।

3.5.5 पीली किरणें :– पीले रंग का उपयोग बसंत ऋतु में लाभकारी सिद्ध होता है। इस ऋतु में पीले वस्त्र धारण करने चाहिये, पीले रंग का कपड़ा पहनने से ज्ञानतन्तु चैतन्य एवं

निरोग रहते हैं मलावरोध को दूर करता है यह रंग बुद्धि विवेक एवं ज्ञान की वृद्धि करने वाला होता है तथा पाचन क्रिया को बढ़ता है।

3.5.6 हरी किरणें :– यह रंग आंखों तथा त्वचा से सम्बन्धित रोगों में बहुत लाभकारी है, यह भूख को बढ़ाता है जिन लोगों में खुजली या नासूर, चेचक आदि चर्म रोग हों उन्हें हरे रंग का वस्त्र पहनना चाहिये। इसके द्वारा पांव का फटना, दर्द, खुजली, फोड़े, गंजापन, रक्तपित्त अर्थात नाक, छाती, मुंह, गुदा द्वारा रक्त गिरना, स्त्रियों में होने वाला रक्त प्रदर, बवासीर आदि रोग शीघ्रता से अच्छे होते हैं। हरा रंग विजातीय द्रव्य को बाहर निकालने तथा रक्त को शुद्ध करने का काम करता है।

3.5.7 आसमानी किरणें :– यह रंग ठण्डक और शांति दायक है। इसमें विद्युत शक्ति होती है। जब शरीर में गर्मी की अधिकता हो उस समय इस रंग का प्रयोग करना चाहिये। गर्मी की अधिकता से होने वाले रोग जैसे–पेचिश, ज्वर, श्वास, कास, सिरदर्द अतिसार, संग्रहणी, मस्तिष्क के रोग, प्रमेह, पथरी व मूत्र विकार आदि सभी रोग इस रंग के प्रयोग से अच्छे हो जाते है। यह सभी रंगों में श्रेष्ठ है। सभी प्राणियों का प्राकृतिक जीवन इसी रंग पर निर्भर करता है। क्योंकि पृथ्वी के चारों ओर फैले आकाश का रंग, आसमानी है यह रंग जीवों को जीवनी प्रदान करता है। यह रंग भक्ति और प्रेम को उत्पन्न करने वाला है।

3.5.8 नीली किरणें :– नीली किरणें शांतिदायक व ठंडी होती है शरीर की गर्मी को दूर करने के लिये इसका प्रयोग होता है। नीले रंग की कमी होने पर तथा लाल रंग के बढ़ जाने पर मनुष्य में ज्वर, अतिसार एवं पेट में मरोड़ आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इस रंग से तप्त जल से ज्वर फोड़े फुंसी, टांसिल, मुंह के छाले आदि में काफी लाभ होता है।

3.5.9 बैगनी किरणें :– बैंगनी रंग की प्रवृत्ति भी नीले व हरे रंग की भांति शीतल ही है। यह शरीर के ताप को घटाने में सहायक है। पागल कुत्ते के काटने, स्नायु दौबल्य आदि में इस रंग से तप्त जल का प्रयोग लाभकारी होता है।

3.5.10 नीलोत्तर या अल्ट्रावायलेट किरणें :– ये किरणें भी इन्फ्रारेड किरणों की ही भांति अदृष्य है। यह बैंगनी किरण के ठीक बाद स्थित होती है। ये किरण के प्रयोग से भयंकर रोगों के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। इसमें अत्यधिक विष नाषक शक्ति उपस्थित होती है। इन किरणों के रोग नाषक प्रभाव को वैज्ञानिकों न एक स्वर में स्वीकार किया है। इन किरणों के उपयोग से त्वचा के रोग, बच्चों की हड्डियों का टेढ़ा होना, मधुमेह, हिस्टीरिया स्त्रियों में मासिक धर्म सम्बन्धी रोग बहुत ही सुगमता व दृढ़ता के साथ ठीक किये जा सकते हैं। इस प्रकार हमने देखा की अग्नि तत्व हमारे जीवन में कितना उपयोगी है और किस प्रकार सूर्य की विभिन्न रष्मियों के माध्यम से हम उसे ग्रहण कर सकते हैं और दीघायुव्य को प्राप्त कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न–2

प्रश्न .1 वायु तत्व को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है।

क. पवन स्नान ख.स्टीम बाथ

ग.लपेट घ.मिटटी पटटी

प्रश्न .2 प्रणायाम द्वारा किस तत्व को बढाया जा सकता है।

क. अग्नि ख.वायु

ग.जल घ.पृथ्वी

प्रश्न .3 सुर्य में कितने प्रतिशत लाल किरणें है।

क. 60 प्रतिशत ख.20 प्रतिशत
ग.80 प्रतिशत घ.40 प्रतिशत

प्रश्न .4 नीली किरणे .... होती है।
क. अत्यधिक गर्म ख.20 ठंडी
ग.ठंडी व शान्तिदाय घ.कीटाणु नासक

3.6 जल तत्व :–

सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर की चेतना शक्ति की प्रेरणा से क्रमशः आकाश, वायु व अग्नि के प्रादुर्भाव होने के बाद रूप तन्मात्र के विकृत होने से रस तन्मात्र का प्रादुर्भाव हुआ जिससे जल तत्व की उत्पत्ति हुई जल के अनेक पर्यायवाची सलित, नींद, अम्बु, आम, वारि, तोय, पय, उदक, जीवन, अमृत आदि है इन सभी नामों में जल का नाम अमृत होना इस बात का द्योतक है कि प्राणियों का जीवन को धारण करना जल पर ही निर्भर है। अर्थात जल ही जीवन है। वेदों में जल के गुणों की प्रशंसा तथा उसके द्वारा रोगों की निवृत्ति के सम्बन्ध में अनेक ऋचाएं उपस्थित है।

जैसे – जलाषणभिषिंसिंचत जलाषेणोपसिंचत।
जलाषमुग्रं भेषजं तेननोमुद जीवसे।। जृम06 अ0ज0न02

अर्थात भगवान आदेश देते हैं कि जल से अभिसिंचन करो, जल से उपसिंचत करो। जल सर्व प्रधान औषधि है। इसके सेवन से जीवन सुखमय बनता है और शरीर की अग्नि भी आरोग्यवर्धक होती है।

''अमृतं वै आपः'' तै0आ0 1/16

अर्थात – जल ही अमृत प्रदान करने वाला है।

शन्नों देवी रभिष्टये आपो भवन्तु
पीतये शंयोरभिस्रवन्तुनः। ऋ010/9/4

अर्थात – हे भगवन! दिव्य गुणों से युक्त जल हमारे लिये सुखकारी हो, अभिष्ट पदार्थ की प्राप्ति कराये, हमारे पान करने के लिये हो, सम्पूर्ण रोगों का नाश करे तथा रोगों से उत्पन्न होने वाले भय को दूर करे और हमारे सामने बहे।

जल पंच महाभूतों में चौथा तत्व है। यह जीवन के लिये उतना ही महत्वपूर्ण जितना की श्वास। मनुष्य के शरीर में 70 प्रतिशत भाग मात्र जल होता है। हमारी आंखों में 98.7 प्रतिशत फेफड़ों में 79 प्रतिशत हृदय में 79.5 प्रतिशत रक्त में 80 प्रतिशत हड्डियों में 25 प्रतिशत तथा हमारे मस्तिष्क में 90 प्रतिशत जल ही होता है। इस संसार का तो प्रारम्भ ही जल से हुआ है। यह वैज्ञानिक विकासवाद औपनिषदिक सृष्टिवाद तथा पौराणिक अवतारवाद से सिद्ध है। अतः यह जल ही हमारा पोषण करने वाला है। इसके बिना जीवन संभव नहीं है। जल के विषय और अधिक जानने के लिये उसके प्रकारों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसे मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. मृदु
2. अस्थायी कठोर
3. स्थायी कठोर

3.6.1 मृदु जल :–बहती नदी या दरिया का पानी, वर्षा का पानी, उथले कुओं का जल मृदु होता है। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकारी नहीं होता, परन्तु इस प्रकार का जल

साबुन में में घुलकर अधिक झाग उत्पन्न करता है। जिससे कपड़े अच्छी तरह से धुलते है। यही इसकी पहचान भी है।

3.6.2 अस्थाई कठोर जल :– इस जल को उबालने से उसकी कठोरता दूर हो जाती है। तथा वह मृदु हो जाता है। जैसे संग्रहित जल या जुती भूमि पर एकत्र जल प्रायः अस्थाई कठोर होता है।

3.6.3 स्थाई कठोर जल :– यह जल हम पीने के लिये प्रयोग में लाते हैं इस प्रकार के जल में खनिज पदार्थ उपस्थित होते है। जैसे गहरे कुओं एवं नल का पानी कठोर होता है। चूना आदि खनिज जो जल में धुल जाते हैं। तथा वे जल को कठोर बना देते है। ऐसे जल में साबुन से झाग उत्पन्न नहीं होता है। वास्तव में जल तत्व स्वच्द व स्वाद रहित होता है। परन्तु कुछ अन्य भौतिक पदार्थो के संयोग से इसका स्वाद परिवर्तित होकर मीठा, नमकीन, कसैला, तीखा, खट्टा आदि हो जाता है। वस्तुओं को गीला करना, प्राणियों को तृप्त करना पदार्थो को कड़े से मृदु बचना, ताप की निवृत्ति करना तथा स्वच्छता प्रदान करना ये सभी जल तत्व की वृत्तियां है।

भ्रम, कलान्ति, मूर्छा, पिपासा, तन्द्रा, वमन, और निन्द्रा आदि को दूर करना, शरीर के दोषों को दूर करना छः प्रकार के रसों मृदु, लवण, कटु, अम्ल तिक्त और कषाय का कारण बनना, ये इसके साधरण कार्य हैं। शीतलता, सरलता, व्यापकता, हल्कापन, स्वच्छता, अस्थिरता आदि इसके प्राकृत गुण है।

3.7 पृथ्वी तत्व

पंच तत्वों यह पांचवा व अन्तिम तत्व है। समस्त जड़ चेतन वस्तुओं पदार्थो को धारण करने के कारण इसे धरती, धारत्री, धरा भी कहते है। इसके पृथ्वी के गर्भ में अनेक रत्न भरे होने से इसे रत्नगर्भा भी कहते हैं।सभी रस पृथ्वी में मोजुद है इसके गर्भ में खाघ्य पदार्थ पोषक तत्व होते है जिन्हे खाकर हम स्वस्थ्य बनते है।इसलिए इसे रसा भी कहते हैं विष के प्रभाव को नष्ध करने के करण इसे अमृता भी कहते है।और सभी रोगो को दूर करने के कारण इसे सर्वरोग हारी कहा जाता है।

श्रीमद् भागवत पुराण के कथानुसार राजा पृथु ने पृथ्वी को सजा संवार कर उससे सभी प्रकार की औषधियों का दोहन करके मानव जाति का बहुत कल्याण किया था तभी से इसे पृथ्वी कहा जाने लगा। मिट्टी का अर्थ है। इस सृष्टि में नित्य नयी वस्तुएं बनाकर फिर उन्हें नष्ट करके मिटा देना। पृथ्वी अन्य चारों तत्वों के संयोग द्वारा ही उत्पन्न होता है।

यथा – ''एषां भूतानां पृथ्वी रसः'' छांदोग्य उपनिषद

अर्थात – जिस पंच तत्वों द्वारा हमारा शरीर निर्मित है, पृथ्वी तत्व उन सभी से प्रधान है।

बाइबिल के मत के अनुसार – ईष्वर ने धरती की धूल से मानव का पुतला बनाया है। उसके नथुनों में प्राण फूंके और वह सजीव प्राणी हो गया।

वेदों में ''पृथ्वी माता धौः न पिता'' अर्थात पृथ्वी हमारी माता है तथा आकाश पिता है। ऐसा कहा गया हैं। तैतरीयापनिषद में वर्णित है कि आकाष की उत्पत्ति आत्मा से वायु की आकाश से अग्नि की वाुय से जल की अग्नि से पृथ्वी की जल से औषधि वनस्पतियों की पृथ्वी से अन्न की तथा मनुष्य की उत्पत्ति अन्न से हुई है। अतः मानव सृष्टि का उत्पादक यह पृथ्वी (अन्न) ही है।

3.7.1 पृथ्वी तत्व (मिट्टी की शक्ति का गुण) – मिट्‌टी को प्राप्ति की दृष्टि से जितना सुलभ व नगण्य समझा जाता है। उसकी शक्ति व गुण उतने ही अधिक है।

- सभी प्रकार की दुर्गन्ध को मिटाने के लिये इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।
- मिट्‌टी में ठण्ड व गर्मी को सामान्य बनाने की क्षमता होती है। मिट्‌टी से बने घरों में गर्मी में कूलर व सर्दी में हीटर लगाने की आवष्यकता नहीं होती क्योंकि मिट्‌टी ताप को नियन्त्रित करने में सक्षम होती है। जिससे न तो अधिक गर्मी लगती है और न अधिक ठण्ड
- मिट्‌टी से छनकर अषुद्ध जल शुद्ध हो जाता है। कूपों, सरिताओं और स्रोतों का जल इसी कारण सदैव निर्मल व शुद्ध होता है।
- मिट्‌टी में एक विलक्षण विद्रावक शक्ति होती है जो बड़े से बड़े फोड़े पर मिट्‌टी की पट्‌टी रखने से उसे पकाकर मवाद को बहा देती है। तथा घाव को भर देती है।
- मिट्‌टी विषनाषक कही जाती है इसमें विषों का नाष करने की अद्वितीय शक्ति होती है। सूर्य, बिच्छू आदि प्राणियों के काटने पर उस स्थान पर मिट्‌टी का युक्तिपूर्वक लेप करने से विष का असर समाप्त हो जाता है।
- मिट्‌टी में सभी प्रकार की धातुओं तथा जल आदि को धारण करने की शक्ति है।
- मिट्‌टी में भिन्न–भिन्न रसों के साथ अनेक खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने की अद्वितीय शक्ति है।

अभ्यास प्रश्न–3

प्रश्न .1 जल के.......................... प्रकार है।

क. 2 ख.4
ग.3 घ.5

प्रश्न .2 मिटटी में.................. मिटाने की शक्ति होती है।

क. दुर्गन्ध ख. सुगन्ध
ग. जीवन घ. प्राण

प्रश्न –3 पंचतत्वो मे पृथ्वी तत्व का कौन सा स्थान हैं

क– प्रथम ख–द्वितीय
ग–पंचम घ–तृतीय

प्रश्न –4 मिटटी में विलक्षण.............. शक्ति होती है।

क– विद्रावक ख–अद्वतीय
ग–भीषण घ.सुगन्धित

3.8 महतत्व (रामनाम) :–

महतत्व प्राकृतिक चिकित्सा या यूं कहे कि सृष्टि का ही आधार है तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर का कोइ महत्व नही होता उसी प्रकार महत् तत्व के बिना पंच तत्वो का कोइ अस्तित्व नही होता क्योकि पंच तत्वो को कियान्वित करने का कार्य महत् तत्व द्वारा ही किया जाता है।सर्वशक्तिमान ईश्वर से अर्विभूत पांच तत्वो का क्रम ही हमारे जीवन स्वास्थ्य और आन्द के लिए उनकी उपादेयता और मूल्य के दृष्टिसे

वास्तविक एंव प्राकृतिक कम है। ईश्वर या राम नाम के बिना तो हमारी कोई सता है ही नही इस महत् ततव का हमे अनवरत स्मरण रहना चाहिए सर्व शक्तिमान ईश्वर ही सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला है इसलिए महत् तत्व ही पांचो तत्वो को कियान्वित करता है। राम नाम या ईश्वर नाम (अपने–अपने धर्मानुसार) के बिना प्राकृतिक चिकित्सा पूर्ण नहीं हो पाती। प्राकृतिक चिकितसा के साधनों आकाष तत्व, वायु तत्व, अग्नि तत्व, जल तत्व व पृथ्वी तत्व ये सभी सघनों का शक्ति स्रोत राम नाम ही है। राम नाम के विषय में रविन्द्र नाथ ठाकुर तथा गांधी जी के सहयोग संत गुरूदयाल मल्लिक जी ने लिखा है

महापुरूषों के चरणों में बैठकर और जीवन का अनुभव लेकर मुझे यह विश्वास हो गया है। कि प्रकृति प्रभु का आंगन है। इसलिये प्रकृति के नियमों को जानना प्रभु को कुछ–कुछ जानने जैसा ही है। एक ईसाई सज्जन ने उन्हें बताया कि वे रवस्थ रहने के लिये प्रतिदिन प्रभु का स्मरण करते हैं। धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हैं और साथ ही अपने पेट का भी ख्याल रखते हैं दोनों कार्य आवश्यक है। बिना राम नाम के कोई चिकित्सा सकल नहीं हो पाती। गांधी जी ने कहा कि जो मनुष्य श्रद्धा से रोग से मुक्ति पा लेता है। उसका यही रहस्य है। कि ईष्वर स्वयं सतय, स्वास्थ्य तथा प्रेम है और साथ ही वह वैध भी है। अतः राम नाम का आश्रय लेने से सभी प्रकार के रोगों के ठीक होने में देर नहीं लगती।

यदि चिकित्सा शास्त्र से महत्व चिकित्सा का अंष निकाल दिया जाये तो वह विनाष निष्चित है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रार्थना द्वारा ईष्वर का आश्रय लेने से रोग शोक, दुःख, विपत्ति सभी से मुक्ति मिल जाती है। जो कुछ हो रहा है, ईष्वर की मरजी से तथा हमारी भलाई के लिये हो रहा है। इस प्रकार अनुभूति से ही परम शान्ति प्राप्त होती है। महात्मा ईषा के शब्द है तुम ईश्वर को प्राप्त करो तो जगत और उसके पदार्थ तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायेगें, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत तो ईष्वर का ही है।

प्रार्थना द्वारा मन के कलमस साफ हो जाते हैं तथा आत्मा विशुद्ध हो जाती है। आत्मा विशुद्ध हो जाने पर अपना सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित कर सकता है। जिससे स्थाई सुख शांति की प्राप्ति होती है।

जैसे – सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मयो वेद निहितं गृहायां परमे व्योमन।
सोष्नुते सर्वान् कामान। (उपनिषद)

अर्थात – ब्रह्म, सत्य और ज्ञान अन्नत है। वह हृदयाकाश की गुफा में निवास करता है। जो उसे जान लेता है। उसकी सभी कामनायें पूर्ण होती हैं।

ईश प्रार्थना करने की जाय इसका कोई निश्चित नियम बनाना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह मनुष्य का आन्तरिक विषय है और प्रत्येक मनुष्य के अर्न्तमन की दषा भिन्न–भिन्न होती है। परन्तु फिर भी एक साधारण रीति को अपनाया जा सकता है। इसके लिये निम्नलिखित रीति को अपनाना चाहिये।

प्रार्थना का सर्वोत्तम समय सुबह उठते समय व रात्रि में सोने से पूर्व है। सुबह की प्रार्थना में भगवान से उस दिन हमारे काम अच्छे से हो जायें इस बात की प्रार्थना करनी चाहिये, तथा शाम को प्रार्थना में दिन भर जो भी अच्छा या बुरा कार्य किया उसे प्रभु को समर्पित करते हुए उन्हें प्रणाम करना चाहिये, तथा जो भी बुरा किया गया है उसके लिये क्षमा याचना करनी चाहिये तथा साथ ही यह भी प्रण करना चाहिये कि इन बुरे कार्यो को फिर नहीं दोहरायेगें, इस प्रकार से प्रार्थना खुले दिल से करनी चाहिये, उसमें कोई छल, झूठ या

कोई खोट नहीं होना चाहिये। प्रार्थना की मधुरता बढ़ाने के लिये उसे शुद्ध हृदय से किया जाना अनिवार्य है। प्रार्थना हमारे मुख से नहीं अपितु हमारे हृदय से होनी चाहिये।

3.8.1 प्रार्थना द्वारा रोग निवारण :– प्रार्थना द्वारा कठिन से कठिन रोग भी दूर किया जा सकता है। जब कोई रोगी या उसका अभिभावक रोग निवृत्ति के लिये प्रार्थना करते है तब प्रार्थना के सूक्ष्म अणु रोगी शरीर के कोषिकाओं को बदलकर उसे स्वास्थ्य प्रदान करते है।

गांधी जी राम नाम और उससे उत्पन्न पंचमहाभूत दोनों को विशुद्ध प्राकृतिक चिकित्सा साधन मानते थे जबकि बाकी सभी प्राकृतिक चिकित्सक केवल पांच महाभूतों को ही स्वीकार करते है। गांधी जी बार–बार कहा करते थे कि राम नाम रोगी के लिए अचूक चिकित्सा है। यह प्राकृतिक चिकित्सा का केन्द्र बिन्दु है। राम नाम के जप से रोगी को आरोग्यता की प्राप्ति होती है।

3.9 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पंच महाभूतों को समझे बिना कोई भी प्राकृतिक चिकित्सा का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये पंच तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रस्तुत ईकाई में पंच तत्वों की उत्पत्ति एवं इन तत्वों को प्राप्त करने के साधनों के बारे में चर्चा की गई है। साथ ही महत् तत्व का भी वर्णन किया गया है। क्योंकि महत् तत्व के बिना चिकित्सा पूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि चिकित्सा केवल शरीर मात्र की नहीं बल्कि आत्मा की भी होती है। जिसके लिये महत् तत्व का ज्ञान होना आवश्यक है।

3.10 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

अभ्यास प्रश्न–1

उत्तर– 1.क 2.क 3. क 4.ग

अभ्यास प्रश्न–2

उत्तर– 1– क 2– ख 3– ग 4– ग

अभ्यास प्रश्न–3

उत्तर– 1– ग 2– क 3– ग 4– क

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1–पंच तत्वो द्वारा सम्पूर्ण रोगो की चिकित्सा –पं श्री राम शर्मा आचार्य
2–योग एंव प्राकृतिक चिकित्सा –ब्रहमवर्चश
3 प्राकृतिक आर्युविज्ञान– डां राकेश जिन्दल

3.12 निबंधात्मक प्रश्न :–

- पंच तत्वों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।
- आकाश तत्व को प्राप्त करने के साधन क्या है।
- पवन स्नान की विधि तथा लाभ बताइये।
- सूर्य में कितने प्रकार के रंग होते है बतलाइए ।

इकाई–4 स्वास्थ्य एवं रोग की अवधारणा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 स्वास्थ्य की अवधारणा
4.3.1 स्वास्थ्य का अर्थ
4.3.2 स्वास्थ्य की परिभाषायें
4.3.3 आयुर्वेद में स्वास्थ्य की अवधारणा
4.3.4 स्वास्थ्य की आवश्यकता (या महत्त्व)
4.3.5 स्वास्थ्य के अंग या प्रकार
4.3.6 स्वस्थ शरीर के लक्षण
4.3.7 स्वस्थ जीवन के मूलभूत नियम
4.4 रोग की अवधारणा
4.4.1 रोग का अर्थ
4.4.2 रोग की परिभाषायें
4.4.3 रोग के कारण
4.4.4 रोग के प्रकार
4.4.5 रोगों से लाभ
4.5 सारांश
4.6 पारिभाषिक शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

स्वास्थ्य जीवन की अनमोल निधि है। स्वास्थ्य जीवन का आधार है, बिना स्वास्थ्य के जीवन जीना दूभर एवं नीरस है। स्वस्थ पुरुष ही इस संसार में रहकर सभी कार्यों का संपादन सुचारुरूप से करके जीवन का आनन्द उठा सकता है। संसार में सुख–शान्ति, धन–वैभव, मान सम्मान आदि स्वास्थ्य रहने पर ही प्राप्त होती है। स्वस्थ रहना मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है। परमात्मा ने हर प्राणी को ऐसे साधन देकर भेजा है कि वह निरोग और स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सके। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य प्राणी कमजोरी और बीमारी के चंगुल में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। जबकि सृष्टि के समस्त प्राणी साधारण बुद्धि रखते हुए भी निरोग रहते हैं। इस पर विचार करने पर देखा जाता है कि मनुष्य को छोड़कर सृष्टि के समस्त जीव प्राकृतिक जीवन जीते एवं स्वस्थ और निरोग रहते हैं जब कि मनुष्य अप्राकृतिक जीवन जीते हैं, गलत खान पान, मिथ्या आहार–विहार व आचरण करते हैं और

अपने शरीर में मलों को इकट्ठा कर रोग ग्रस्त हो जाते हैं और अपना जीवन दुःखमय बना लेते हैं। अप्राकृतिक आहार–विहार के कारण आज विविध प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों की बाढ़ सी आ गयी है। अतः हमें निरोग व स्वस्थ होने के लिए प्राकृतिक जीवन शैली अपनानी होगी।

प्रस्तुत इकाई में स्वस्थ्य की अवधारणा अर्थ, परिभाषाएँ, स्वस्थ पुरुष के लक्षण, स्वास्थ्य रक्षा के उपाय तथा रोग की अवधारणा, परिभाषाएँ, कारण व लक्षण व प्रकार तथा रोग से बचने के उपाय विवेचन किया गया है।

4.2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि–

- स्वास्थ्य क्या है। इसके अर्थ एवं परिभाषाएँ क्या हैं ?
- स्वास्थ्य की आवश्यकता क्या है। स्वास्थ्य के अंग या प्रकार क्या हैं ?
- स्वस्थ पुरुष के लक्षण कौन–कौन से हैं ?
- स्वास्थ्य रक्षा के उपाय क्या हैं ?
- रोग क्या है ? व रोग की परिभाषाएँ क्या हैं ?
- रोग का कारण क्या है इसकी विस्तृत जानकारी मिल सकेगी।
- रोग के लक्षण क्या हैं ?
- रोग से बचने के उपाय क्या हैं ?

4.3 स्वास्थ्य की अवधारणा

स्वास्थ्य प्रकृति की स्वाभाविक देन है। देव दुर्लभ मानव शरीर को स्वस्थ रखे बिना प्राणी अपने लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाता। कर्म, ज्ञान, भक्ति उपासना और चतुर्विधि पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के समुचित साधन स्वस्थ जीवन में ही सम्भव है। आजकल शारीरिक तथा मानसिक भोग–विलास के प्रसाधनों की इतनी विपुलता हो गयी है कि सामान्य मानव मानसिक शान्ति और शारीरिक स्वास्थ्य से दिनों–दिन विमुख एवं वञ्चित होता जा रहा है। जीवन की अस्तव्यस्तता, विलासिता या इन्द्रिय लोलुपता, अप्राकृतिक आहार–विहार नकारात्मक चिन्तन के कारण मानसिक तनाव व विकार तथा शारीरिक कष्ट बढ़ता जा रहा है, जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र का पतन होता जा रहा है, यह हमारे लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है।

आवश्यकता इस बात है कि व्यक्ति यदि प्राकृतिक जीवन यापन करें अर्थात अपने खान–पान, आहार–विहार, रहन–सहन एवं विचारों पर संयम रखते हुए प्रकृति के नियम पर चले तो व्यक्ति आजीवन स्वस्थ रहा सकता है। स्वस्थ जीवन जीने के लिये हमें कुछ नियम व सूत्रों का जानना आवश्यक है, जैसे स्वास्थ्य क्या है ? स्वस्थ पुरुष के लक्षण क्या हैं, स्वास्थ्य के अर्थ, एवं परिभाषायें प्रकार व नियम क्या है ? आदि को जान कर ही हम स्वास्थ जी सकते हैं।

4.3.1 स्वास्थ्य का अर्थ–स्वास्थ्य की ऐसा शब्द जिसका उपयोग दिन प्रतिदिन के जीवन में सभी मनुष्य अनुभव करते हैं और उसका अर्थ भी अलग–अलग समझते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि शरीर अपना कार्य सुचारू रूप से करता रहे, दैनिक चर्या पूरी होती रहे, रोग का आक्रमण न हो अथवा उपचार के लिये किसी चिकित्सक की सलाह न लेनी पड़े तो ऐसे व्यक्ति के स्वास्थ्य को हम अच्छा समझेंगे और यह मनेंगे कि व्यक्ति स्वस्थ है।

स्वास्थ्य शब्द स्वस्थ शब्द से बना है जो व्यक्ति के स्वस्थ होने के गुण या विशेषता को दर्शाता है। स्वस्थ शब्द स्व+स्थ से मिलकर बना है जिसका अर्थ है जो स्वयं में स्थित हो। तात्पर्य यह है कि वह अवस्था जिसमें व्यक्ति अपने में स्थित हो, स्वास्थ्य कहलाता है। जब हम अपने मूल स्वरूप में नहीं होते हैं तो हमारे अन्दर नाना प्रकार की विकृत आने लगती है, तो हम अस्वस्थ हो जाते हैं। अस्वस्थ होने पर नाना प्रकार की बीमारियाँ हमें घेर लेती है, और शरीर की शक्ति धीरे–धीरे क्षीण होने लगती है और हम काम करने के अयोग्य हो जाते है।

मानव शरीर एक ऐसा विचित्र यंत्र है, जिसकी तुलना किसी भी अत्यन्त आधुनिक उकरण से नहीं दी जा सकती है। शरीर के सभी अंग प्रत्यंग इस एक रूपता तथा सामंजस्य के साथ कार्य करते हैं कि व्यक्ति स्वस्थ बना रहता है। जीवित प्राणी न केवल अपने समान प्रजनन की क्षमता रखता है अपितु शरीर के सभी अंगो की मरम्मत तथा क्षति पूर्ति तथा आरोग्य भी करता है। मानव शरीर के प्रत्येक अंग में आश्चर्यजनक एक रूपता तथा अन्तर्निहित शक्ति होती है, जिसके कारण विकट शारीरिक पुंगता की क्षतिपूर्ति हो जाती है। स्वास्थ तभी खराब होते है जब शारीरिक अंगो की समरूपता त्रुटिपूर्ण जीवन शैली के कारण अस्त–व्यस्त हो जाती है।

स्वाभाविक स्वास्थ्य प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट है, इसके पहचान की व्याख्या करते हुए पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी लिखते हैं कि ''जिस काम के करने में किसी प्रकार की तकलीफ न हो , श्रम से जो न उकताए, मन में काम करने के प्रति उत्साह बना रहे, और मन प्रसन्न रहे और मुख पर आशा की झलक हो तो यही शरीर के स्वाभाविक स्वास्थ्य की पहचान है।''

सामान्यतः व्यक्ति के शरीर को निरोगी होना ही 'स्वास्थ्य'' समझा जाता है। जबकि शरीर का निरोगी होना 'स्वास्थ्य' का एक पहलू मात्र है। स्वास्थ्य एक सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक कुशलक्षेम की अवस्था है, केवल रोग और अशक्तता की अनुपस्थिति मात्र नहीं।

स्वास्थ्य जीवन का सबसे अनमोल निधि है। इसी पर मनुष्य की प्रसन्नता, खुशहाली, समृद्धि एवं क्रिया–कलाप निर्भर होते हैं। लेकिन स्वास्थ्य के संदर्भ में अनेक भ्रान्तियाँ है तथा उचित परिप्रेक्ष्य में इसका आँकलन नहीं किया जाता है। आवश्यकता इस बात की है, कि प्रत्येक मनुष्य को स्वास्थ्य का सही अर्थ एवं स्वस्थ जीवन की विशेषताओं का सही–सही ज्ञान होना चाहिए, जिससे जब उन मानदण्डों जो स्वस्थ जीवन के हैं, से विचलित होता है तो प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग करके पुनः स्वस्थ हो जाय एवं सामान्य जीवनयापन करने लगे।

4.3.2 स्वास्थ्य की परिभाषाएँ–

महर्षि चरक के अनुसारः–

त्रय उपस्तम्भा आहारः स्वप्नोब्रह्मचर्यमिति।

स्वस्थ शरीर के तीन उपस्तम्भ माने गये हैं आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य।

स्वास्थ्य का शाब्दिक अर्थ है '' शरीर एवं मस्तिष्क का ऐसी अवस्था में होनो जिससे वह सभी कार्य सुचारू रूप से कर सके।

डॉ० हेनरी लिंडलार के अनुसार– स्वास्थ्य उन तत्त्वों एवं शक्तियों का एक सामान्य एवं समन्वित (harmonious) कंपन (vibration) है जो मानव अस्तित्त्व को गठित करने

वाले भौतिक, मानसिक एवं नैतिक धरातलों पर व्यक्ति से सम्बद्ध प्रकृति के निर्माणकारी सिद्धान्त के अनुरूप है।

Health is normal and hormonius vibration of the elements and forces composing the the human entity on the Physical, mental and moral planes of being in conformity with the constructive principle in Nature applied to individual life.

विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O) के अनुसार शरीर को मात्र रोगों से बचाकर रखना। अथवा अशक्त न होना ही स्वास्थ्य नहीं है अपितु स्वास्थ्य से अभिप्राय सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक एवं सामाजिक अवस्था में स्वस्थ रहने से है।''

-Health is a state of complete physical, mental, Spiritual and srial wellbeing and not merely the absence of disease or infirmity.

• कारलायल के अनुसार– एक स्वस्थ मनुष्य अपने स्वास्थ्य के विषय में जानकारी नहीं रख सकता, क्योंकि स्वास्थ्य ही जीवन है।

• जे० एस० विलियम्स के अनुसार–''स्वास्थ्य जीवन का वह गुण है, जो व्यक्ति को अधिक समय तक जीवित रहने तथा सर्वोत्तम प्रकार से सेवा के योग्य बनाता है।

• वेब्सटर के अनुसार – स्वस्थ शरीर, मन या आत्मा में स्वस्थता तथा निरोगता की अवस्था है, मुख्यतः यह शारीरिक रोग अथवा दर्द का अभाव है।

• पूज्य बापू महात्मा गाँधी के अनुसार– मैं जितना ज्यादा विचार करता हूँ उतना ही ज्यादा महसूस करता हूँ कि ज्ञान के साथ हृदय से लिया हुआ रामनाम सारी बीमारियों की रामबाण दवा है। रामनाम द्वारा शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी व्याधियाँ दूर हो जाती है। ईश्वरीय नियम पालने से ही शरीर निरोग रह सकता है– शैतानी नियम पालने से नहीं। जहाँ सच्चा आरोग्य है वहीं सच्चा सुख है और इसके लिये हमें स्वादेन्द्रिय जीभ को जीतना ही जरूरी है।

• प्रैक्लीन पी० एडम्ज के अनुसार– स्वास्थ्य वह वस्तु है जिससे मनुष्य संसार के सुख भोगते हुए सदैव आनन्दित रहता है।

• बर्टहेट ई० (Berthet, E) – हमें स्वास्थ्य रोग के संदर्भ में न परिभाषित करके प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सामंजस्य रूप से विकास के संदर्भ में परिभाषित करना चाहिए। क्योंकि अन्ततोगत्वा यह एक व्यक्ति की सम्पूर्ण क्षमता – जैविकीय, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक के संतुलित स्थिति का द्योतक है, तथा वैयक्तिक स्वास्थ्य के संदर्भ में परिवार तथा सामुदायिक स्वास्थ्य के प्रत्यय को भी सम्मिलित करना चाहिए।

We no longer ought to define health only in terms of sickness, but rather in relation to the harmonius development of every individual's personality. After all' it represents a balanced measure of a persons total potential where biological, psychological and Social, and the notian of individual health we should the concept of family and community health.

सील, एस0 सी0 9 (Seel, S. C.)– स्वास्थ्य शरीर और मन की एक लोचदार दशा है, जिसका वर्णन एक रेन्ज के रूप में जिसमें एक व्यक्ति अपनी पर्यावरणीय, आयु, लैंगिक तथा

अन्य जैवकीय विशेषताओं के साथ आन्तरिक तथा वाह्य उत्तेजकों के कारण, शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक अनुभवों का पूर्णतयः आनन्द लेता है तथा उस स्थिति को बिना किसी वाह्य सहायता के प्राप्त कर सकता है, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

• प्लानिंग कमीशन (Planning Comnission) के अनुसार – स्वास्थ्य एक सकारात्मक कल्याण की दशा है, जिसमें व्यक्ति शारीरिक मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं का सामंजस्यपूर्ण ढंग से विकास करके जीवन की पूर्ण समृद्धता तथा पूर्णता का आनन्द लेता है। इसका तात्पर्य व्यक्ति का सम्पूर्ण पर्यावरण भौतिक तथा सामाजिक समायोजन तो है।

Health in a positive State of well being in which harmonious development of mental and physical capacities of the individuals lead to the enjoymeut of a rich and full life. Jt implies adjustment of the individual to his total environment.

• वेन्डेल फिलिप्स के अनुसार – स्वास्थ्य का निवास परिश्रम में है और श्रम के अतिरिक्त वहाँ तक पहुँचने का कोई दूसरा राजमार्ग नहीं है।

• जल्दी सोना और प्रातः उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान और बुद्धिवान बनाता है। – कहावत

• पी० साईरस के अनुसार– अच्छा स्वास्थ्य एवं अच्छी समझ जीवन के दो सर्वोत्तम वरदान हैं।

Good health and good Sense are two of Life's greatest blessings.

• यजुर्वेद (12/76) के अनुसार –

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वोरुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदंकृत।।

अर्थात्– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रमुख साधन मनुष्य का शरीर है इसीलिए–उचित आहार, संयमित विहार और आचरण में पथ्य का ध्यान रखकर अपना आरोग्य स्थिर रखना चाहिए। रोग रहित शरीर ही सर्व सुखों का मूल है।

• ऋग्वेद के अनुसार – परमात्मा ने इस संसार में सभी को दीर्घायु प्रदान की है। किन्तु मनुष्य अनुचित आहार विहार द्वारा आयु–क्षय कर लेता है, इसलिए नियमपूर्वक जीवन जीते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। पं० श्रीराम शर्मा आचार्य (वेदों के दिव्य संदेश)

यदि हम उपर्लिखित परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो स्वास्थ्य की निम्नलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती हैं–

(1) स्वस्थ व्यक्ति रोग से रहित होता है।
(2) स्वस्थ स्थिति दशायें स्वस्थ व्यक्ति का निर्माण करती हैं।
(3) स्वस्थ व्यक्ति के व्यक्तित्व में समरूपता तथा सामंजस्यता होती है।
(4) स्वास्थ्य के अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सभी क्षमातायें सम्मिलित होती है।
(5) स्वस्थ व्यक्ति में जैविकीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षमताओं का समुचित समन्वय होता है।
(6) वैयक्तिक स्वास्थ्य पर पारिवारिक तथा सामुदायिक स्वास्थ्य का प्रभाव पड़ता है तथ वैयक्तिक स्वास्थ्य का पारिवारिक एवं सामुदायिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।

(7) स्वास्थ्य का तात्पर्य शरीर तथा मन दोनों से है, अर्थात् दोनों ही स्वस्थ रहने आवश्यक है।

(8) यह एक ऐसी दशा है जो स्थिर नहीं रहती है। परन्तु व्यक्ति की अन्तर्हित एवं बाह्य शक्तियों में संतुलन बना रहता है, यदि व्यक्ति अनावश्यक रूप से बाधा न उत्पन्न करे।

(9) शरीर में आरोग्य रहने तथा क्षतिपूर्ति करने की अभूतपूर्व क्षमता होती है।

(10) स्वास्थ्य का तात्पर्य भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण से पूर्ण समंजन है।

(11) स्वास्थ्य का तात्पर्य दीर्घायु से है। अर्थात् आजीवन व्यक्ति उचित आहार–विहार द्वारा स्वस्थ जीवन सुखपूर्वक जी सकता है।

4.3.3 आयुर्वेद में स्वास्थ्य की अवधारणा–स्वास्थ्य और आयुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि आयुर्वेद स्वास्थ्य का प्राचीन भारतीय विज्ञान है। यथार्थ में जैसा कि इस पद्धति का नाम है इससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, कि जिस शास्त्र में हितकर आयु तथा अहितकर आयु, सुखी आयु एवं दुःखी आयु का वर्णन है। तथा आयु के लिये हित एवं अहित आहार–विहार एवं औषध का वर्णन हो और आयु तथा आयु के लिये हितकर और अहितकर, द्रव्यगुण, कर्म का प्रमाण एवं लक्षणों द्वारा वर्णन होता है, उसे आयुर्वेद नाम दिया गया है। आचार्य चरक का उद्घोष है– 'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमतुस्य विकार प्रशमनं च' (सूत्र– 30/26)। अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन है– स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है–

''समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियाः।
प्रसन्नत्मेन्द्रयमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सुश्रुत सू0 15/41

अर्थात् – जिस पुरुष के दोष, धातु मल तथा अग्नि व्यापार सम हों अर्थात् समान (विकार रहित) हों तथा जिसकी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रसन्न हों वही स्वस्थ है।

व्याख्या– जिस मनुष्य के तीनों दोष वात–पित–कफ सम हो, अग्नियाँ सम हों, अग्नियाँ तेरह प्रकार की कही गयी है, सात धात्वाग्नि, पाँच भूताग्नि और एक जठराग्नि। इनमें भोजन पाचन के लिये जठराग्नि प्रमुख है, अतः जठराग्नि सम हो। सात धातु – रस, रक्ता, मांस, मेद्, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र। ये सम अपनी साम्यास्थिति में हो, एवं मल जिसमें पुरिष, मूत्र एवं स्वेद ये तीनों प्रमुख मल हैं, यह भी अपने साम्यावस्था में हो, क्योंकि इनके कम या अधिक होने से रोग की उत्पत्ति मानी जाती है, अतः ये भी साम्यावस्था में हो, तथा आत्मा इन्द्रियाँ और मन (मानसिक स्वास्थ्य) ठीक हो, उसी को स्वस्थ पुरुष कहा जा सकता है और उसी का स्वास्थ्य पूर्णरूपेण ठीक माना जयेगा। इस प्रकार आयुर्वेद में पूर्ण स्वास्थ्य (Total Health) पर बल दिया गया है।

स्वास्थ्य की आवश्यकता (या महत्त्व)–संसार के सारे काम स्वास्थ्य पर ही निर्भर है। केवल स्वस्थ मनुष्य ही धन कमा सकता है, जातीय सामाजिक, नैतिक, वैयक्तिक, पारिवारिक और सब प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है, जीवन और संसार के सुख उठा सकता है रोगी व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता । रोगी तो दूसरों पर बोझ है। स्वस्थ व्यक्ति ही अपना व दूसरों का कल्याण कर सकता है। स्वस्थ व्यक्ति ही किसी परिवार समाज व राष्ट्र का मेरुदण्ड है। सबसे बड़ा सुख निरोगी काया को माना गया है।

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार– स्वास्थ्य इस संसार में कीमती से कीमती सुन्दर से सुन्दर और बलवान से बलवान है। धनियों की धनिकता का रहस्य, सौन्दर्य–शालियों के सौन्दर्य का रहस्य और महावीरों की वीरता का रहस्य स्वास्थ्य है।

लौकिक दृष्टि से हो या आध्यात्मिक दृष्टि से अपने लक्ष्य की साधना के लिये अथवा गन्तव्य तक पहुँचने के लिये मनुष्य को स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर की नितान्त आवश्यकता है। मानसिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य उनके संदर्भों में एक दूसरे के पूरक होते हैं। अतएव जिस भाँति मन को अपने वश में रखना आवश्यक होता है। उसी भाँति शरीर को भी नियंत्रित रखना आवश्यक होता है।

आरोग्य के आभाव में लौकिक दृष्टि से भी मनुष्य वाञ्छित सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव आरोग्य की रक्षा हमारी प्राथमिक आवश्यकता है। मनुष्य अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाये, इस दृष्टि से ही आयुर्वेद का प्रणयन हुआ है।

आयुर्वेद में कहा गया है– 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूल मूत्तमम्।– अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष – प्राप्ति में श्रेष्ठ मूल कारण शरीर का नीरोग होना ही है। अस्वस्थ शरीर से मानव जीवन के इन चारों पुरुषार्थ को करना सम्भव नहीं है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है, तभी ब्रह्म का चिन्तन करते–करते सबसे महान पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। स्वस्थ शरीर में सात्विक बुद्धि और मन की आवश्यकता होती है। गीता में कहा गया है सत्त्वात्म सज्जायते ज्ञानः। (गीता 14/17) गीता में ही आगे कहा गया है– समदुःखसुखः स्वस्थः। (गीता 14/24)

अर्थात्– सुख और दुःख को समान समझने वाला– आत्मभाव में स्थित ही पूर्ण स्वस्थ माना जाता है।

अंग्रजी में एक प्रसिद्ध युक्ति है–

A happy life consists in tranquility

सुखी जीवन मानसिक शान्ति से ही होता है। महाकवि कालिदास ने शिव–पार्वती संवाद में एक जगह लिखते हैं कि – शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

अर्थात्– शरीर ही धर्म की साधना का प्रमुख साधन है। धर्म का एक अर्थ कर्त्तव्य जो हमारे लिये आवश्यक है वह स्वस्थ शरीर से ही सम्भव हो सकते है, अस्वस्थ शरीर से नहीं। जिसे दुर्बलता और रुग्णता घेरे रहेगी, वह दूसरों पर आश्रित रहेगा। परावलम्बन एक प्रकार से अपमानजनक स्थिति है, क्योंकि ऐसे लोग कहीं भी सम्मान नहीं पाते हैं। मानव अगणित विशेषताओं और विभूतियों से भरा पूरा है। कोई भी जितना चाहे उत्कर्ष कर सकता है। पर यह तभी संभव है जब शरीर और मन पूर्णतया स्वस्थ हो। जो जितनों के निये जितना उपयोगी और सहायक सिद्ध होगा उसे उसी अनुपात में सम्मान और सहयोग मिलता है। अपने तथा दूसरों के अभ्युदय में योगदान करते उसी से बन पड़ता है जो अपने को स्वस्थ की स्थिति बनाये रहता है। इसीलिए दुःखद, दुर्भाग्यों और अभिशापों में प्रथम अस्वस्थता को ही माना गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर अस्वस्थता अपनी निज की उपार्जित है। चाहे यह जानबूझ कर की गयी हो, या अनजाने में हो। स्वच्छन्द जीवन जीने वाले पशु पक्षियों में कभी किसी को बीमार नहीं पाया जाता है।

मनुष्य अपने गलत आचरण, खान–पान रहन–सहन व क्रियाकलापों से अस्वस्थ होता है अवसाद, चिन्ता, काम, क्रोध, लोभ मोह व नकारात्मक चिन्तन व्यक्ति को मानसिक रूप से अस्वस्थ बना देता है अतः पूर्ण स्वास्थ्य हेतु व्यक्ति को उपर्युक्त गलत आहार–विहार

व मानसिक–विकारों से दूर रहना चाहिए। रुग्णता ने केवल व्यक्ति को हानि पहुँचाती है, अपितु उसने सामाजिक सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ता है। सम्बन्धों में कटुता आती है और सम्बन्ध विच्छेद तक हो जाते हैं।

मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा गया है। जिस प्रकार बीमार व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ असमर्थता अनुभव करती है, इसी प्रकार शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति में मन भी अस्वस्थ, अस्त, व्यस्त एवं विकृत होने लगता है। शरीरगत अशक्ता, रुग्णता, पीड़ा बेचैनी तो स्वयं ही सहन करनी पड़ती है। पर मानसिक अस्त व्यस्तता का नया दौर चल पड़ने पर एक नया उपद्रव सामने आता है। पीड़ित में कुछ महत्त्वपूर्ण उपार्जन तो बन नहीं पड़ता साथ ही चिकित्सा, पथ्य आदि का अतिरिक्त व्यय भार बढ़ जाने पर सामान्य स्तर के लोगों के सामने आर्थिक कठिनाई भी दिनों दिन बढ़ती जाती है। इससे परिवार पर दोहरा दबाव पडता है। स्वास्थ्य के आधार पर समस्त राष्ट्र समर्थ बनता है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र की प्रगति उन्नति एवं समर्थता का मूल आधार वहाँ के स्वस्थ नागरिकों पर ही निर्भर करता है। वहीं रोगियों की संख्या बढने से अवनति का प्रवाह चल पड़ता है। राष्ट्र कमजोर व निर्धन होता है। आय कम होने से राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है, इसीलिये वैयक्तिक रुग्णता सामाजिक क्षति के रूप में फलित होता है। अतः हमें स्वस्थ रहने के लिये हर संभव प्रयास करना चाहिए, ताकि व्यक्ति स्वयं, परिवार समाज व राष्ट्र को सशक्त व समर्थ बना सके और प्रगति का द्वार खुल सके। पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अपने युगनिर्माण योजना के सत्संकल्प के पहले ही सूत्र में लिखा है कि– ''शरीर को भगवान का मन्दिर समझकर आत्म संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे''। स्वस्थ रहना हमारा नैतिक कर्त्तव्य एवं जिम्मेदारी है जो आज के समय युग की प्रथम आवश्यकता है।

4.3.5 स्वास्थ्य के अंग या प्रकार–यदि हम विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा का अवलोकन करें, तो ज्ञान होता है कि स्वास्थ्य के तीन प्रमुख अंग या प्रकार है।

(1) शारीरिक स्वास्थ्य (Physical Health)

(2) मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health)

(3) सामाजिक स्वास्थ्य (Social Health)

योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा चौथे अंग को भी विशेष महत्त्व देती है, वह है

(4) आध्यात्मिक स्वास्थ्य–

(1) शारीरिक स्वास्थ्य से तात्पर्य शारीरिक क्रियाओं की समानता तथा शारीरिक तन्त्रों की सामान्य कार्यात्मकता से होता है। यदि सामान्य रूप से शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक अंग कार्य करते रहते हैं, तो शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा माना जाता है। सामान्य रूप से शारीरिक स्वास्थ्य के निम्न लक्षण हैं।

(1) अच्छा चेहरा, भरा चेहरा, चेहरे पर सामान्य चमक तथा लालिमा। (2) चमकीली आँखों में लावण्य। (3) साफ सुथरा त्वचा तथा त्वचा में चमक।

4. सुगठित शरीर, न अधिक मोटा न अधिक पतला।
5. सामान्य मल मूत्र का निष्कासन बिना किसी कष्ट के।
6. शारीरिक अंगों के कार्यों में समरूपता तथा समन्वय।
7. सामान्य थकान।
8. विश्राम से नयी ताजगी तथा उत्साह।
9. प्रगाढ़ निद्रा बिना स्वप्न के।

10. सामान्य भार, लम्बाई एवं मोटाई।
11. किसी प्रकार को कोई शारीरिक कष्ट नहीं।

2. मानसिक स्वाथ्य (Mental Health)

मानसिक स्वास्थ्य एक मानसिक स्थिति है, जो व्यक्तित्व की सम्पूर्ण समन्वित क्रिया दर्शाती है।

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ–जब व्यक्ति किसी भी तरह की मानसिक बीमारी से मुक्त होता है तो उसे मानसिक रूप से स्वस्थ समझा जाता है और उसकी इस अवस्था को मानसिक स्वास्थ्य की संज्ञा दी जाती है।

मानसिक स्वास्थ्य की परिभाषाएँ–

1. **स्ट्रेन्ज (Strange, 1965) के अनुसार–** "मानसिक स्वास्थ्य से तात्पर्य वैसे सीखे गए व्यवहार से होता है जो सामाजिक रूप से अनुकूली होते हैं और जो व्यक्ति को अपनी जिन्दगी के साथ पर्याप्त रूप से मुकाबला करने की अनुमति देता है।
2. **हारविज तथा स्कीड (Horwitz & Scheid, 1999) के अनुसार–** "मानसिक स्वास्थ्य में कई आयाम सम्मिलित होते हैं– आत्म सम्मान, अपने अंतःशक्तियों का अनुभव, सार्थक एवं उत्तम संबंध बनाये रखने की क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता।"
3. **कार्ल मेनिंगर (Karl Menninger, 1945) के अनुसार–** "मानसिक स्वास्थ्य अधिकतम खुशी तथा प्रभावशीलता के साथ वातावरण एवं उसके प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ मानव समायोजन है– वह एक संतुलित मनोदशा, सतर्क बुद्धि, सामाजिक रूप से मान्य व्यवहार तथा एक खुशमिजाज बनाए रखने की क्षमता है।"

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें मानसिक स्वास्थ्य के स्वरूप के बारे में निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं–

- मानसिक स्वास्थ्य की मूल कसौटी अर्जित व्यवहार है। इस तरह का व्यवहार का स्वरूप कुछ ऐसा होता है जिससे व्यक्ति को सभी तरह के समायोजन करने में मदद मिलती है।
- मानसिक स्वास्थ्य एक संतुलित मनोदशा की अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति अपने जिन्दगी के विभिन्न हालातों में सामाजिक रूप से तथा सांवेगिक रूप से एक मान्य व्यवहार बनाए रखता है।

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

(1) आत्म विश्वास व आत्म सम्मान की भावना।
(2) विचार करने की पूर्ण क्षमता।
(3) बुद्धि व विवेक के द्वारा निर्णय लेने की पूर्ण क्षमता।
(4) स्वतः स्फूर्ति।
(5) यथेष्ठ सुरक्षा।
(6) समयानुसार व्यवहार करना।
(7) धैर्य व उत्साह का बना रहना।
(8) अपनी कमियों का ज्ञान तथा स्वीकृति।
(9) प्रत्यक्षीकरण सही।
(10) अपनी शक्ति व योग्यता का सही ज्ञान।

(11) दूसरों के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव।
(12) दृढ़ निश्चयी।
(13) निः स्वार्थ
(14) अनुभव से सीखने की क्षमता।
(15) भूमिका निष्पादन।
(16) वैयक्तिता पर बराबर बल।
(17) कार्यदक्षता एवं व्यवहार निपुणता।
(18) समायोजन की क्षमता।
(19) कर्मकुशलता एवं कर्मठता।
(20) वास्विकता से यथेष्ठ सम्पर्क।
(21) भय, क्रोध लोभ, इर्ष्या–द्वेष, आशंका, आदि मनोविकारों से मुक्त रहना।
(22) मन में सदैव प्रसन्नता व प्रफुल्लता का अनुभव करना।

डपरोक्त सभी लक्षणों को अपने अन्दर धारण व उसके लिये सदैव प्रयासरत रहने से मानसिक स्वास्थ्य बढ़ता है।

3. सामाजिक स्वास्थ्य (Socil Health)–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज की विभिन्न परिस्थितियाँ व दशायें उस पर प्रभाव डालती है। वह सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का विकास करता है तथा इसी के आधार पर अपनी जीविकोपार्जन भी करता है। अतः सामाजिक स्थिति का व्यक्ति के जीवन में विशेष महत्त्व है। बिना समाज का मनुष्य एकाकी जीवन नहीं जी सकता, अतः समाज में रहने हेतु उसका सामाजिक स्वास्थ्य का ठीक रहना परम आवश्यक है। सामाजिक स्वास्थ्य वह दशा है, जो व्यक्ति की सामाजिक पर्यावरण से समायोजन की स्थिति तथा सम्बन्धों को स्पष्ट करती है। सामाजिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. दूसरों के साथ उचित व्यवहार करना।
2. दूसरों का मान–सम्मान करना।
3. समाज कल्याण की भावना रखना।
4. पारिवारिक समायोजन का होना।
5. सामुदायिक समायोजन की क्षमता रखना।
6. नेतृत्व की भावना का होना।
7. उत्तरदायित्वो की पूर्ति करना।
8. प्रभावकारी जीवन जीना।
9. दूसरों के प्रति प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति, त्याग व संवेदन की भावना रखना।
10. कटुता पूर्ण अपमानपूर्ण बातें न करना।
11. आवेशग्रस्त न होना।
12. विनम्र भाव दूसरों के प्रति सदैव बनाये रखना।
13. अभावग्रस्तों व दुःखियों के प्रति उदार भाव रखना।
14. दान की प्रवृति रखना।
15. भाईचारा का व्यवहार बनाये रखना।

4. आध्यात्मिक स्वास्थ्य (Spirtual Health)- आध्यात्मिक जीवन जीने से ही आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। स्वार्थ रहित सात्विक आहार विहार का अभ्यास

अपना लेने से मनुष्य की चारों वृतियाँ अपने आप शुद्ध होने लगती है। मन को प्रसन्न रखने, बुद्धि को विकृतियों से बचाने, चित्त पर शिव संस्कारों की छाप डालने और अहंकार को शरीर से आत्मा अथवा परमात्मा की ओर उन्मुख करने से अन्तःकरण शुद्ध व निर्मल हो जायेगा। फिर उसे आत्म दर्शन का लाभ मिल पायेगा। और यह प्रयास आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने की ओर अन्मुख करेगा। यह आध्यात्मिक उपलब्धि संसार की सारी उपलब्धियों का मूल तथा सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। मानव शरीर में आत्मा निवास करती है। आत्मा परमात्मा का अंश है। श्रुति का कथन है, ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' अर्थात् यह सतविशद ब्राह्माण्ड ब्रह्म ही है। अतः व्यक्ति जब तक ईश्वर का अंश अपने को मानता है तभी तक पूर्ण स्वस्थ रहता है। अतः आध्यात्मिक स्वास्थ्य वह अवस्था है जो व्यक्ति की ईश्वरीय सत्ता से संबन्ध स्पष्ट करते हुए जन कल्याण की ओर अग्रसित होने की स्थिति स्पष्ट करता है। आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ है।

1. असीम सत्ता, प्रकृति, आत्मा व परमात्मा में विश्वास ।
2. कर्म ही पूजा है, में विश्वास अर्थात् एकाग्रचित्त होकर अपने कार्यों का निर्वाह।
3. निष्काम भाव अर्थात् आसक्तिरहित होकर अपने कर्मों को निरन्तर करते रहना।
4. सभी जीवों पर दया करना।
5. कुकर्मों से बचना और ईश्वर के दण्ड से भय रखना।
6. सत्य तथा अहिंसा में विश्वास रखना।
7. अस्तेय का पालन करना अर्थात् चोरी न करना।
8. इन्द्रियों पर संयम रखना अर्थात् नियंत्रण रखना।
9. शरीर, मन एवं अन्तःकरण को सदैव शुद्ध रखना।
10. संतोष रखना।
11. सद्विचार, सद्इच्छा एवं शुभ संकल्पों को सदैव अपनाएँ रखना।

4.3.6. स्वस्थ शरीर के लक्षण– स्वस्थ शरीर उसे कहा जायेगा जिसे किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है वह प्रसन्न चित्त होकर अपना हर कार्य सरलता पूर्वक कर लेता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार वही व्यक्ति निरोगी कहलाने का अधिकारी है, जिसका शरीर विकार विजातीय द्रव्य से सर्वथा मुक्त हो और जिसकी समस्त इन्द्रियाँ और अंग प्रत्यंग सुचारू ढंग से अपना–अपना कार्य सम्पादित करते है। साह ही साथ शरीर मन और आत्मा तीनों से स्वस्थ हो। डॉ० लूई कूने के अनुसार– पूर्ण निरोगी मनुष्य वह है, जिसके सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंग साम्यावस्था में हो और बिना किसी कष्ट, भार या प्रयास के अपना–अपना कार्य करते हों तथा अवयवों का रंग–रूप अपने कार्य संचालन के योग्य और सुन्दर हो। एक स्वस्थ मनुष्य के नेत्रों में निर्मलता और शान्ति विराजमान रहती और उसकी मुखाकृति की रेखाओं में तोड़–मरोड़ नहीं होती। उत्तम पाचन, स्वास्थ्य का मुख्य लक्षण है। मल त्याग सरल ढंग से बिना जोर लगाये न अधिक पतला न अधिक कड़ा हो न ही चिपचिपा हो। निरोग मनुष्य सदैव ही प्रसन्न चित्त रहता है। उत्तम स्वास्थ्य की पहचान व्यक्ति स्वतः ही जाँच कर देख सकता है, जो निम्नलिखित है–

1. प्रातः सोकर उठने पर शरीर में स्फूर्ति, उल्लास, और ताजगी का अनुभव होनी चाहिए।
2. शरीर में किसी कष्ट या व्याधि के सम्बन्ध में कोई वेदना या जानकारी का अनुभव नहीं हो।

3. जिसकी त्वचा मुलायम चिकनी, लचीली स्वच्छ और गर्म हो गीलीन हो तथा खुजलाने से लकीरें न बने। रोमकूपों के स्थान स्वप्न, सुन्दर और मुलायम बालों से भरे हों। पसीने में बदबू न आती हो। सभी ऋतुओं जैसे जाड़ा, गर्मी एवं बरसाते आदि को सहन करने की सहज क्षमता रखता है।
4. मुखमण्डल पर झुर्रियाँ, शुष्कता और होठों पर पपड़ियाँ न हो।
5. आँखें चमकीली, स्वच्छ हो। आँखें पीली डबडबायी और लाल न हों।
6. जीभी चिकनी, गुलाबी, समतल, साफ और आर्द्र हो।
7. दाँत मोती के समान साफ, चमकदार और मजबूत हों। मुँह से बदबू न आती हो और न दाँत मैले पीले हो।
8. मुँह का स्वाद अच्छा रहे। बार–बार थूकना या खाँस–खखार का गला साफ करना न पड़े।
9. शरीर की नसें उभरी हुई न हों।
10. शरीर का प्रत्येक अंग सुडौल और अपना कार्य सुचारू रूप से करने वाले हों। नाखून गुलाबी हों।
11. कमर पतली हो, छाती चौड़ी हो तथा छाती पेट से 5–7 इंच ऊँची हो। सिर पर घने व मुलायम बाल हो।
12. गर्दन गोल सीधी न बहुत लम्बी और न धड़ में घुसी हुई हो।
13. साँस की गति साधरण और बिना किसी स्पष्ट शब्द के निर्गन्ध हो। सोते समय मुँह खुला न हो।
14. गहरी निद्रा, लम्बी, अटूट और बिना किसी स्वप्न के हो।
15. भोजनोपरान्त पेट में गुड़गुड़हाट न होती हो और पेट भारी होकर आलस्य का अनुभव न करता हो पाचन क्रिया ठीक हो।
16. हृदय स्वयं ही गवाही दे कि शरीर में कोई रोग नहीं है और वह शत–प्रतिशत निरोग है।
17. जो व्यक्ति काम के समय काम और विश्राम के समय विश्राम का आनन्द ले सकता है।
18. जो सहनशील हो, सख्त काम से घबराता न हो। जो स्वतंत्र विचार वाला, अध्यवसायी, निर्भीक दृढ़ प्रतिज्ञ आत्म विश्वासी, हँसमुख, सुन्दर दयावान, आत्मोल्लास से परिपूर्ण मेधावी बलवान, दीर्घजीवी और विनयी हो।
19. मूत्रत्याग में कष्ट न हो। मूत्र हल्की गर्मी लिये हुए, हल्के पीले रंग का निर्गन्ध हो तथा धार बाँधकर प्रेशर से निकले।
20. मलत्याग 24 घण्टों में 2 बार साफ, दुर्गन्ध रहित व गेहूँवा, जो गुदा में न चिपके तथा न बहुत कड़ा हो और न ही पतला हो।
21. प्यास न अधिक लगती हो और न कम लगती हो। शुद्ध जल के पीने से प्यास बुझ जाती हो और शान्ति प्राप्त होती हो।
22. निश्चित समय पर सच्ची और खुलकर भूख लगे जो प्राकृतिक आहार से शान्त हो जाए और संतोष प्राप्त हो।
23. सात्विक विचार तथा सात्विक भोजन करने वाला हो। चित्त संयमित हो, मन चंचल न हो अर्थात् तन और मन दोनों निर्मल हो।
24. धैर्यवान व आशावादी हो, विपत्ति पड़ने पर घबराने वाला न हो।

25. प्राकृतिक जीवन में अभिरूचि हो।

26. संकल्पवान, आत्मविश्वासी व ईश्वर विश्वासी हो तथा विधेयात्मक (सकारात्मक) सोच रखने वाला हो।

4.3.7 स्वस्थ जीवन के मूलभूत नियम– स्वास्थ्य ही जीवन है। यदि स्वास्थ्य अच्छा है, तो व्यक्ति सुखी और सम्पन्न दिखायी देता है, निर्धनता क अभाव में भी वह उत्साही कार्यनिष्ठ तथा आत्मशक्ति ये भरपूर होता है। यहाँ पर हम कुछ मूलभूत नियमों की चर्चा कर रहे हैं, जिनका पालन करने से स्वास्थ्य सदैव उत्तम बना रहता है, रोग पनपते नहीं है तथा दीर्घायु होती है।

1. उचित भोजन–आहार स्वस्थ रहने का महत्त्वपूर्ण आधार है। यह कहा जाता है कि जैसे भोजन वैसे मन, यह कथन सत्य है? क्योंकि भोजन की किस्म व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति को प्रभावित करती है। यदि वह भोजन के मूलभूत नियमों से पूर्णतया अवगत नहीं है, तो वह भोजन शरीर तथा मन दोनों के लिए अहितकारी हो सकता है। निम्नलिखित 4 तत्त्वों का समावेश प्रतिदिन भोजन में होना चाहिये।

1. प्रत्येक दिन भोजन के साथ सलाद लेना चाहिए। सलाद के लिए ककड़ी, टमाटर, मूली, पत्तागोभी, खीरा, आदि का प्रयोग करना उत्तम है।

2. हरी सब्जियों का उपयोग प्रतिदिन करने से रक्त शुद्ध रहता है तथा शक्तिवर्धन होता है।

3. मौसमी फलों का सेवन करने से सभी विटामिनों की पूर्ति हो जाती है।

4. भोजन ताजा ही खाना चाहिये।

5. गर्मियों में 5–6 लीटर जल तथा जाड़ों में 4–5 लीटर जल पीना चाहिए। अधिक जल पीने से शरीर का मल तेजी से बाहर निकल जाता है, पाचन तंत्र स्वच्छ बना रहता है। भोजन के साथ ही साथ पानी नहीं पीना चाहिए।

2. चाय या काफी के सेवन के स्थान पर आयुर्वेदिक चाय या काफी– चाय या काफी स्वास्थ्य के लिये दोनों हारिकारक हैं, यदि वे अधिक मात्रा में सेवन किये जाते हैं तो हानि होती है। 24 घण्टे में 2 कप चाय या काफी लेना चाहिये। इससे अधिक लेने से कब्ज हो जाता है। नींद कम हो जाती है, मानसिक तनाव रहता है तथा अन्य व्याधियाँ हो जाती हैं। अतः चाय के स्थान पर प्रज्ञापेय या आयुर्वेदिक जड़ीबूटियों का चाय का काढ़ा लेना स्वास्थ्य प्रद होता है।

3. अंकुरित अनाज सेवन–अंकुरित अनाज बहुत ही पोषक भोजन है इससे भोजन के सभी तत्त्व प्रोटीन, कार्बोहाइड्रट, खनिज, विटामिन्स होते हैं। इसका प्रतिदिन सेवन करना चाहिये।

4. शरीर की शुद्धि–शरीर के तीन तत्त्व है, पित्त, कफ,। यदि उनमें संतुलन बना रहता है, तो शरीर रोग से स्वतंत्र रहता है। लेकिन यदि वह संतुलन बिगड़ जाता, तो शरीर में कोई–भी रोग पनप सकता है। शरीर शुद्धि की 6 प्रक्रियाएँ हैं–

(i) जलनेति–प्रत्येक व्यक्ति को जलनेति प्रतिदिन करनी चाहिये। इससे संक्रामक रोग नहीं होते हैं। श्वास क्रिया सामान्य रहती है। रक्त में वायु (आक्सीजन) पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अतः शरीर के सभी कोष सबल रहते हैं। जलनेति से आँख की दृष्टि बढ़ती है। नाक, गले–कान आदि के रोग नहीं होते हैं। सिर दर्द नहीं करता है। इससे बुद्धि विकास होता है।

(ii) कुंजल क्रिया—इसमें गुनगुना जल जिसमें थोड़ा नमक मिला हुआ होता है, खूब पीते हैं तथा उसके बाद वमन करते हैं या बाहर निकाल देते हैं। इससे पेट की सम्पूर्ण सफाई हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति को सप्ताह में एक बार कुंजल क्रिया करनी चाहिये। इसके करने से भोजन में अरुचि, पीलिया, अपच आदि रोग दूर होते हैं। पेट का विष बाहर निकल जाता है। यदि पेट में कीड़े होते हैं, तो वे भी नहीं रहते हैं। त्वचा तथा रक्त के रोगों में भी लाभकारी है।

(iii) बस्ति—गुदा की सफाई एनिमा के द्वारा करते हैं। स्वस्थ व्यक्तिको महीने में दो बार एनिमा लेना चाहिये। इससे आँतों की सफाई हो जाती है तथा पाचन क्रिया के दोष देर हो जाते हैं। इससे भूख बढ़ती है। मानसिक शान्ति मिलती है तथा शरीर हल्का तथा चुस्त रहता है।

(iv) नौलि—इस क्रिया से आँतों की विकृतियाँ दूर हो जाती है। अपच, मोटापा, तथा पेट के अन्य विकारों में लाभ होता है। वात, पित्त तथा कफ में संतुलन बना रहता है।

(v) त्राटक—त्राटक क्रिया में किसी एक बिन्दु पर ध्यान लगाकर टकटकी बाँध कर देखते हैं। इससे आँखों के अनेक रोग दूर होते हैं, दृष्टि बढ़ती है। सुस्ती दूर होती है तथा ध्यान करने में सहायता मिलती है।

(vi) कपालभांति—पद्मासन में बैठकर जल्दी—जल्दी श्वांस ले व छोड़े। श्वांस छोड़ने की क्रिया का निरंतर निरीक्षण करते रहें। पूरक की अपेक्षा में केवल एक तिहाई समय ही लगायें। रेचक इतनी शीघ्रता से करें कि उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती हुई 1 मिनट में 120 तक जा पहुँचे। इस अभ्यास से नासा छिद्रों तथा श्वसन संस्थान के अन्य सभी भागों की सफाई हो जाती है। इससे शरीरस्थ विषाक्त तत्त्व बाहर हो जाते। श्वास नली तथा मस्तिष्क की भली—भाँति सफाई हो जाती है। रक्त शुद्ध होता है, मुखमण्डल चमकने लगता है।

5. प्राणायाम—प्राणायाम से मन की शुद्धि होती है। इससे मानसिक शक्ति बढ़ती है तथा ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति सबल बनती है। लिवर, उदर, वृक्क, आँतें तथा पाचक अंग, तथा सम्पूर्ण शारीरिक तंत्र प्राणायाम से प्रभावित होता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन प्राणायाम करना चाहिये।

6. स्वच्छ वायु सेवन— स्वच्छ वायु में काम करना, रहना तथा खेलना सभी कुछ लाभकारी होता है। स्वास्थ्य के लिए स्वच्छ वायु तथा सूर्य प्रकाश—शक्तिवर्धन का कार्य करता है। शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यंग के लिये आक्सीजन की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही साथ यह विजातीय तत्त्वों को जलाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि स्वच्छ वायु न मिले तो न तो अच्छा स्वास्थ्य बना रह सकता न ही मानसिक क्रिया सामान्य रूप से कार्य कर सकती है। इसीलिए प्रातःकाल का टहलना स्वास्थ्य के लिये अत्यंत लाभकारी माना गया है। पवन चिकित्सा के अन्तर्गत वायु का सेवन।

7. तेल मालिश—हमारी त्वचा के भीतर दो प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं, पहली तेल की ग्रन्थि तथा दूसरे पसीने की ग्रन्थि। तेल की ग्रन्थि शरीर को चिकना और मुलायम बनाकर रखती है। जाड़े के दिनों में चर्म शुष्क और रूखी हो जाती है। अतः तेल मालिश जरूरी हो जाती है। साथ ही रक्त संचालन भी सही रहता है। प्राकृतिक चिकित्सा में मालिश एक चिकित्सा पद्धति भी है। इससे शरीर दृढ़, मजबूत और शीघ्र स्वस्थ होता है।

8. सूर्य प्रकाश सेवन– सूर्य प्रकाश अनेकानेक रोगों को नष्ट करता है तथा स्वास्थ्य को सम्पन्न बनाने में अनेक पोषक तत्त्वों को प्रदान करता है। स्वास्थ्य लाभ ऊष्णता से नहीं बल्कि किरणों से होता है। अतः शीतल किरणों का उपयोग करना बताया जाता है। प्रातःकाल का समय प्रकाश सेवन के लिये उत्तम होता है।

9. गहरी श्वास–प्रवास– बिना भोजन के व्यक्ति कुछ दिनों तक जीवित रह सकता है, लेकिन हवा के बिना कुछ मिनट भी जीवित रह सकता है। श्वास ही जीवन है गहरी श्वास उसी प्रकार शरीर को शक्ति प्रदान करती है, जैसे–धौकनी आग को प्रज्जवलित कर देती है। गहरी श्वास से अधिकाधिक आक्सीजन शरीर के विभिन्न अंगों को जाती है साथ ही गहरी प्रश्वास से अधिकाधिक कार्बन डाईआक्साईड बाहर निकलती है।

10. स्नान तथा सफाई– प्रत्येक दिन स्नान करना चाहिये। इससे शरीर चुस्त तथा रोग विहीन रहता है शरीर में हजारों रोमकूप होते हैं। इन रोमकूपों के द्वारा शरीर से विजातीय तत्त्व पसीने के रूप में बाहर निकलता है। स्नान करने से ये रोमकूप साफ सुथरे बने रहते है।

11. वस्त्राधारण–शरीर की सर्दी तथा गर्मी से रक्षा करने के लिये वस्त्रों का पहनना आवश्यक है। इसके साथ ही साथ सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण भी वस्त्र धारण करते हैं। आजकल अधिकांशतः ऐसे कपड़े पहने जाते हैं, जिसमें हवा का प्रवेश नहीं हो पाता है। इससे शरीर को हानि होती है सूती कपड़े शरीर के लिये लाभकारी होते हैं।

12. कार्य का समय–मनुष्य आज धन कमाने वाली मशीन बन गया है। वह न तो सोने और न ही विश्राम करने की परवाह करता है, लेकिन दोनो आवश्यक है। स्वस्थ रहने के लिये कार्य के समय की पाबंदी होनी आवश्यक होती है।

13. सकारात्मक दृष्टिकोण–हर सिक्के के दो पहलू होते है। यदि हम बुराइयों की ओर ध्यान देते हैं, तो बुराईयाँ ही बुराईयाँ दिखायी देती है। लेकिन इससे लाभ के स्थान पर हानि होती है। इससे सांवेगिक जीवन बुरी तरह से प्रभावित होता है। क्रोध, बढ़ता है, ईर्ष्या बढ़ती है, इस कारण सम्पूर्ण शरीर क्षतिग्रस्त हो जाता है। दूसरों से अच्छे गुणों को देखने से व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य जाना ही आवश्यक शक्ति अच्छा बना रहता है।

14. योगाभ्यास एवं व्यायाम–शरीर के सभी अंगों का अभ्यास होना शारीरिक दक्षता बनाये रखने के लिए आवश्यक होता है। योगाभ्यास साधन है जिससे शरीर के प्रत्येक अंग की क्रिया हो जाती है। इससे शारीरिक थकान दूर होती है, और नयी स्फूर्ति आती है, तथा मानसिक सर्तकता शीघ्र ही परिलक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन योगाभ्यास करना चाहिये। व्यायाम से शरीर की लगभग चार सौ मांसपेशियों पर प्रभाव पड़ता है। शरीर की सारी क्रियायें इन पेशियों से संबन्धित है। इनके सक्रिय रहने से नये कोषाणुओं का निर्माण, कोषाणुओं की क्रिया में उत्पन्न मल का निष्कासन और कोषाणुओं का नाड़ियों से उचित संबन्ध ठीक प्रकार से संपन्न होता रहता है, इसी से हम स्वस्थ रहते हैं। व्यायाम शारीरिक अक्षमता और रोगों का निवारण करने का प्राकृतिक उपाय माना गया है। अतः हमें स्वस्थ रहने के लिये व्यायाम एवं योगासन को अपने दैनिक जीवन में उचित स्थान देना चाहिए।

15. आराम, विश्राम तथा मनोरंजन– शरीर के लिए जितना व्यायाम आवश्यक है, उतना ही आराम भी आवश्यक होता है। इससे शरीर में शक्ति का संचार होता है, थकान समाप्त हो जाती है एवं शरीर को स्फूर्ति प्राप्त होती है। विश्राम से मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है। मनोरंजन भी उनकी शक्ति को प्राप्त करने में सहायता

करता है। प्राकृतिक चिकित्सा में विश्राम के वैज्ञानिक आधार बताये जाते हैं, जिससे अधिकाधिक शक्तिवर्धन होता है।

16. पर्याप्त निद्रा–नींद जीवन के लिए आवश्यक है। अतः नियमित तथा समयानुसार सोना आवश्यक होता है। शरीरिक मानसिक जो भी कार्य करने से क्षति हुई है उसकी पूर्ति नींद में होती है। अतः गहरी नींद आना आवश्यक होता है।

4.4 रोग की अवधारणा

शरीर में जब किसी प्रकार का कष्ट या तकलीफ होता है या जब स्वास्थ्य हमारा साथ नहीं देता अर्थात् हम अपने स्वाभाविक कर्म को ठीक प्रकार से नहीं कर पाते, तब हम कहते हैं कि हमें रोग हो गया या हम बीमार हो गए। स्वास्थ्य की परिवर्तित अवस्था को ही रोग कहते हैं।

जब हमारा खान–पान अनियमित या प्रकृति विरूद्ध हो, आहार–विहार दूषित होता है, चिन्तन चरित्र विकृत होता है तो हमारे शरीर में धीरे–धीरे विजातीय द्रव्य जिसे हम मल, विकार, विष, संचित दुर्द्रव्य, दोष आदि के नामों से जानते हैं, एकत्र होता रहता है और अंत में हमारा शरीर रूपी घट रोग रूपी विष से लबालब भर जाता है, जिसे प्रकृति अपने नियमानुसार उसे बाहर निकालना चाहती है, क्योंकि इस विष रूपी विजातीय द्रव्य की आवश्यकता शरीर को बिल्कुल नहीं रहती। अतः प्रकृति उसे निकालने हेतु अनेकों तरीकों को अपनाती है, उन्हीं को रोग का नाम देते हैं।

रोग शब्द से लोग दहल जाते हैं, लेकिन रोग से डरने की जरूरत नहीं है। वस्तुतः रोग हमारा मित्र बनकर आता है और चेतावनी देता है कि संभल जाओ, शरीर में विकार उत्पन्न हो गया है, यदि हम संभल जाते हैं तो आने वाली मुसीबत से छुटकारा पा जाते हैं और यदि उस चेतावनी की अवहेलना करते हैं तो प्रकृति हमें दोहरा सजा देती है, क्योंकि और दरबार में खुशामद चल भी जाती है लेकिन प्रकृति के यहाँ इसकी जरा भी गुंजाइश नहीं है। वहाँ तो अपने को प्रकृति के चरणों में समर्पण करके उसके इशारों पर चलना होता है तभी प्रकृति उसकी मदद और हर प्रकार से रक्षा करती है। प्रकृति की इस मीठी फटकार या दण्ड को हम रोग कहते हैं।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के अनुसार– ''रोग प्रकृति की वह क्रिया है जिससे शरीर की सफाई होती है। रोग हमारा मित्र होकर आता है। वह यह बताता है कि आपने अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है, अनेक कीटाणुओं को स्थान देकर विष एकत्रित कर लिया है। रोग उस आन्तरिक मल का प्रतीक या बाह्य प्रदर्शन मात्र है। यह प्रकृति का संकेत मात्र है जो आपको बताता है कि आपको अब अपनी गलतियों से सावधान हो जाना चाहिए। शरीर में स्थित गंदगी, विष, विजातीय तत्व या अप्राकृतिक जीवन से शोधन की ओर आपका ध्यान आकर्षित करता है।''

रोग बिना कारण के कभी उत्पन्न नहीं होते हैं। शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आप यह मालूम कीजिए कि शरीर में किन–किन कारणों से रोग के कीटाणु उत्पन्न हुए? क्यों आप बीमार पड़े ? प्रकृति के किस नियम की आपने अवहेलना की है ? रोग का वास्तविक कारण समझ लेना चिकित्सा की आधारशिला है।

रोग प्रतिकार के रूप में प्रकट होता है और यह पहले विषम अवस्था का अंत कर देता है। रोग मनुष्य के शरीर में इसलिए होता है कि उसके लिए रोग की आवश्यकता है। रोग स्वास्थ्य लाभ करने का एक उपाय है। रोग के द्वारा जब शारीरिक विकार बाहर

निकल जाते हैं, तो मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। बाहर आप जिस रोग को देखते हैं, वह रोग का लक्षण मात्र है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को जुकाम हो गया अथवा फोड़ा निकल आया तो आप इसी को रोग मान लेते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से यह रोग नहीं, बल्कि रोग के लक्षण मात्र हैं। रोग से शरीर की विकृत अवस्था का पता चलता है।

रोग मनुष्य के लिए एक अस्वाभाविक अवस्था है। जब वह असावधानी से या गलती से प्रकृति विरूद्ध मार्ग पर चलने लगता है तो उसके शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा बढ़ने लगती है जिसके फलस्वरूप देह में तरह–तरह के विष उत्पन्न होने लगते हैं और वातावरण में पाये जाने वाले हानिकारक कीटाणुओं का भी उस पर आक्रमण होने लगता है। इससे शरीर का पोषण और सफाई करने वाला यंत्र निर्बल पड़ने लगते हैं, उनके कार्य में त्रुटि होने लगती है और मनुष्य रोगी हो जाता है।

4.4.1 रोग का अर्थ–सभ्यता की प्रगति के साथ–साथ रोग शब्द का अर्थ भी बदलता गया। प्रारंभ में रोग का कारण दैवी शक्तियाँ मानी जाती थी। जब दैवी शक्तियाँ किन्हीं कारणों से कुपित हो जाती थी तो वे रोगों का प्रादुर्भाव करती थीं। आज भी बहुत से जनजातियाँ हैं, जहाँ पर अभी भी रोगों का कारण देवी–देवता ही माने जाते हैं। लेकिन ज्ञान की वृद्धि तथा औषधिशास्त्र के विशेषीकरण के साथ इसके प्रत्यय में अंतर आता गया। प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, एलोपैथी आदि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में रोग का कारण पृथक माना जाता है।

शास्त्रों में कहा गया है– ''शरीरं व्याधि मन्दिरम्'' अर्थात् यह शरीर व्याधियों अर्थात् रोगों का मंदिर अर्थात घर है। अत्यधिक सावधान रहने पर भी शरीर को कोई न कोई रोग ग्रास बना ही लेता है।

वर्तमान समय में अनेक प्रकार की सुख–सुविधाएँ विभिन्न प्रकार की भौतिक साधन–सामग्री होते हुए आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक रोगग्रस्त है। आज का विलासितापूर्ण जीवन, अप्राकृतिक जीवनयापन, दूषित वातावरण, आहार–विहार का गलत तरीका अपनाकर आज हम रोगग्रस्त होते जा रहे हैं। हमारे शरीर में दूषित मल, विजातीय द्रव्य जमा हो जाते हैं जो हमारे शरीर में दर्द, तकलीफ एवं कष्ट देते हैं जिसे हम रोग कहते हैं। सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि रोग क्या है ? जब व्यक्ति अपने स्वाभाविक या प्राकृतिक स्थिति में नहीं होता है तो हम उसे रोग की अवस्था मानते हैं। शरीर में किसी भी प्रकार की तकलीफ का नाम रोग है। हमारे शरीर की गंदगी फेफड़ों और श्वांस द्वारा शरीर के अन्य अवयवों की गंदगी त्वचा के असंख्य छिद्रों द्वारा, पसीने के रूप में तथा पेट की गंदगी मूत्र व मल के रास्ते सदा निकला करती है। यदि कभी इन साधारण ढंगों और मार्गों से शरीर का मल भली–भांति नहीं निकल पाता है तो प्रकृति मजबूर होकर उस काम के लिए असाधारण रूप धारण करती है। उन्हीं असाधारण रूपों को उचित भाषा में रोग कहते हैं और प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में मूल रोग के लक्षण कहते हैं।

प्रत्येक रोग शरीर में संचित विष को सहन की सीमा के अतिक्रमण का दूसरा नाम है। आयुर्वेद के अनुसार, कफ ही रोग है, 'लालात् रोगः'(Mucus is Disease)। दूसरे शब्दों में, विजातीय द्रव्यों का शरीर में एकत्र होना ही रोग है। रोग का होना यह प्रकट करता है कि शरीर में विजातीय द्रव्य भर गया है और उसके विरूद्ध जीवनीशक्ति ने खुली लड़ाई आरंभ कर दी है, साथ ही यह भी जानकारी मिलती है कि आहार–विहार में घुस पड़ी विकृतियाँ शरीर के ढांचे की तोड़–फोड़ कर रही हैं। रोग शरीर में बाहर से नहीं आता। अप्राकृतिक

जीवन से ही शरीर में विकार पैदा होता है और उसी विकार से तरह–तरह के रोग होते हैं।

4.4.2 रोग की परिभाषाये–विभिन्न विद्वानों एवं चिकित्सकों ने रोग की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं जो निम्नलिखित हैं–

बेवस्टर शब्दकोष के अनुसार– रोग एक असुविधा, एक दशा जिसमें शारीरिक स्वास्थ्य गंभीर रूप से प्रभावित होता है, विघटित होता है, या व्यतिक्रमित होता है, स्वास्थ्य की दशा से गमन, मानव शरीर में बदलाव जिससे महत्वपूर्ण कार्य प्रकाशित होते हैं।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार– रोग शरीर के या शरीर के किसी अंग की वह दशा है जिसमें इसके कार्य बाधित होते हैं या व्यतिक्रमित होते हैं।

डॉ. हेनरी लिंडलार, एम.डी. के अनुसार– रोग उन तत्वों एवं शक्तियों का एक असामान्य या असमन्वित कंपन है जो मानव अस्तित्व को गठित करने वाले भौतिक, मानसिक एवं नैतिक में से किसी एक या अधिक धरातलों पर व्यक्ति से सम्बद्ध प्रकृति के विनाशकारी सिद्धान्त के अनुरूप है।

विलियम हॉवर्ड, एम.डी. के अनुसार– ''प्रत्येक रोग शरीर में संचित विष को सहन की सीमा के अतिक्रमण का दूसरा नाम है।''

डॉ. जेस्मीमसर गेहमन के अनुसार– ''स्वास्थ्य की परिवर्तित अवस्था को रोग कहते हैं।''

प्रो0 जीसेफ स्मिथ, एम.डी. के अनुसार– ''दवाओं से रोग अच्छा नहीं होता, केवल दबता है। रोग हमेशा प्रकृति अच्छा करती है।''

लुई कारनारो के अनुसार– ''जब शरीर अस्वस्थ होता है, तब उसे आराम चाहिए न कि भोजन और दवाईयाँ।''

विलियम ओसलर के अनुसार– ''प्रकृति जिसे आरोग्य नहीं कर सकती उसे कोई भी आरोग्य नहीं कर सकता।''

हिपोक्रेटस के अनुसार– ''प्रकृति रोग मिटाती है, डॉक्टर नहीं।''

लुई कूने के अनुसार– ''शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का ही नाम रोग है।''

डॉ. टॉमस सिडेनहम के अनुसार– ''प्रत्येक रोग रोगी के शरीर में स्वास्थ्य को वापस लाने की प्राकृतिक चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।''

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार– ''रोग प्रकृति की वह प्रक्रिया है जिससे शरीर की सफाई होती है। शरीर से मल और रोगों के हटाने के प्रयत्न को रोग कहते हैं।''

होसिया बैलू– ''बीमारी प्रकृति के साथ किये हुए अत्याचार का प्रतिकार है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यही ज्ञात होता है कि व्यक्ति प्रकृतिविरूद्ध आहार–विहार अपना कर अपने शरीर में विजातीय द्रव्य जिसे दूषित मल, दुर्द्रव्य, विष भी कहते हैं, को एकत्र कर रोग ग्रस्त हो जाता है तथा प्राकृतिक जीवन–यापन कर रोगमुक्त हो जाता है।

4.4.3 रोग के कारण– विभिन्न शास्त्रों व विद्वानों के मत में रोग के विभिन्न कारण बताये गए हैं। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है तो रोग होने के पीछे भी कोई कारण तो अवश्य ही है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार, रोग का कारण ग्रह नक्षत्रों के प्रभाव को माना गया है। तांत्रिक ओझा आदि भूत–प्रेत बाधा को रोग का कारण मानते हैं। एलोपैथी जिसे आधुनिक चिकित्सा शास्त्र कहते हैं, में अधिकांश रोगों का कारण जीवाणुओं

को माना जाता है। आयुर्वेद के अनुसार, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के कुपित होने को रोग का कारण माना गया है। वाग्भट्ट ने कहा है–

दोष एवहि सर्वेषां रोगाणामेक कारणम्।

अर्थात सब रोगों का एकमेव कारण दोष (विजातीय द्रव्य) है।

ऋषि चरक ने कहा है कि सभी रोगों का कारण कुपित सड़ा हुआ मल (विजातीय द्रव्य,) ही है और उसके प्रकोप का कारण विविध अहित आहार–विहार का सेवन है।

आयुर्वेद में आगे कहा गया है कि मन्दाग्नि होने से अपक्व रस रह जाता है। उसका नाम आम (दोष या विजातीय द्रव्य) है। वही सब रोगों का कारण है। आयुर्वेद में ही अधिक भोजन करने से भी रोगोत्पत्ति की बात कही गयी है– ''अतिभोजनं रोग मूलम्'' अर्थात् आवश्यकता से अधिक भोजन करना रोग की जड़ है।

परन्तु प्राकृतिक चिकित्साचार्यों का मत इन विद्वानों से भिन्न है। प्राकृतिक चिकित्सक रोगों का मूल कारण विजातीय द्रव्य को मानते हैं। विजातीय द्रव्य शरीर में दो रास्तों से पहुँचता है। नाक द्वारा फेफड़ों से तथा मुँह द्वारा पेट में। वायु तथा पर्यावरण प्रदूषण के कारण फेफड़ों में, पर्याप्त आवश्यक वायु न मिलने के कारण नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। इसी प्रकार अस्वाभाविक भोजन से शरीर की पाचन शक्ति कमजोर होती है। जब हम खान–पान की गड़बड़ी करते हैं। आवश्कता से अधिक खाते हैं और बहुत ही चटपटा, मिर्च–मसाले वाला खाते हैं तो शरीर इसको स्वभावतः पखाना, पेशाब तथा पसीना आदि के द्वारा बाहर निकाल नहीं पाता है और ये विजातीय द्रव्य भीतर जमा होते रहते हैं। रक्त में मिलकर रक्त प्रवाह में विघ्न डालते हैं तथा पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। ये विजातीय द्रव्य चुपचाप शरीर के भीतर पड़ा रहता है और अवसर पाकर रोग के रूप में बाहर फूट निकलता है। रोग के मुख्यतः दो कारण होते हैं– 1. बाह्य 2. आन्तरिक । शारीरिक धर्म अथवा स्वास्थ्य सिद्धान्त के विरूद्ध आचरण करना रोग का बाह्य कारण और अनिष्टकारी मनोवृत्तियों का असंगत प्रयोग तथा अहितकर चिन्तन, कुकल्पना, भय, अवसाद, निराशा आदि उसके आन्तरिक कारण माने जाते हैं। शारीरिक व मानसिक सभी रोग इन्हीं कारणों से होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए सप्राण भोजन, व्यायाम, उचित परिश्रम, समुचित निद्रा, संयम, ब्रह्मचर्य तथा स्वास्थ्य संबंधी नियमों की आवश्यकता होती है और इन नियमों को भंग करना ही रोग को निमंत्रण देना है। उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि मलिन मनोवृत्तियों के व्यवहार से शरीर और मन में तरह–तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। रोगों का बाह्य कारण स्थूल भाव से शरीर पर और आन्तरिक कारण सूक्ष्म रूप से मन पर प्रभाव डालते हैं। सभी रोग पहले मन में उपजते हैं फिर शरीर पर प्रकट होते हैं। यदि हम रोगी हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि हम प्राकृतिक जीवन नहीं व्यतीत करते हैं। रोग के मुख्य कारण निम्नांकित हैं–

1. अप्राकृतिक जीवनशैली– रोगग्रस्त होने का सबसे मुख्य व प्रथम कारण है कि हम प्राकृतिक जीवनशैली को न अपनाकर इसके विपरीत जीवनयापन करते हैं, फलस्वरूप हम रोगी हो जाते हैं। डॉ. ए.जुस्ट ने एक स्थान पर लिखे हैं– ''बहुतों की धारणा है कि रोग और अकालमृत्यु भगवान की दया और प्रेम के परिणाम हैं। ऐसी धारणा को स्थान देना एक तरह से भगवान का मुँह चिढ़ाना है क्योंकि हममें जो सांसारिक दुःख, रोग हैं, उनका मुख्य कारण है हम लोगों को प्रकृति के नियमों के विरूद्ध जीवनयात्रा का निर्वाह करना।''

एक डॉक्टर जुस्ट ही नहीं अपितु पश्चिमी एवं पूर्वी देशों के लगभग सभी विचारवान विद्वानों और डॉक्टरों को हमारा आधुनिक जीवन–यापन बहुत खटकने लगा है और वे सभी प्राकृतिक जीवन जीने पर बहुत अधिक जोर देने लगे हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक जीवन ही आजकल फैली हुई असंख्य बीमारियों और स्वास्थ्य संबंधी समस्त दोषों की एकमात्र दवा है। अप्राकृतिक जीवनशैली में हम अपने अंदर कुछ ऐसी बुरी आदतें डाल लेते हैं जो हमें रोगी बना देता है। अगर हम इन बुरी आदतों को छोड़ दें तो हम स्वस्थ हो सकते हैं। ऐसी आदतों में कुछ निम्नलिखित हैं–

- आहार संबंधी बुरी आदतें
- आलस्य
- प्रकृति के पंचतत्वों का कम से कम उपयोग
- कृत्रिमता से अनुराग (प्रकृति से दूर कृत्रिम पदार्थों से लगाव)
- अनियमित भोग–विलास (इन्द्रियशक्ति का दुरूपयोग)
- मिथ्योपचार अर्थात गलत उपचार या चिकित्सा
- मानसिक कुविचार या नकारात्मक चिन्तन (जैसे ईर्ष्या, द्वेष, कुढ़न, भय, आशंका, काम, क्रोध आदि)

2. रोग का दूसरा प्रमुख कारण विजातीय द्रव्य है। यह रोग का दूसरा सबसे बड़ा कारण है जब हम अप्राकृतिक जीवनशैली अपनाते हैं तो फलस्वरूप हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य उत्पन्न होकर बढ़ने लगता है और उसका शरीर के मल मार्गों द्वारा सही ढंग से नहीं निकल पाता है और ये विजातीय द्रव्य और अधिक सड़कर शरीर को रोगग्रस्त कर देते इस विजातीय द्रव्य के अनेक नाम हैं। जैसे– मल, विकार रोग, बीमारी, विष, क्लेद, संचित दुर्द्रव्य, विषदंश द्रव्य ––– बादीपन, दूषित पदार्थ, जहर, विकृति ––– आदि।

आयुर्वेद में विजातीय द्रव्यों को दोष कहा जाता है और इसे ही रोग का कारण माना गया है। शरीर के अंदर जो बेकार की फालतू चीजें होती हैं जिसकी शरीर को कोई आवश्यकता नहीं है जिसे शरीर मल मार्गों द्वारा बाहर निकालती रहती है, जैसे– मल, मूत्र, पसीना, कफ, दूषित रक्त, दूषित वायु, दूषित सांस, दूषित मांस या इसी प्रकार की कोई अन्य वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर स्वस्थ शरीर का भाग नहीं बन सकती है जो उसे पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश का कारण बन सकती है। उसे ही विजातीय द्रव्य –––, तीनों रूप में अर्थात् ठोस, तरल या गैस में से किसी भी रूप में हो सकता है।

विजातीय द्रव्य में उद्वेग होने के कारण हमारे रक्त में गर्मी बढ़ जाती है। इसी स्थिति या दशा का नाम ज्वर है। ज्वर तभी होता है, जब शरीर में विजातीय द्रव्य मौजूद हों और उसके निकलने के सभी मार्ग प्रायः रूक गए हों। अतः शरीर में स्थित विजातीय पदार्थ में चालू उद्वेग क्रिया को ज्वर कहेंगे। ऋतु परिवर्तन, बाह्य आघात, मानसिक उद्वेग आदि कारणों से शरीर स्थित विजातीय द्रव्य में हरकत होती है और वह ज्वर का रूप ले लेती है।आयुर्वेद में विजातीय द्रव्यों को दोष कहा जाता है और इसे ही रोग का कारण माना गया है। शरीर के अंदर जो बेकार की फालतू चीजें होती हैं जिसकी शरीर को कोई आवश्यकता नहीं है जिसे शरीर मल मार्गों द्वारा बाहर निकालती रहती है, जैसे– मल, मूत्र,

पसीना, कफ, दूषित रक्त, दूषित वायु, दूषित सांस, दूषित मांस या इसी प्रकार की कोई अन्य वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर स्वस्थ शरीर का भाग नहीं बन सकती है जो उसे पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश का कारण बन सकती है। उसे ही विजातीय द्रव्य तीनों रूप में अर्थात् ठोस, तरल या गैस में से किसी भी रूप में हो सकता है।विजातीय द्रव्य में उद्वेग होने के कारण हमारे रक्त में गर्मी बढ़ जाती है। इसी स्थिति या दशा का नाम ज्वर है। ज्वर तभी होता है, जब शरीर में विजातीय द्रव्य मौजूद हों और उसके निकलने के सभी मार्ग प्रायः रूक गए हों। अतः शरीर में स्थित विजातीय पदार्थ में चालू उद्वेग क्रिया को ज्वर कहेंगे। ऋतु परिवर्तन, बाह्य आघात, मानसिक उद्वेग आदि कारणों से शरीर स्थित विजातीय द्रव्य में हरकत होती है और वह ज्वर का रूप ले लेती है।

दोषोऽजीर्णज्वरं कुर्यात्– दोष ही जीर्ण ज्वर में परिवर्तित हो जाता है। ज्वर का अर्थ यहाँ रोग से है। यदि उस समय उचित उपचार द्वारा उसे निकल जाने का मार्ग नहीं दिया जाये तो वह उस अवयव विशेष में ताप उत्पन्न करके उसका नाश कर देता है, शरीर के जिस अवयव पर विजातीय द्रव्य का आघात होता है, वह आघात उस अवयव के रोग के नाम से जाना जाता है। न केवल खान–पान की गलतियों से शरीर में विजातीय द्रव्य इकट्ठा होता है बल्कि छोटे–छोटे कीटाणु, धूलकण, धुंआ आदि श्वांस द्वारा, जल के साथ मिश्रित कीटाणु व गंदगी मुख द्वारा, विषैले जंतुओं (सांप, बिच्छू आदि) के काटने से उनका विष का शरीर में पहुँचना, सुइयों द्वारा विजातीय द्रव्य चिकित्सा से शरीर में पहुँचना एवं नशीली वस्तुएँ जैस– बीड़ी, सिगरेट, तंबाकू, मांजा, भांग, चरस व शराब आदि से भी शरीर में विजातीय द्रव्य की वृद्धि होती है।

3. जीवनीशक्ति का ह्रास– जीवनीशक्ति वह शक्ति है जो शरीर में रोगों से लड़ती है और शरीर को निरोग बनाती है। यदि इसकी शरीर में कमी हो जाय तो हमारे शरीर में रोग उत्पन्न होने लगता है, अतः जीवनीशक्ति की कमी रोगोत्पत्ति का तीसरा मुख्य कारण है। दुर्बल अंगों और दुर्बल व्यक्तियों में ही प्रायः रोग उत्पन्न होते हैं और पनपते हैं। शक्तिहीन शरीर में पड़े हुए कूड़े–कचरे को बाहर निकालकर उसे निर्मल बनाने की शक्ति नहीं होती, उसका सारा सौन्दर्य एवं आकर्षण नष्ट हो जाता है, भूख मर जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, नींद खत्म हो जाती है। शरीर का विकास रूक जाता है तथा शरीर में हमेशा एक न एक रोग बना ही रहता है। शरीर की समस्त प्रकार रूग्णावस्था का मूल कारण उसमें जीवनीशक्ति का ह्रास है। जीवनीशक्ति के ह्रास का प्रमुख कारण निम्नलिखित है–
    - शक्ति से अधिक श्रम करना।
    - रात्रि में जगकर अधिक कार्य करना।
    - चिन्ता और मानसिक व्याधियाँ।
    - अप्राकृतिक औषधियों का सेवन आदि मिथ्योपचार।

4. वंश परम्परा संस्कार– वंश परम्परा संस्कार भी रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण है। रोगी और कमजोर माता–पिता की संतान भी रोगी और कमजोर होती है, यह एक प्राकृतिक नियम है कि जैसा बीज बोया जाएगा, वैसा ही फल आएगा। ऐसी स्थिति में भी रोग का मुख्य कारण रोगी के शरीर में वंशपरम्पराजन्य वही विजातीय द्रव्य की उपस्थिति ही होता

है क्योंकि विकार द्वारा गंभीर रूप से आक्रान्त माता–पिता से संतान में रक्त के प्रभाव से विकार आना स्वाभाविक ही है, भले ही वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म रूप से हो अथवा विष के रूप में हो।

5. मिथ्योपचार– मिथ्या उपचार का शाब्दिक अर्थ है गलत उपचार या उपचार का गलत तरीका अपनाना जिससे रोग समाप्त होने की जगह और बढ़ता ही चला जाता है या भविष्य में रोगी और अधिक परेशान हो जाता है। शरीर में एकत्रित अनावश्यक मल ही असल रोग है। इस सिद्धान्त को मानने वाला कभी नहीं चाहेगा कि उसके शरीर में बाहर से कोई विजातीय पदार्थ पहुँचकर रोग का रूप धारण कर लें। हैजा, प्लग आदि रोगों से बचाव हेतु स्वस्थ शरीर में विषों की सुईयाँ जबरदस्ती देना, इसके उदाहरण हैं। यही मिथ्योपचार रोग होने पर ठीक कारण के निराकरण के बदले रोगी को ऊपर से अत्यन्त उग्र औषधियों का सेवन मिथ्योपचार का उदाहरण है जिससे विविध प्रकार के बाहरी विष शरीर में प्रवेश कर विष की मात्रा यानि रोग को बढ़ा देते हैं तथा रोग को पुराना बनाने में मदद करते हैं।
6. आकस्मिक दुर्घटना या बाह्य प्रहार– स्वस्थ व्यक्ति आकस्मिक दुर्घटना जैसे, अकस्मात चोट लगने, गाड़ी मोटर के दुर्घटनाग्रस्त होने, पेड़, पहाड़ या ऊँचाई से गिरने से घायल हो जाता है तथा उसके त्वचा, मांस, नस, अस्थि आदि के टूटने–फूटने से अभिघातज रोगों की उत्पत्ति होती है। शल्य क्रिया (ऑपरेशन) भी इसी श्रेणी में आती है क्योंकि चीड़–फाड़ भी तो सीधा बाह्य प्रहार ही है।
7. रोगोत्पादक जीवाणु– वैसे जीवाणु जो रोग उत्पन्न करने में सहायक हो रोगोत्पादक जीवाणु कहलाते हैं और ये जीवाणु केवल मल भरे शरीर में उत्पन्न होते हैं क्योंकि एक स्वस्थ और निर्मल शरीर में संसार भर के कीटाणु भी किसी रोग को प्रारंभ नहीं कर सकते। लेकिन एक मल भरे शरीर में कोई भी रोगाणु उद्रेक उत्पन्न करके रोग के लक्षण उत्पन्न कर सकता है क्योंकि रोगाणु मल से ही जीते हैं और निर्मलता से वे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जो जीवाणु शरीर में रोग उभार करने वाले सिद्ध होते हैं, उन्हें रोगोत्पादक जीवाणु कहा जाता है।

4.4.4 रोगों के प्रकार– स्वास्थ्य की दृष्टि से मानव शरीर के तीन पहलू बताये हें– 1. आध्यात्मिक, 2. मानसिक और 3. शारीरिक। पूर्णरूपेण स्वस्थ शरीर वह होता है जो आत्मा, मन और शरीर तीनों से स्वस्थ हो। इनमें से किसी एक की उपेक्षा करके पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं रहा जा सकता। इन्हीं तीनों पहलुओं के अनुसार ही रोग भी तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक। आध्यात्मिक दुर्बलताओं से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मानसिक दुर्बलताओं से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। तीनों प्रकार के रोगों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। भारतीय शास्त्रकारों ने भी तीन प्रकार की व्याधियों का वर्णन विभिन्न शास्त्रों में किया है–

1. भाग्य से उत्पन्न व्याधियाँ 'आधिदैविक' कहलाती हैं।
2. शारीरिक व्याधियों को 'आधिदैहिक' कहते हैं तथा
3. भूतों या तत्वों के सम्बन्ध से उत्पन्न रोग अथवा व्याघ्र, सर्प आदि जीवोंकृत पीड़ायें 'आधिभौतिक' के नाम से जानी जाती हैं।

इसी प्रकार तीन शरीर का शास्त्रों में वर्णन है– (1) स्थूल शरीर (दृश्यमान पंचभौतिक शरीर), (2) सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि) तथा (3) कारण शरीर (आत्मा)।

आध्यात्मिक रोग–जिसकी आत्मा जितनी मलिन, पतित होगी उसे उतना ही आध्यात्मिक रोग होगा। ऐसे व्यक्ति में तामसिक गुण अधिक होगा, वह गलत कार्यों व अपराधों में रूचि लेगा। वह व्यक्ति असुंदर, अशिव, अपकर्मों और अपवित्रताओं में अरूचि न रखकर उसमें विशेषता देखता है, जैसे किसी के व्यसनों से प्रभावित होता है, किसी अपराधी के प्रति सहानुभूति रखता है, लोभी और स्वार्थी की नीति में चतुरता देखता है। डाकू, चोर और अत्याचारियों की कथाओं में रूचि लेता है, अदर्शनीय दृश्य देखने को उत्सुक होता है और पापियों की संगति से घृणा नहीं करता तो मानना चाहिए कि उसकी आत्मा प्रसुप्त है, जागृत नहीं है, बल्कि पतित है, उसे आध्यात्मिक रोग हो गया है। ऐसा व्यक्ति आत्महीनता का शिकार होता है। उसके अंदर आत्मा का प्रकाश नहीं फैलता, आत्मा का गुण विकसित नहीं होता, वह नास्तिक, हृदयहीन और ईश्वर पर भी विश्वास नहीं करता। इसके विपरीत जिसके हृदय में दया, करूणा, प्रेम, उमंग, उत्साह, आत्मविश्वास व लोककल्याण की भावना होती है उसकी आत्मा स्वस्थ, विकसित मानी जाती है। अतः आध्यात्मिक रोगों से मुक्ति पाने के लिए हमें दैवीय गुणों को विकसित करना चाहिए। आत्मज्ञान, आत्मविश्वास, आत्मविकास, ईश्वरविश्वास, विश्वप्रेम के साथ ईश्वर की भक्ति, नाम जप, उपासना, साधना व आराधना का सहारा लेना चाहिए तभी आध्यात्मिक रोगों से छुटकारा मिल सकता है। अर्थात् उसे शरीर से अधिक आत्मा प्यारा लगने लगे तथा आत्मा के विकास में जब व्यक्ति प्रयत्नशील होता है तब वह आध्यात्मिक रोग से मुक्त हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रबल समर्थक महात्मा गांधी ने 'राम' नाम को समस्त रोगों की साधारणतया आध्यात्मिक रोगों की मुख्यतः राम बाण औषधि बताई है जिसका प्रयोग वे अपने जीवनकाल में सदैव ही करते रहे।

मानसिक रोग– मानसिक रोग मन के विकारग्रस्त होने से होता है और यह शारीरिक व्याधियों से भी भयानक व अनिष्टकारी होता है। जब मन में भय, घृणा, लोभ, द्वेष, काम, क्रोध, निराशा, अहंकार आदि दुश्चिंतन व विकार उत्पन्न होते हैं तो हम मनोरोगी हो जाते हैं। रोग पहले मन में उपजते हैं फिर शरीर में प्रकट होते हैं।

लूई कूने के अनुसार, ये रोग तभी होते हें जब विजातीय द्रव्य शरीर में बहुत बढ़ जाता है और पीठ की ओर से रीढ़ की हड्डियों को आक्रान्त करता हुआ मस्तिष्क की कोमल ज्ञानेन्द्रियों आदि को छाप लेता है। जीवनीशक्ति के ह्रास एवं अप्राकृतिक जीवनशैली के परिणामस्वरूप पाचन के खराब होने से विजातीय पदार्थ अज्ञानतावश से धीरे–धीरे एकत्र होकर मानसिक रोग पैदा कर देते हैं। दुर्भाव, विकृत चिंतन या दुश्चिंतन से भी मानसिक रोग बढ़ते हैं। अतः सदैव मनोबल सद्भावपूर्ण रखना चाहिए, सकारात्मक सोच व शुभ चिंतन करना चाहिए तथा शरीर में विजातीय द्रव्य को एकत्रित नहीं होने देना चाहिए। स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग आदि से भी मानसिक रोग दूर होते हैं।

शारीरिक रोग– विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ जब शरीर में प्रकट होने लगे तो उसे शारीरिक रोग कहते हैं। व्याधियों के रूप और लक्षण अनेक होते हैं जिनका विभाजन आयुर्वेद में 4 श्रेणियों में किया गया है–

1. शरीर में विजातीय द्रव्य या दोष के कारण जो रोग होते हैं, उन्हें 'शारीरिक रोग' कहते हैं। जैसे– ज्वर, हैजा, दस्त, चेचक, दमा, कैंसर आदि विभिन्न रोग आदि।
2. अभिघात, जैसे– चोट, दुर्घटना आदि से जो पीड़ायें होती हैं, उन्हें 'आगंतुक रोग' कहते हैं। जैसे– पेड़ से गिरना, सड़क मोटर दुर्घटना आदि।

3. क्रोध, शोक, भय आदि रोगों को 'निमित्तक मानसिक रोग' कहते हैं।
4. क्षुधा, प्यास, जरा एवं मृत्युजन्य क्लेश 'स्वाभाविक रोग' कहलाते हैं।

शरीर में विजातीय द्रव्यों की उपस्थिति के फलस्वरूप जितनी व्याधियाँ होती हैं उनको दो भागों में बांटा जा सकता है– 1. तीव्र रोग (Acute Disease) 2. जीर्ण या पुराने रोग (Chronic Disease)।

1. **तीव्र रोग–** जिस रोग में तेजी हो, उसे तीव्र रोग कहते हैं, जैसे– हैजा, चेचक, ज्वर, दस्त, जुकाम आदि। ये शीघ्र ठीक हो जाते हैं। तीव्र रोग बच्चों एवं युवाओं को अर्थात जिनकी जीवनीशक्ति प्रबल होती है, उन्हें विशेष रूप से होती है। शरीर से विजातीय द्रवय को तीव्र रोग के रूप में जल्द निकालकर शरीर को निरोग कर देती है।
2. **जीर्ण रोग–** शरीर स्थित मल में उद्वेग होकर निकलने की उग्र दशा का नाम जिस तरह तीव्र रोग या उग्र रोग है, उसी प्रकार उसके दबकर भीतर प्रवेश करने, अनिष्ट दशा उत्पन्न करने और धीरे–धीरे कष्ट के साथ बहुत काल तक शरीर में पड़े रहने की दशा का नाम जीर्ण रोग है। तीव्र रोग के लक्षणों को दवा आदि के सहारे दबा देने से यह कुछ क्षण दब जाते हैं लेकिन विजातीय द्रव्य वहीं दबा रहकर सड़ने–गलने लगता है और जीर्ण रोग में परिवर्तित हो जाता है। जैसे– जुकाम को दवा से यदि बार–बार दबा दिया जाए तो दमा हो सकता है। उसी तरह ज्वर को दबाते रहने से यक्ष्मा होने की संभावना रहती है। तीव्र रोग में सर्वप्रथम रोगी की जीवनीशक्ति बढ़ानी चाहिए क्योंकि इसी की कमी से रोग होता है। जीवनीशक्ति यदि बढ़ जाए तो जीर्ण रोग तीव्र रोग में परिवर्तित होकर रोगी को निरोग कर सकता है। जीर्ण रोग दूर करने के लिए विचारों की शुद्धता, धैर्य और अपने चिकित्सक पर पूर्ण विश्वास की बड़ी जरूरत है। इसमें बहुत सावधानी व धैर्य की आवश्यकता रोगी व चिकित्सक दोनों को रखनी पड़ती है, तभी जीर्ण रोग ठीक हो पाता है।

4.4.5 रोगों से लाभ–संसार के अधिकांश व्यक्तियों की धारणा ही नहीं अपितु विश्वास भी है कि रोग उसके मित्र नहीं शत्रु ही हैं। यही नहीं बल्कि कुछ लोगों का विचार तो यहाँ तक है कि रोग मौत का दूत है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। रोग तो प्रकृति माता का शुभाशीष और वरदान है। अर्थात् बीमार पड़ना परमात्मा की बड़ी भारी देन है। वे व्यक्ति बड़े ही भाग्यवान हैं जिनके शरीर में कभी रोग का प्राकट्य या उदय होता है क्योंकि ऐसा होते रहने से उनके शरीर का संचित दूषित मल जो विष होता है और जो उस असंयमी जीवन की बुरी कमाई होती है, शीघ्र से शीघ्र निकल जाती है और काया एक बार फिर चमकने लगती है। यदि हम प्रकृति के वास्तविक भक्त हैं और उसके आदेशों पर ही चलते हुए उसके सहज–सुलभ मातृवत व्यवहारों के अनुसार अपना जीवन बनाते हैं तो फिर आवश्यक नहीं है कि हम बीमार पड़ें। रोग वस्तुतः सुधारक और दोस्त होते हैं, विनाशक और दुश्मन कदापि नहीं। रोग शरीर में उत्पन्न होकर हमें चैतन्य करता है कि शरीर का अमुक भाग अथवा अंग कमजोर हो गया है, उसमें विष एकत्रित हो गया है, उसकी सफाई होनी चाहिए। जितनी शीघ्रता से हम उसकी इस चेतावनी पर ध्यान आकृष्ट कर लेंगे उतना ही शीघ्र हमारा शरीर निरोगी हो जाएगा। जिस शरीर में यह चेतावनी नहीं मिलती है, उस शरीर की जीवनीशक्ति क्षीण हुई रहती है। अतः हमें रोग को शत्रु न समझकर मित्र

माननना चाहिए। निराशावादी के स्थान पर आशावादी बनना चाहिए तथा यह विश्वास रखना चाहिए कि रोग हमें पूर्ण स्वस्थ कर देगा, संचित विकार निकाल देगा, शरीर के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

अभ्यास प्रश्न–

1. जिस पुरूष के दोष, धातु, मल तथा अग्नि व्यापार सम हों अर्थात समान हों तथा जिसकी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रसन्न हो, वही स्वस्थ है। यह परिभाषा निम्न में से किसके अनुसार है ?
   a) सुश्रुत
   b) चरक
   c) वागभट्ट
   d) कश्यप
2. निम्नलिखित में से कौन सा स्वस्थ शरीर के लक्षण नहीं है ?
   a) आँखें चमकीली हों।
   b) नसें उभरी हुई हों।
   c) गहरी निद्रा हो।
   d) दाँतें साफ हों।
3. निम्नलिखित में से कौन सा मानसिक स्वास्थ्य का द्योतक है–
   a) सामान्य भार, लम्बाई एवं मोटाई।
   b) कार्यदक्षता एवं व्यवहार निपुणता।
   c) दूसरों का मान–सम्मान करना।
   d) सभी जीवों पर दया करना।
4. कुकर्मों से बचना और ईश्वर के दण्ड से भय रखना, निम्न में से किस प्रकार के स्वास्थ्य के अंतर्गत है ?
   a) शारीरिक स्वास्थ्य
   b) मानसिक स्वास्थ्य
   c) सामाजिक स्वास्थ्य
   d) आध्यात्मिक स्वास्थ्य
5. जीवनीशक्ति किस रोग में कम हो जाती है ?
   a) तीव्र रोग
   b) जीर्ण रोग
   c) मानसिक रोग
   d) आध्यात्मिक रोग
6. रोग का मुख्य कारण विजातीय द्रव्य है– सत्य/असत्य।
7. जो रोग जल्दी ठीक होते हैं, उसे तीव्र रोग कहते हैं– सत्य/असत्य।
8. काम, क्रोध, भय, लोभ शारीरिक स्वास्थ्य के अंतर्गत आते हैं– सत्य/असत्य।
9. स्वास्थ्य की परिवर्तित अवस्था को रोग कहते हैं– सत्य/असत्य।

10. विकृत चिंतन से शारीरिक रोग हो जाते हैं– सत्य/असत्य।

4.6 सारांश–

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यह जान चुके हैं कि स्वास्थ्य क्या है, हमारे जीवन में स्वास्थ्य की क्या आवश्यकता है, स्वास्थ्य के अंग या प्रकार कौन–कौन से हैं तथा स्वस्थ रहने के लिए मूलभूत नियम कौन–कौन से हैं। रोग क्या है, रोग के कारण व प्रकार क्या हैं आदि की विस्तृत जानकारी आपको इस अध्याय को पढ़ने के बाद मिल चुकी होगी। प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्य एवं रोग की अवधारणा पर विस्तृत चर्चा की गयी है जो निम्न बिंदुओं में दर्शाया गया है–

- जो स्व में स्थित है अर्थात जिसे अपने स्वरूप की जानकारी है, वास्तव में वही स्वस्थ है।
- जिसके शरीर स्थित दोष, अग्नि, धातु, मलक्रिया आदि सम हो तथा जिसकी आत्मा, मन व इन्द्रियाँ प्रसन्न हों, उसे ही स्वस्थ पुरूष कहा गया है या उसका स्वास्थ्य ठीक कहा गया है।
- स्वस्थ व्यक्ति ही संसार में अपना, परिवार का, समाज का, राष्ट्र का एवं विश्व का कल्याण कर सकता है तथा जीवन के चारों पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।
- स्वास्थ्य के चार अंग या प्रकार क्रमशः शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, आध्यात्मिक स्वास्थ्य व सामाजिक स्वास्थ्य हैं।
- स्वस्थ जीवन के लिए व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन में प्राकृतिक आहार–विहार, षट्कर्म, प्राणायाम, प्रातः टहलना, आसन व्यायाम, पर्याप्त नींद आदि को अपनाना अनिवार्य है, तभी व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है।
- पूर्ण निरोग मनुष्य उसे कहेंगे जिसके संपूर्ण अंग–प्रत्यंग साम्यावस्था में हों और बिना किसी कष्ट या प्रयास के अपना–अपना कार्य करते हों। निरोग मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है और अपने शरीर का उसे भय नहीं रहता।
- प्रत्येक रोग शरीर में संचित विष को सहन की सीमा के अतिक्रमण का दूसरा नाम है।
- स्वास्थ्य की परिवर्तित अवस्था को रोग कहते हैं।
- जब हमारा खान–पान, रहन–सहन, आहार–विहार अप्राकृतिक एवं दूषित हो जाता है तब हमारे शरीर में दोष जिसे विजातीय द्रव्य कहते हैं, एकत्रित हो जाता है। इसे हटाने की क्रिया को रोग कहते हैं।
- सब रोगों का एकमेव कारण दोष जिसे कुपित मल, विजातीय द्रव्य, आम कहते हैं, है। शरीर में रोग होने के और भी कई कारण हैं, जैसे– अप्राकृतिक जीवनशैली, जीवनीशक्ति का ह्रास, वंश परम्परा संस्कार, मिथ्योपचार, आकस्मिक दुर्घटना या बाह्य प्रहार, रोगोत्पादक जीवाणु आदि।
- रोग तीन प्रकार के हैं। शारीरिक रोग जो शरीर इन्द्रियों में तीव्र एवं जीर्ण रोग के रूप में होते हैं। दूसरा मानसिक रोग जो मन–मस्तिष्क में दूषित आहार–विहार व भय, निराशा, काम, क्रोध, लोभ, भय व दुश्चिंतन से होता है। तीसरा आध्यात्मिक

रोग जो आत्मबल की कमी, नास्तिकता, तामसिक आहार–विहार, दुष्कर्मों आदि से होता है। इसके विपरीत आचरण करने से आध्यात्मिक रोग दूर हो जाते हैं।

- रोग मनुष्य के मित्र हैं। वे बड़े भाग्यवान हैं जिन्हें कभी–कभी रोग होता है क्योंकि रोग के माध्यम से शरीर में संचित विष या विजातीय द्रव्य शीघ्र निकल जाते हैं और व्यक्ति पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

- **स्वास्थ्य–** स्वास्थ्य केवल रोगों अथवा अपंगुता की अनुपस्थिति ही नहीं है बल्कि, यह एक पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की स्थिति है।
- **शारीरिक स्वास्थ्य–** से तात्पर्य शारीरिक क्रियाओं की समानता तथा शारीरिक तंत्रों की सामान्य कार्यात्मकता से होता है। यदि सामान्य रूप से शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक अंग कार्य करते रहते हैं तो शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा माना जाता है।
- **मानसिक स्वास्थ्य–** एक मानसिक स्थिति है जो व्यक्तित्व की संपूर्ण क्रिया को दर्शाती है, जैसे– आत्मसम्मान की भावना, यथेष्ट सांवेगिकता, यथेष्ट सुरक्षा भाव, स्वतः स्फूर्ति एवं समय के अनुसार व्यवहार करने की उसमें प्रवृत्ति रहती है।
- **आध्यात्मिक स्वास्थ्य–** वह अवस्था है जो व्यक्ति की ईश्वरीय सत्ता से संबंध स्पष्ट करते हुए जनकल्याण की ओर अग्रसरित होने की स्थिति स्पष्ट करता है। उसके अंदर आत्मविश्वास, ईश्वरविश्वास, दया, करूणा, प्रेम, उदारता, सत्य व अहिंसा की भावना पूर्णरूपेण भरी होती है।
- **सामाजिक स्वास्थ्य–** वह दशा है जो व्यक्ति की सामाजिक पर्यावरण से समायोजन की स्थिति तथा संबंधों को स्पष्ट करती है।
- **रोग–** शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का ही नाम रोग है। शरीर में संचित विष ही रोग है। शरीर से मल और दूषित पदार्थों के हटाने के प्रयत्न को रोग कहते हैं।
- **विजातीय द्रव्य–** अप्राकृतिक आहार–विहार से हमारे शरीर में दूषित पदार्थ एकत्रित होते हैं जिसे मल, विकार, दुर्द्रव्य, रोग, बीमारी, विष, क्लेद, बादीपन, जहर कहते हैं और जिसकी शरीर को कोई आवश्यकता नहीं है, विजातीय द्रव्य कहलाते हैं।
- **तीव्र रोग–** जिस रोग में तेजी है, जो तीव्रता से उत्पन्न होते हैं, तीव्र रोग कहलाते हैं, जैसे– ज्वर, जुकाम, चेचक, हैजा आदि। ये तीव्र रोग शरीर से विजातीय द्रव्य जल्द निकालकर शरीर को जल्द रोगमुक्त कर देते हैं। इसमें जीवनीशक्ति अधिक होती है।
- **जीर्ण रोग–** जीर्ण रोग धीरे–धीरे प्रकट होते हैं जिनका कारण शरीर में विजातीय द्रव्य का बहुत काल तक दबे पड़े रहना होता है। ये जल्दी ठीक नहीं होते हैं। तीव्र रोग को दवा आदि से दबा देने पर ये जीर्ण रोग में परिवर्तित हो जाते हैं। इसमें जीवनीशक्ति बहुत कमजोर होती है।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

- **अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–**

- 1.-(a), 2.-(b), 3.-(b), 4.-(d), 5.-(b), 6.-सत्य, 7.–सत्य, 8.–असत्य, 9.–सत्य, 10. –असत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- प्राकृतिक आयुर्विज्ञान– डॉ. राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदीनगर।
- वृहद प्राकृतिक चिकित्सा– डॉ. ओमप्रकाश सक्सेना, भाषा भवन, हालनगंज, मथुरा।
- आरोग्य अंक– राधेश्याम खेमका, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली– डॉ. लुई कूने, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
- प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन एवं व्यवहार– डॉ. हेनरी लिंडलार, एम.डी.।
- जीवेम शरदः शतम्– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
- चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
- चिकित्सा उपचार के विविध आयाम– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
- जीवन की सर्वोपरि आवश्यकताःआत्मज्ञान– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
- प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त एवं व्यवहार– डॉ. पी.डी. मिश्रा एवं वीणा मिश्रा।
- वेदों के दिव्य संदेश– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।
- आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान– अरूण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

अखण्ड ज्योति पत्रिका गायत्री तपोभूमि मथुरा।
युग निर्माण योजना पत्रिका।

4.11 निबंधात्मक प्रश्न–

1. स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं ? इसके महत्व एवं परिभाषाओं का विस्तार से वर्णन करें।
2. स्वास्थ्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वास्थ्य के विभिन्न अंग या प्रकारों का विस्तार से वर्णन करें।
3. स्वस्थ शरीर के विभिन्न लक्षणों का वर्णन करें।
4. स्वस्थ जीवन के मूलभूत नियमों का विस्तार से वर्णन करें।
5. रोग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसकी विभिन्न परिभाषाओं का विस्तार से वर्णन करें।
6. रोग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न कारणों का विस्तार से वर्णन करें।
7. रोग क्या है ? रोगों के विभिन्न प्रकारों का विस्तार से वर्णन करें।
8. रोग क्या है ? इसके प्रकार व रोगों से लाभ का विस्तार से वर्णन करें।

इकाई–5 विजातीय द्रव्य का सिद्धान्त

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 विजातीय द्रव्य का सिद्धान्त
5.3.1 विजातीय द्रव्य का अर्थ
5.3.2 विजातीय द्रव्य का स्वरूप
5.3.3 विजातीय द्रव्य का कारण
5.4 विजातीय द्रव्य से युक्त व्यक्ति का लक्षण
5.5 सारांश
5.6 पारिभाषिक शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

पिछले इकाई में आपने स्वास्थ्य एवं रोग की अवधारणा की जानकारी विस्तार से प्राप्त की तथा स्वास्थ्य एवं रोग के बीच के अंतर को स्पष्ट रूप में जाना।

प्रस्तुत इकाई में आप विजातीय द्रव्य के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से जान सकेंगे, क्योंकि बिना इसे जाने रोगों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है या चिकित्सक किसी भी रोगी को तभी ठीक कर सकता है जब वह विजातीय द्रव्य को भली–भांति जानता व पहचानता है, तभी उसे रोगी के शरीर से निकालकर रोगमुक्त कर सकता है। इस इकाई में आप विजातीय द्रव्य के सिद्धान्त, अर्थ, स्वरूप, कारण आदि की विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात आप निम्न तथ्य को समझने में सक्षम होंगे–

- विजातीय द्रव्य के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- विजातीय द्रव्य के अर्थ को समझ सकेंगे।
- विजातीय द्रव्य के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- विजातीय द्रव्य के कारण को समझ सकेंगे।
- विजातीय द्रव्य से युक्त व्यक्ति के लक्षण को समझ सकेंगे।

5.3 विजातीय द्रव्य का सिद्धान्त–

प्राकृतिक चिकित्सा में विजातीय द्रव्य को ही सभी रोगों का मूल कारण माना गया है। जब हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य आवश्यकता से अधिक एकत्रित हो जाते हैं तो रोग का रूप धारण कर लेते हैं। अप्राकृतिक खान–पान व जीवनयापन के फलस्वरूप हमारे शरीरों में विजातीय द्रव्य का बढ़ जाना और उसका शरीर के मलमार्गों द्वारा साधारणतः न निकल पाना और शरीर में इकट्ठा होते रहना। यह विजातीय द्रव्य वास्तव में हमारे शरीर के

दूषित पदार्थ, मल, मूत्र, पसीना, कफ, दूषित वायु, दूषित सांस, दूषित रक्त, दूषित मांस या इसी प्रकार की अन्य कोई वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर शरीर का भाग नहीं बन सकती। जो उसको पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश का कारण बन सकती है, उसी को दोष या विजातीय द्रव्य कहते हैं। यह ठोस, तरल या वायु किसी भी रूप में हो सकता है।

शरीर में रोग का सूत्रपात शरीर में स्थित विजातीय द्रव्य से ही होता है। मल संचय या विजातीय द्रव्य जब मर्यादा बिंदु को पार कर जाता है तो रोग आ जाता है। शरीर शुद्धि के चार मार्ग या संस्थान हैं जो अपने ढंग से विजातीय पदार्थ बाहर निकालते हैं। श्वसन मार्ग दूषित वायु के रूप में, मूत्रमार्ग तरल मूत्र रूप में, त्वचा मार्ग तरल पसीने के रूप में तथा मल या गुदा मार्ग ठोस मल के रूप में। अर्थात त्वचा, वृक्क या गुर्दे, फेफड़े तथा आँतों से विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकलता है। हम जानते हैं कि हमारा शरीर कोषाणुओं से निर्मित हैं। प्रत्येक कोष को जीवित रहने के लिए बाहर से भोजन की आवश्यकता होती है, उसे पचाना तथा उसका अवशोषण भी करना होता है। इन कार्यों से कुछ कचरा या मल जो विषैला होता है, वह भी पैदा होता है। अतः, उसको शरीर से बाहर निकालने की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त कोष को हवा की भी जरूरत होती है। ऑक्सीजन लेने की जरूरत होती है। ऑक्सीजन ग्रहण करने के बाद कार्बन डाई ऑक्साइड निकालने की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि कोष स्वयं जीवनलीला समाप्त करते रहते हैं। अतः विषैले तत्व को भी निकालना आवश्यक है। यदि सफाई करने वाले इन अंगों– फेफड़े, त्वचा, गुर्दे और आंतों पर अधिक भोजन या अपाच्य भोजन के द्वारा एवं अनुपयुक्त जीवन पद्धति के द्वारा दबाव डाला जाता है तो विजातीय पदार्थ शरीर में संचय होने लगता है और सामान्य कार्य में अवरोध उत्पन्न करने लगता है।

शरीर में विजातीय पदार्थों के संचय से रोगों का प्रारंभ होता है। पहले पहल यह संचय पेडू में एकत्र होता है। निष्कासन मार्ग के नजदीक जमा होना शुरू होकर विकार दूर तक बढ़ने लगता है, जैसे सिर तथा हाथ पैरों की ओर। कोई विशेष परिस्थिति पैदा न होने पर यह क्रिया बहुत धीरे–धीरे होती है। द्रव्य का झुकाव प्रायः शरीर के ऊपरी भाग की ओर जाने का रहता है। इस प्रयास में वह अपना मार्ग गर्दन के तंत्र भाग से बनाता है। पहले यह भाग बढ़ा हुआ लगता है और फिर सूजा सा लगता है। आगे चलकर वह पिंड के रूप में सूजन, अंग को बिल्कुल ढक लेते हैं और उन भागों का संकुचन होने लगता है। त्वचा का रंग भी बदलने लगता है। पेडू के भाग में भी परिवर्तन आता है। इस प्रकार शरीर की पूरी आकृति प्रभावित होती है। विजातीय पदार्थ शरीर में धीरे–धीरे संचित होता है, अतः शरीर में बदलाव भी धीरे–धीरे होता है। जिसके कारण रोग के प्रारंभ में यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि शरीर रोगग्रस्त हो जाता है लेकिन कष्ट के न होने से उसे रोग की अनुभूति नहीं होती है। जब वह अनुभव करने लगता है कि उसे भूख कम लगती है, थकान अधिक अनुभव होती है तथा मानसिक अशान्ति बनी रहती है तब वह महसूस करता है कि उसके शरीर में कोई असामान्यतया आ गयी है। यदि टट्टी पेशाब ठीक होती रहती है, फेफड़े ठीक काम करते रहते हैं, तब तक वह चिंता नहीं करता है। लेकिन जब ये अंग प्रभावित होते हैं, तब वह अपनी शारीरिक स्थिति के प्रति चिंतित हो जाता है।

शरीर में गैसों का बनना चार कारणों से होता है–

1. तापक्रम में परिवर्तन

2. मन की दशा में परिवर्तन
3. मानसिक तनाव
4. आदत में एकाएक परिवर्तन

विजातीय पदार्थ पहले पेडू के पास संचय होता है तथा धीरे–धीरे दूसरे अंगों के पास पहुँच जाता है, लेकिन जब फरमेन्टेशन होता है, तो पदार्थ ऊपर की ओर जैसा कि गैसों को ऊपर उठने का स्वभाव होता है, बढ़ता है। इसी कारण सबसे पहले रोग की अवस्था में शरीर के ऊपरी भाग में प्रभाव देखते हैं और सिरदर्द की शिकायत होती है। फरमेन्टेशन उष्णता लाता है। रक्त का तापक्रम बढ़ने लगता है, इस कारण बुखार आ जाता है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि ज्वर तभी आता है, जब शरीर में दोष संचित होता है तथा मल निष्कासन के तरीके अवरूद्ध हो जाते हैं, पेट साफ नहीं होता है, मूत्र कम निकलता है, त्वचा के रोमकूप बाधित होते हैं तो श्वसन तंत्र प्रभावित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि रोग का कारण शरीर में दोष संचय है। जब विजातीय पदार्थ शरीर तंत्र में संचित होते हैं तथा जब फरमेन्टेशन होता है, तो वह पूरे शरीर में फैल जाते हैं। फरमेन्टेशन से शरीर अस्वस्थ हो जाता है और यह विजातीय द्रव्य शरीर से मल निष्कासन यंत्रों द्वारा बाहर नहीं निकल पाता है। अब उस विजातीय द्रव्य को निकालने के लिए एक प्राकृतिक चिकित्सक या रोगी का एकमात्र यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह केवल प्रकृति के उस कल्याणकारी कार्य में सहूलियत पैदा करे तथा उसे मदद दे। अर्थात उपवास या युक्ताहार से जीवनीशक्ति बढ़ाना तथा जलोपचार, मिट्टी की पट्टी, सेंक, मालिश, एनिमा आदि प्राकृतिक चिकित्सा विधियों से शरीर के मल मार्गों को पूर्णतः खोलकर उनको क्रियाशील कर देना ताकि वे शरीर के मल या विजातीय द्रव्य का बहिष्करण करने में सफल हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर में विजातीय द्रव्य की स्थिति ही रोग या रोग के चिन्ह हैं तथा उसकी अनुपस्थिति ही स्वास्थ्य है। विजातीय द्रव्य का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हमें अपने शरीर में विजातीय द्रव्य को संचित नहीं होने देना है, उसको निकालते रहने का सदैव प्रयास करते रहना है और यह केवल प्राकृतिक जीवनयापन से ही संभव हो सकता है। क्योंकि प्राकृतिक जीवनशैली अपनाकर ही हम स्वस्थ हो सकते हैं। प्राकृतिक जीवनयापन से हमारे शरीर की जीवनीशक्ति बढ़ती है, यही जीवनीशक्ति हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता कहलाती है तथा विजातीय द्रव्य को हमारे शरीर से निरंतर निकालने का प्रयास करती है, अतः हमें निरंतर जीवनीशक्ति बढ़ाने हेतु प्रकृति के अनुरूप जीवन जीना होगा, तभी हम विजातीय द्रव्य या रोगों से मुक्त रह सकेंगे।

5.3.1 विजातीय द्रव्य का अर्थ– विजातीय द्रव्य जैसा कि नाम से ही पता चलता है, जो शरीर के जाति का नहीं है। शरीर के वे विकार या वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर स्वस्थ शरीर का भाग नहीं बन सकती, जो शरीर को पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश या नुकसान का कारण बन सकती है, उसी को दोष या विजातीय द्रव्य कहते हैं। विजातीय द्रव्य के कई नाम हैं, जैसे– रोग, मल, विकार, विष, क्लेद, संचित दुर्द्रव्य, विसदृश द्रव्य (foreign matter) बादीपन, दूषित पदार्थ (morbid matter), जहर, विकृति आदि। आयुर्वेद में विजातीय द्रव्य को दोष कहते हैं और इस दोष को ही रोग का कारण माना गया है।

वाग्भट्ट के अनुसार–

दोष एवहि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्। – वाग्भट्ट

अर्थात सब रोगों का एकमेव कारण दोष (विजातीय द्रव्य) है।

चरक ने भी कहा है–

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्।। – चरक

अर्थात सभी रोगों का कारण कुपित (fermented) सड़ा हुआ मल या विजातीय द्रव्य (foreign matter) ही है और उसके प्रकोप का कारण विविध अहित आहार–विहार का सेवन है।

शरीर के भीतर जो बेकार चीज होती है, जैसे– मल, मूत्र, पसीना, कफ, दूषित सांस, दूषित रक्त, दूषित मांस, पीप आदि जो शरीर को विषाक्त व दूषित करते हैं, शरीर का विनाश करते हैं, शरीर के लिए अनुपयोगी है, उसे ही दोष, विकार, मल या विजातीय द्रव्य के नाम से जाना जाता है।

विजातीय द्रव्य क्या है, इसके बारे में लूई कूने ने कहा है कि '' विजातीय द्रव्य बिल्कुल बेकार चीज है और शरीर को उसकी आवश्यकता नहीं है। तंदुरूस्त मनुष्य पर विजातीय द्रव्य का प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ऐसा होता तो उसमें भी उस पहलू में विजातीय द्रव्य जमा होता, जिस पहलू के बल वह सोता है। खुशी की बात तो यह है कि शरीर अपने आप ही विजातीय द्रव्य को फोड़ा–फुंसी, पसीना आदि के द्वारा बाहर निकालता रहता है। जब विजातीय द्रव्य इस प्रकार काफी निकल जाता है, तब शरीर को बड़ी शांति मिलती है। यदि विजातीय द्रव्य शरीर में जमा होते रहें तो शरीर में रोग उत्पन्न होने लगता है। विजातीय द्रव्य द्रव होता है। उसमें सड़न पैदा होती है और अधिक सड़न से उसका तापमान बढ़ेगा। विजातीय द्रव्य के कण एक दूसरे से और शरीर से रगड़ खाते हैं, इसलिए तापमान बढ़ता है, इसी को हम ज्वर कहते हैं। अर्थात् (1) जब साफ पाखाना नहीं होता, (2) जब पेशाब खुलकर नहीं होता, (3) जब पसीना नहीं आता, तब ज्वर होता है।

जिस अंग पर विजातीय द्रव्य का प्रभाव अधिक पड़ता है, उसी नाम से उस रोग का नामकरण होता है, जैसे– उदर रोग, फेफड़े का रोग, हृदय का रोग आदि। जहाँ यह उबलता हुआ विजातीय द्रव्य अपना स्थान बना लेता है, उसी स्थान में वह रोग उत्पन्न कर देता है और डॉक्टर लोग उसका एक नाम रख देते हैं। विजातीय द्रव्य में सड़न से कीटाणुओं की उत्पत्ति होती है। यदि प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा सड़न को रोक दिया जाए व विजातीय द्रव्य को बाहर निकाल दिया जाए तो रोग व कीटाणु दूर हो जाते हैं और व्यक्ति स्वस्थ होकर तंदुरूस्त हो सकता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार, रोगों का मुख्य कारण शारीरिक मल जिसे विजातीय द्रव्य कहा जाता है, माना गया है। जब हम प्रकृति के नियमों का विरूद्धाचरण करके आहार–विहार दूषित बना लेते हैं और जिह्वा तथा भोगेन्द्रियों की तृप्ति के लिए आवश्यकता से अधिक भोग्य पदार्थों का प्रयोग करने लगते हैं तो हमारे शारीरिक अंगों पर अधिक भार पड़ता है जिनमें आमाशय प्रमुख हैं। जब आमाशय का कार्यभार बढ़ जाता है तो वह खाये हुए भोजन का रस पूर्ण रूप से निकाल नहीं पाता और अर्द्धमुक्त आहार ही हमारे मलाशय में पहुँच जाता है और वहाँ शीघ्र ही सड़ने लगता है और उसमें से गंदगी मिश्रित रस निकलकर रक्त में मिल जाता है। यह दूषित रक्त ही रोगों का मूल कारण है क्योंकि वह रक्तवाहिनी नसों द्वारा समस्त शरीर में संचरण करता रहता है और अपनी उस गंदगी को

जगह–जगह अस्वास्थ्यकर अवस्था उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त जीवकोष (सेल) हमेशा टूटते–फूटते रहते हैं। अगर वे ठीक समय से शरीर के बाहर न निकाल दिये जायें तो वे भी मल की तरह विकार उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंग यकृत, गुर्दा, आमाशय, फेफड़ा आदि जो कार्य करते रहते हैं, उनकी कार्यप्रणाली से भी कार्बोनिक एसिड, यूरिक एसिड, फॉस्फोरिक एसिड आदि कई विषाक्त द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनको भी बाहर निकालना आवश्यक होता है। चौथे नंबर पर शरीर के दोषयुक्त अंग, खराब टांसिल, कमजोर दांत, प्रदाहयुक्त श्वांसनली से भी विष उत्पन्न होते हैं। शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो तो शरीर के भीतर रहने वाले विभिन्न प्रकार के कीटाणु भी विष के परिमाण को बढ़ाते हैं। यह समस्त विष या मल शरीर के लिए विजातीय ही है और हमारे स्वास्थ्य का आधार इसी पर है कि यह शीघ्र से शीघ्र मलद्वार, मूत्रनली, फेफड़े, चर्म आदि के द्वारा निकलता चला जाय। यदि ये मल मार्ग साफ व खुले रहते हैं तो आसानी से मल को निकालते रहते हैं तो किसी रोग की संभावना नहीं रहती है पर यदि किसी कारणवश इनमें कुछ खराबी आ जाती है तो ये अपना कार्य ठीक ढंग से नहीं कर सकते तो शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य की वृद्धि होने लगती है और जब वह एक नियत सीमा को पार कर जाती है तो रोग प्रकट होने लगते हैं।

5.5.3 विजातीय द्रव्य का कारण– विजातीय द्रव्य जिसे हम दोष, विकार, सड़ा हुआ मल, बादी कहते हैं, ये हमारे अप्राकृतिक खान–पान व जीवनशैली अपनाने से होते हैं। ये हमारे शरीर में दो रास्ते से प्रवेश करते हैं। पहला नाक द्वारा फेफड़ों में तथा दूसरा मुँह द्वारा पेट में। वायु तथा पर्यावरण प्रदूषण के कारण फेफड़ों में पर्याप्त आवश्यक वायु न मिलने से विजातीय द्रव्य एकत्रित हो जाते हैं जिसे हम नाना प्रकार के रोग के नाम से जानते हैं। इसी प्रकार अस्वाभाविक अर्थात गलत खान–पान से शरीर की पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है। जब आवश्यकता से अधिक भोजन किया जाता है और बहुत ही चटपटा, मिर्च मसाले वाला, तला–भूना, अम्लीय भोजन करते हैं तो शरीर इसको स्वभावतः मल, मूत्र तथा पसीना आदि के द्वारा बाहर नहीं निकाल पाता है। इस प्रकार ये विजातीय द्रव्य भीतर ही जमा होने लगते हैं। रक्त में मिलकर रक्त प्रवाह में विघ्न उत्पन्न करते हैं एवं पाचन तंत्र को अव्यवस्थित कर देते हैं। ये विजातीय द्रव्य उसे बाहर निकालने वाले शरीर के कोठों के चारों ओर धीरे–धीरे जमा हो जाते हैं और उनके कार्य में रूकावट डालते हैं। फिर ये विभिन्न रोग उत्पन्न करने लगते हैं।

विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति हमारे शरीर में निरंतर होती रहती है और उसका निष्कासन कार्य भी हमारे शरीर में निरंतर होता है, लेकिन यदि निष्कासन कार्य में रूकावट आने लगे या बाहर से विजातीय द्रव्य हमारे शरीर में प्रवेश करने लगे एवं और भी अन्य कारणों से हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य बढ़ने लगे तो हम रोगग्रस्त हो जाते हैं। अप्राकृतिक जीवनशैली व गलत खान–पान से विजातीय द्रव्य की मात्रा हमारे शरीर में अधिक बनने लगती है। इसके अतिरिक्त भी और भी कई कारण हैं जिससे विजातीय द्रव्य का प्रवेश या निर्माण हमारे शरीर में होने लगता है जिसमें कुछ निम्नलिखित हैं–

1. श्वांस के द्वारा– श्वास के साथ हवा में उड़ते रहने वाले छोटे–छोटे कीटाणु, धूलकण, धुँआ, दुर्गन्ध, हानिकारक गैस एवं अन्य विजातीय द्रव्य शरीर में चले जाते हैं।

2. मुँह के द्वारा— मुँह के द्वारा जल या अन्य खाद्याखाद्य पदार्थ में मिश्रित कीटाणु और गन्दगी आदि शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और शरीर में विजातीय द्रव्य की वृद्धि करते हैं।
3. विषैले जंतुओं के काटने से— विषैले जंतुओं जैसे— साँप, बिच्छु, मच्छर, कीट—पतंग आदि काट खाने से उनका विष शरीर में प्रवेश कर जाता है और शरीर में विजातीय द्रव्य की वृद्धि होने लगती है।
4. विषैले दवाओं के प्रयोग से— विषैले दवाओं, सुइयों, गैसों द्वारा भी विजातीय द्रव्य शरीर में प्रवेश कराया जाता है। ये विषैले द्रव्य हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य के रूप में संचित होते रहते हैं।
5. नशीले पदार्थों के सेवन द्वारा— नशीले पदार्थ, जैसे— तंबाकू, गांजा, चरस, सिगरेट, अफीम, शराब आदि के सेवन से भी हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होती है।
6. वंश परम्परा संस्कार— जिन माता—पिता के शरीर में विजातीय द्रव्य भरे रहते हैं उनके बच्चों में भी विजातीय द्रव्य प्रवेश कर जाते हैं। डॉ. लुई कुइने के अनुसार, बच्चे अपने माता—पिता से विजातीय द्रव्य लेकर पैदा होते हैं। माता—पिता जब विजातीय द्रव्य से अधिक लदे रहते हैं, तब विजातीय द्रव्य पीढ़ी—दर—पीढ़ी उतरता जाता है। माता—पिता की शकल जब बच्चों में उतर जाती है, तब माता—पिता का और विशेषकर माता का भी विजातीय द्रव्य उसी प्रकार बच्चों में उतर आता है। हम बराबर देखते हैं कि जो बिमारियाँ माता—पिता को होती हैं, वे ही बच्चों को भी प्रायः हुआ करती हैं।
7. अप्राकृतिक जीवनशैली द्वारा— अप्राकृतिक जीवनशैली अपनाने से हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा बढ़ने लगती है और हम रोगग्रस्त हो जाते हैं। विजातीय द्रव्य बढ़ने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

   भोजन संबंधी गलत आदतें— आज मनुष्य का आहार विकृत हो गया है। स्वाद के वशीभूत होकर व्यक्ति आवश्यकता से अधिक भोजन करते हैं और बहुत ही चटपटा, मिर्च—मसालायुक्त, तैलीय आहार ग्रहण करते हैं। अम्लीय भोजन अधिक करते हैं। भोजन में क्षार की मात्रा कम रहती है। आहार ऐसा होने चाहिए कि उसमें क्षार की मात्रा 80 प्रतिशत तथा अम्ल की मात्रा 20 प्रतिशत हो क्योंकि हमारे शरीर में खून की बनावट इसी प्रकार की है। प्राकृतिक कच्चा आहार क्षारीय कहलाता है, जबकि अग्नि के संपर्क में बना खाद्य पदार्थ अम्लीय हो जाता है। जब यह अनुपात असंतुलित होने लगता है अर्थात जब शरीर के रक्त में क्षारत्व और अम्लत्व के इस 4 और 1 के अनुपात में कमी या अधिकता हो जाती है अथवा जब रूधिर में क्षारधर्मी खाद्य पदार्थों के कम उपयोग के कारण क्षारत्व की कमी और अम्लत्व की बढ़ती हो जाती है तो प्रकृति रक्त और शरीर के अन्य तंतुओं में से क्षारत्व को खींचकर शरीर के पोषण के काम में उसे लगाने के लिए बाध्य होती है, नतीजा यह होता है कि शरीर का रक्त और अन्य तंतु जिनसे क्षारत्व खींच लिया जाता है— निःसत्व, निर्बल और रोगी हो जाते हैं।

   स्नायु और मज्जा की रचना के लिए रक्त में अम्लत्व की बहुत थोड़ी मात्रा होनी चाहिए। इससे अधिक अम्लत्व का रूधिर में होना तो उसका विषाक्त बनना

और अत्यंत भयावह है। एक प्रसिद्ध डॉक्टर का कथन है कि प्राकृतिक कारणों से होने वाली जो मौतें बतायी जाती हैं, वे सभी शरीर में अम्लता की अधिकता से ही होती है। इसके विपरीत रूधिर में क्षारत्व वह वस्तु होती है, जो छीजे हुए तंतुओं की मरम्मत करती है, बीजकोषों को नवजीवन प्रदान करती है तथा हमें रोगों से लड़ने की शक्ति देती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शरीर में क्षारत्व के बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। इसका कारण यह है कि रक्त में क्षारत्व की कमी या अभाव हो जाने से उसमें स्थित श्वेतकणों (white blood cells) जो हमारे स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है की शक्ति क्षीण हो जाती है तथा शरीर यंत्र को सुचारू रूप से परिचालित करने वाली सारी व्यवस्था ही नष्ट–भ्रष्ट हो जाती है। मधुमेह, नेत्र रोग, सभी प्रकार के ज्वर, वातव्याधियाँ, पेट क रोग तथा हर प्रकार की पाचन संबंधी खराबियाँ आदि सभी रोग केवल रक्त में क्षार की कमी हो जाने से ही उत्पन्न होती है। कुछ चोटी के डॉक्टरों के मत से मृत्यु की परिभाषा है– अम्ल विष के शरीर द्वारा सोखे जाने का अंतिम परिणाम और क्षारत्व का शरीर में अभाव।

क्षारधर्मी खाद्य पदार्थों में सभी ताजे, पके और खट्टे फल, विशेषकर नींबू जाति के, धारोष्ण दूध, ताजा मट्ठा, हरे साग, हरी सब्जियाँ छिलके सहित, मूली, प्याज, शहद, गुड़, मक्खन, किशमिश, कच्ची गरी, मीठा दही, गन्ना, गाजर, हरा चना, अंकुरित अन्न, सलाद आदि आते हैं। जबकि अम्लधर्मी खाद्य पदार्थों में मांस, मछली, अंडा, पनीर, रोटी, दालें, सूखा मेवा, सफेद चीनी, मिश्री, मिठाइयाँ, चाय, कॉफी, नशे के सभी चीजें, मुरब्बे, अचार, चटनी, खटाई, सिरका, तली–भूनी चीजें, उबला हुआ दूध, खीर, चटपटे, डब्बों में बंद भोजन, नमक, तेल तथा अग्नि के संपर्क में आयी अन्य वस्तुएँ।

शरीर में जाकर भोजन क्षार अथवा अम्लजातीय पदार्थ में बदल जाता है। भोजन पहले ऑक्सीजन की अग्नि से पकता है और फिर जलकर राख में बदल जाता है। उस राख में जो खनिज लवण विद्यमान होते हैं, वे ही शरीर के भीतर गलकर अम्लत्व अथवा क्षारत्व की वृद्धि करते हैं। कई प्रकार के खनिज लवण खाद्य पदार्थों में पाये जाते हैं। उनमें से कुछ जैसे सोडियम, पोटाशियम, कैल्शियम तथा लोहा आदि शरीर में क्षारत्व उत्पन्न करते हैं और ऑयोडिन, क्लोरीन, सल्फर तथा फॉस्फोरस आदि शरीर में अम्लत्व उत्पन्न करते हैं।

डॉ. राकेश जिन्दल ने क्षारधर्मी तत्वों के महत्व पर विशेष बल देते हुए प्राकृतिक आयुर्विज्ञान में लिखते हैं कि हमारा आहार ऐसा होना चाहिए जिसमें क्षारधर्मी और अम्लधर्मी खाद्यों के क्रमशः 4 और 1 के अनुपात हों, तभी हम स्वस्थ रह सकते हैं। इसके अनुपात में कमी या वृद्धि होने से हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने लगती है और यही रोग का कारण हो सकता है।

पंचतत्वों का कम से कम या अधिक उपयोग– हमारा शरीर पंचतत्वों अर्थात मिट्टी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से मिलकर बना है। इनमें से किसी भी तत्व की कमी या अधिकता से हमारा शरीर विकारग्रस्त हो सकता है।

रोगी होना और निरोग रहना, यह पंचतत्वों की स्थिति पर निर्भर करता है। आहार–विहार की असावधानी के कारण तत्वों का नियत परिणाम घट–बढ़ जाता

है। फलस्वरूप बीमारी खड़ी हो जाती है। वायु की मात्रा में अंतर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कंपन, अकड़न, गुल्म, हड़फूटन, नाड़ी विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अग्नि तत्व के विकार से फोड़े, फुन्सी, रक्तपित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वांस, उपदंश, खून, फिसाद आदि बढ़ते हैं। जल तत्व के गड़बड़ी से जलोदर, पेचिश, संग्रहणी, बहुमूत्र, प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम, खांसी जैसे रोग पैदा होते हैं। पृथ्वी तत्व बढ़ जाने से फीलपाँव, तिल्ली, जिगर, रसौली, मेदवृद्धि, मोटापा आदि रोग होते हैं। आकाश तत्व के विकार से मूर्च्छा, मिर्गी, उन्माद, पागलपन, सनक, अनिद्रा, वहम, घबराहट, दुःस्वप्न, गूंगापन, बहरापन, विस्मृति आदि रोगों का आक्रमण होता है।

अग्नि की मात्रा कम हो जाय तो शीत, जुकाम, नपुंसकता, गठिया, मंदाग्नि, शिथिलता, सिकुड़न, सर्दी की सूजन, वायुजनित पीड़ाएँ, पक्षाघात, बुढ़ापे की कमजोरी, निद्रा की अधिकता, कोष्ठबद्धता तथा ठंड आदि रोग उत्पन्न होने लगते हैं और यदि अग्नि की मात्रा बढ़ जाये तो चेचक, ज्वर, फोड़े, फुंसी, भूख, प्यास, जलन, क्रोध, तनाव, सिरदर्द, उच्च रक्तचाप आदि पित्तजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इसी प्रकार अन्य तत्वों की कमी हो जाना, बढ़ जाना अथवा विकृत हो जाना रोगों का हेतु बन जाता है। शरीर पंच तत्वों का बना है। यदि सब तत्व अपनी नियत मात्रा में यथोचित रूप से रहे तो रोगों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे ही इनकी उचित स्थिति में अंतर आता है, वैसे ही रोगों का उद्भव होने लगता है। दो, तीन या चार–पाँच तत्वों के मिश्रित विकारों से विकारों की मात्रा के अनुसार अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं। ये सभी रोग या विकार पहले विजातीय द्रव्य के रूप में हमारे शरीर में उत्पन्न होते हैं, फिर रोग के रूप में प्रकट होते हैं।

आलस्य की अधिकता– आलस्य की अधिकता से हम अपने शरीर का उचित ध्यान नहीं रखते। मैले, गंदे रहते हैं, शरीर की क्रियाशीलता भी कम हो जाती है, स्वच्छता का ध्यान नहीं रख पाते हैं। आसन व्यायाम जो हमें करना चाहिए, वो भी नहीं कर पाते, फलस्वरूप हमारे शरीर में विकार उत्पन्न होने लगते हैं फिर रोग के रूप में प्रकट होते हैं।

अनियमित भोग विलास– अनियमित भोग विलास से मनुष्य कमजोर और अस्वस्थ हो जाता है। उसकी जीवनीशक्ति क्षीण हो जाती है, शरीर अंदर से खोखला होने लगता है। पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है, आँख, गाल धंस जाते हैं। नाना प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न होने लगता है। सिर के बाल एवं पकने लगते हैं, असमय में ही बुढ़ापा आने लगता है। आज की पीढ़ी के नवयुवकों में यह अधिकता देखा जाता है। विभिन्न रोगों की उत्पत्ति के पूर्व हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य संचित रहता है, फिर रोग के रूप में प्रकट होता है।

8. जीवनीशक्ति की कमी– शरीर में जितनी अधिक जीवनीशक्ति होती है, उसके अंदर रोगों से लड़ने की उतनी ही अधिक सामर्थ्य होती है। यह सर्वविदित है कि साधारणतः दुर्बल अंगों और दुर्बल व्यक्तियों में ही रोग पैदा होते हैं और पनपते हैं। शक्तिहीन शरीर में, उसमें पड़े हुए कूड़े–कचरे, विकार, मल या विजातीय द्रव्य को बाहर निकालकर निर्मल बनाने की शक्ति नहीं रहती। फलस्वरूप विकारों का बोझ

बढ़ने से शरीर निस्तेज, सौन्दर्यहीन और कुरूप होने लगता है, भूख मर जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, नींद हराम हो जाती है, शरीर का विकास रूक जाता है और शरीर में हमेशा विजातीय द्रव्य के उपस्थित रहने के कारण एक–न–एक रोग डेरा डाले रहते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि शरीर में तभी विजातीय द्रव्य एकत्रित होते हैं, उसका निष्कासन सही ढंग से नहीं हो पाता जब शरीर में जीवनीशक्ति का ह्रास होता है। जीवनीशक्ति को बढ़ाये बिना रोगमुक्त होने की आशा करना दुराशा मात्र है।

जीवनीशक्ति की कमी के प्रधान कारण ये हैं–

- शक्ति से अधिक श्रम करना।
- रात्रि में जागरण कर कार्य करना।
- चिंता आदि मानसिक व्याधियाँ।
- अप्राकृतिक औषधियों का सेवन आदि, मिथ्योपचार।
- अप्राकृतिक आहार का सेवन करना।

9. मिथ्योपचार– मिथ्योपचार का शाब्दिक अर्थ है कि मिथ्या उपचार अर्थात गलत तरीके से रोगी का उपचार करना। प्राकृतिक चिकित्सा में रोग का मूल कारण विजातीय द्रव्य को माना जाता है, इस सिद्धान्त को मानने वाला कभी भी नहीं चाहेगा कि उसके शरीर में बाहर से कोई विजातीय द्रव्य पहुँच कर रोग का रूप धारण करे। हैजा, प्लेग आदि रोगो से बचाव हेतु स्वस्थ शरीर में विषों की सुईयाँ जबरदस्ती देना, इसके उदाहरण हैं। यह मिथ्योपचार है। शरीर के किसी रोगी अवयव को जल्दी में ऑपरेशन कर डालना या काटकर अलग कर देना जैसा कि अन्त्रपुच्छ की शोध में प्रायः अनभिज्ञ डॉक्टर कर बैठते हैं जिससे वह रोग और अधिक गंभीर रूप धारण कर लेने के लिए बाध्य होता है, यह भी मिथ्योपचार का उदाहरण है। रोग होने पर ठीक कारण के निराकरण के बदले रोगी को ऊपर से अत्यंत उग्र औषधियों का सेवन मिथ्योपचार का ही उदाहरण है जिससे विविध प्रकार के बाहरी विष जिसे हम विजातीय द्रव्य कहते हैं। शरीर में प्रवेश कर विष की मात्रा यानि रोग को बढ़ा देते हैं तथा रोग को पुराना बनाने में मदद करते हैं।
10. बाह्य प्रहार या आकस्मिक दुर्घटना– स्वस्थ व्यक्ति को अचानक चोट लगने से अथवा आकस्मिक दुर्घटना, त्वचा, मांस, शिरा, हड्डी आदि के टूटने–फटने से अभिघातज रोगों की उत्पत्ति होती है। शल्यक्रिया भी इसी श्रेणी में आती है क्योंकि चीर–फाड़ भी तो सीधा बाह्य प्रहार ही है। इन सभी के कारण हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य की वृद्धि होने लगती है और शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।
11. रोगोत्पादक जीवाणु– एक स्वस्थ और निर्मल शरीर में संसार के कीटाणु भी किसी रोग को प्रारंभ नहीं कर सकते, किंतु एक मल भरे शरीर में कोई भी रोगाणु उद्रेक उत्पन्न करके रोग के लक्षण उत्पन्न कर सकता है। क्योंकि रोगाणु मल में ही जीते हैं और निर्मलता से वे नष्ट हो जाते हैं। यदि शरीर में जीवन की शक्ति कम है और पहले से ही विजातीय द्रव्य शरीर में भरा हो तो रोगोत्पादक जीवाणु विजातीय द्रव्य की मात्रा को और भी बढ़ा देते हैं और शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

12. कब्ज– कब्ज सभी रोगों की जड़ है, यह आधुनिक सभ्यता का रोग है। कब्ज को कोष्ठबद्धता, विबंध, मलबंध, मलावरोध आदि कई नामों से पुकारते हैं। अंग्रेजी में इसको कॉन्स्टीपेशन कहते हैं। मल जब बड़ी आंत में जमा हो जाता है और किसी कारण से अपने रास्ते से बाहर नहीं निकलता बल्कि वहीं पड़ा–पड़ा सड़ा करता है तो उसे कब्ज होना कहते हैं। खान–पान का असंयम कब्ज का मूल कारण है। डॉ. हाव कहते हैं कि शरीर से विजातीय द्रव्य का बाहर निकलना जब बंद हो जाता है तब टाइफाइड तथा हृदय और मूत्राशय के रोग उत्पन्न होते हैं। हैण्डबुक ऑफ फिजियोलॉजी के लेखक डॉ. डब्ल्यू.ए. हलीबर्टन, एम.डी. लिखते हैं– ''हमारी आंतों में खाद्य पदार्थों का रस चूसने का कार्य अविराम गति से चलता रहता है। पर जब उन्हीं आंतों में मल जमा होकर सड़ने लगता है तब हमारी आंतें उस जमा हुए मल से उसके विष को भी चूसती हैं और चूसकर उस विष को रक्त में मिला देती हैं जिससे रक्त विषाक्त हो जाता है जो नाना प्रकार के रोगों का कारण है। कब्ज से उत्पन्न होने वाले रोगों में श्वेत प्रदर, मासिक धर्म की अनियमितता, स्वप्नदोष, सिरदर्द, कमर दर्द, नेत्र रोग, मधुमेह, दंत रोग आदि उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों रोग पेट संबंधी हैं जो कब्ज से उत्पन्न होते हैं। रोगों की पूर्व स्थिति कब्ज है। कब्ज होने का अभिप्राय मोटे तौर पर यह है कि शरीर से मल निष्कासन की एक महत्वपूर्ण क्रिया मंद पड़ गयी है। फलस्वरूप विजातीय द्रव्य की मात्रा शरीर में बढ़ने लगती है और शरीर में विभिन्न रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

5.3.4 विजातीय द्रव्य से युक्त व्यक्ति का लक्षण–जिनके शरीर में विजातीय द्रव्य भरा रहता है उनके लक्षण अलग से दिखते हैं। जिन अंगों में विजातीय द्रव्य जमा रहता है वे अपना स्वाभाविक कार्य उचित रूप से पूरा नहीं कर सकते हैं। वहाँ रक्त प्रवाह में रूकावट होने लगती है और इससे शरीर का पूरा पोषण नहीं हो पाता है। जहाँ विजातीय द्रव्य बहुत अधिक जमा हो जाता है, वहाँ अंग छूने पर ठण्डे जान पड़ते हैं। पहले पहल शरीर के अग्रभाग हाथ–पैर ठंडे जान पड़ते हैं, पर जल्दी ही दूसरे अंगों के हिस्सों पर भी इसका असर होने लगता है।

विजातीय द्रव्य गैस रूप में मस्तिष्क में पहुँच जाता है, वहाँ सिर में दर्द होने लगता है। बीच के जो शारीरिक अवयव हैं वे विजातीय द्रव्य को ऊपर चढ़ने से रोकते हैं, फलस्वरूप पारस्परिक संघर्ष के कारण सिर गर्म हो उठता है और अगर मल अधिक होता है तो उसकी गर्मी से बुखार भी हो जाता है।

शारीरिक अस्वस्थता के अतिरिक्त ऐसे मलभारयुक्त लोगों की आकृति भी बिगड़ने लगती है। मुखाकृति खराब होकर मस्तक भी बैडोल हो जाता है। गर्दन अपेक्षाकृत छोटी या बड़ी दिखलायी पड़ती है। अनेक लोगों का मुँह फूला हुआ जान पड़ता है। ऐसे फूले शरीर को कुछ लोग स्वस्थता, पुष्टता या शक्ति का चिन्ह समझते हैं परन्तु उनका यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण होता है। यह लक्षण शक्ति की वृद्धि के न होकर मल भरे जाने के होते हैं।

छाती ऊँची–नीची हो जाती है, पेट आगे को लटकने लगता है, टांगें खम्भे के समान दिखाई देने लगती हैं। कुछ लोगों के मल अधिक मात्रा में शरीर के भीतरी भागों में ही रहता है, इसलिए उनके शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और खाल लटक जाती है। गर्दन को इधर–उधर फेरने से खाल तनने लगती है। मुख का रंग फीका, पीला अथवा बहुत

लाल हो जाता है। शरीर का रंग यदि बहुत चमकने लगे तो यह भी विजातीय द्रव्य इकट्ठा होने का लक्षण है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी **'जीवेम शरदः शतम्'** में लिखते हैं कि ''मल के इकट्ठे होने की पहचान यह भी है कि उससे शरीर की फूर्ती जाती रहती है और उसका स्थान आलस्य ग्रहण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति सदैव निकम्मा बनकर पड़ा रहना चाहता है और अपना कोई काम स्वयं करना पसंद नहीं करता। उसे सब प्रकार का परिश्रम, चलना–फिरना, खेलना, कूदना बहुत बुरा जान पड़ता है अर्थात आलस्य के कारण उससे हो नहीं पाता है।

डॉ. पी.डी. मिश्रा **'प्राकृतिक चिकित्सा– सिद्धान्त एवं व्यवहार'** में लिखते हैं कि विजातीय द्रव्य के चुपचाप शरीर में पड़े रहने से यह अवसर पाकर रोग के रूप में बाहर फूट निकलता है। विजातीय द्रव्य में जब सड़न पैदा होती है तो उसमें कीड़े पड़ जाते हैं और उसमें गर्मी की मात्रा बढ़ जाती है। विजातीय द्रव्य के कण एक दूसरे से रगड़ खाते हैं, इसलिए तापक्रम बढ़ता है। मौसम के बदलाव, क्रोध, भय और इसी प्रकार के दूसरे विकारों से भी सड़न बढ़ती है। जब विजातीय द्रव्य की सड़न शरीर के ऊपरी भाग में पहुंचती है तो सिरदर्द होने लगता है। सड़न से गर्मी पैदा होती है, जिसके कारण रक्त का तापक्रम बढ़ जाता है। इसी को ज्वर कहते हैं। जब पाखाना साफ नहीं होता, पेशाब खुलकर नहीं होता, त्वचा के छिद्र गंदे रहते हैं और पसीना नहीं आता, तब ज्वर होता है। उपर्युक्त सभी लक्षण विजातीय द्रव्य से भरे शरीर में दिखते हैं।

विजातीय द्रव्य से भरे शरीर की मुख्य पहचान यह है कि उसके शरीर के किसी न किसी भाग में दर्द रहेगा, सिरदर्द, कमरदर्द, पीठ में दर्द या और भी किसी अंग में दर्द रहेगा। कब्ज या अतिसार होगा। मलत्याग के पूर्व या बाद में कमजोरी होगी। काम करने में कष्ट का अनुभव होना या थोड़ा भी काम करने, मेहनत करने या चलने से कष्ट होना एवं हांफ चढ़ना। शरीर का भार एकाएक कम या अधिक होना। हृदय में भारीपन, दबाव का अनुभव, वक्षस्थल को कष्ट या उसके आसपास के हिस्से में कष्ट का अनुभव होना। शरीर में कमजोरी, शरीर के ऊपरी हिस्से अथवा नीचे के हिस्से में गर्मी की कमी। कभी–कभी एकाएक शरीर का ठंडा हो जाना। वाणी में विकार, कफ का लगातार दो–तीन सप्ताह तक निकलना, भूख का कम लगना, उदर के दायीं ओर पीड़ा होना तथा भारीपन रहना, बार–बार मूत्र त्याग करके जाना, बार–बार सर्दी, जुकाम होना, किसी कार्य में मन न लगना, सुस्ती रहना, थकान अनुभव होना आदि विजातीय द्रव्य से भरे शरीर के लक्षण हैं।

विजातीय द्रव्य से भरे व्यक्ति को नींद नहीं आती, मन बुझा–बुझा, निराशा से भरा होता है, कई प्रकार के मानसिक विकार भी हो जाते है। भय, निराशा, काम, क्रोध, आशंका, अहंकार आदि उसे घेर लेते हैं। जब विजातीय द्रव्य बहुत अधिक हो जाता है तो रोग, भय, पीड़ा एवं निराशा से व्यक्ति ग्रसित हो जाता है और जीने की आशा छोड़कर व्यक्ति आत्महत्या करने तक का विचार करने लगता है। अतः व्यक्ति को हर हाल में अपना आहार–विहार ठीक कर तथा प्राकृतिक चिकित्सा को अपनाकर विजातीय द्रव्य को हटाने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न–

1. शरीर में विजातीय द्रव्यों का संचय सर्वप्रथम निम्न में से किस स्थान पर होता है ?
   (अ) छाती में (ब) पेट में (स) पेडू में (द) सिर में
2. शरीर शुद्धि के चार मार्ग में से निम्न में से कौन सा मार्ग नहीं है–

(अ) श्वसन मार्ग (ब) मुख मार्ग (स) गुदा मार्ग (द) त्वचा मार्ग

3. विजातीय द्रव्य के मुख्य कारणों में से निम्न में से कौन सा कारण नहीं है ?
   (अ) अप्राकृतिक जीवन शैली (ब) विषैले जन्तुओं के काटने से
   (स) छुआछूत से (द) वंश परम्परा संस्कार से।
4. जीवनीशक्ति की कमी के प्रधान कारणों में से निम्न में से कौन सा नहीं है ?
   (अ) शक्ति से अधिक श्रम करना (ब) चिंता आदि मानसिक व्याधियाँ
   (स) अप्राकृतिक आहार का सेवन (द) झूठ बोलना व गाली देना
5. शरीर में रक्त में क्षारत्व और अम्लत्व का अनुपात निम्न में से कौन सा है–
   (अ) 4:1 (ब) 1:4 (स) 2:1 (द) 4:3

निम्नलिखित प्रश्नों में से सत्य या असत्य का चुनाव करें–

6. शरीर में जाकर भोजन क्षार अथवा अम्लजातीय पदार्थ में बदल जाता है। (सत्य / असत्य)
7. जीवनीशक्ति वह शक्ति है जो शरीर में रोगों से लड़ती है। (सत्य / असत्य)
8. विजातीय द्रव्य से भरे व्यक्ति को नींद अधिक आती है। (सत्य / असत्य)
9. विजातीय द्रव्य की अधिकता से रक्त में ठंडक बढ़ती है। (सत्य / असत्य)
10. रोगोत्पादक जीवाणु स्वस्थ शरीर को रोगग्रस्त कर देते हैं। (सत्य / असत्य)

5.5 सारांश

आवश्यकता से अधिक भोजन करने या गलत तरीके का भोजन करने से एवं अप्राकृतिक आहार–विहार करने से पाचक तंत्र पर विशेष दबाव पड़ता है और कुछ समय के बाद पाचन तंत्र के अंग अपना कार्य सुचारू रूप से करने में असमर्थ होने लगते हैं। मल को बाहर निकलने में विलम्ब होने लगता है। शरीर में रोग का सूत्रपात शरीर में विजातीय द्रव्य से ही होता है। शरीर शुद्धि के चार मार्ग या संस्थान हैं जो अपने ढंग से विजातीय पदार्थ बाहर निकालते हैं। श्वसन मार्ग दूषित वायु के रूप, मूत्रमार्ग तरल मूत्र के रूप में, त्वचा मार्ग तरल पसीने के रूप में तथा मल या गुदामार्ग ठोस मल रूप में। अर्थात त्वचा, वृक्क, फेफड़े तथा आंतों से विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकलता है। लेकिन जब ये चारों मार्ग विजातीय द्रव्य को बाहर नहीं निकाल पाते एवं कमजोर पड़ जाते हैं तो विजातीय द्रव्य भीतर ही जमा होने लगता है। रक्त में मिलकर रक्त प्रवाह में विघ्न उत्पन्न कर पाचन तंत्र को अव्यवस्थित कर देता है। धीरे–धीरे विजातीय द्रव्य उसे बाहर निकालने वाले शरीर के कोठों के चारों ओर जम जाते हैं और उनके कार्य में रूकावट डालने लगते हैं।

विजातीय द्रव्य शरीर में चुपचाप पड़ा रहता है, उसमें सड़न पैदा होने लगती है। विजातीय द्रव्य में उद्वेग के कारण हमारे रक्त में गर्मी बढ़ जाती है। इस स्थिति को ज्वर कहते हैं। ज्वर तभी होता है जब शरीर में विजातीय द्रव्य मौजूद हों और उसके निकलने के सभी मार्ग लगभग रूक गए हों।

अप्राकृतिक खान–पान एवं आहार–विहार से विजातीय द्रव्य बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त दूषित वातावरण, धूलकण, धुंआ, जल में मिश्रित कीटाणु, गंदगी आदि से भी हमारे नासिका व मुंह द्वारा विजातीय द्रव्य प्रवेश कर जाते हैं। सांप–बिच्छू आदि जहरीली कीटाणु के काटने व विषैली दवाइयों, सुइयों द्वारा भी विजातीय द्रव्य शरीर में प्रवेश कर जाता है। नशा आदि के सेवन जैसे– तम्बाकू, गांजा, चरस, सिगरेट से भी विजातीय द्रव्य की मात्रा शरीर में बढ़ती है। विजातीय द्रव्य के और भी कई कारण हैं, जैसे– मिथ्योपचार जैसे

ऑपरेशन द्वारा शरीर के अंगों को काटकर अलग करना, बाह्य प्रहार या दुर्घटना, वंश परम्परा संस्कार, जीवनीशक्ति का ह्रास, अत्यधिक भोजन, मानसिक कुविचार या नकारात्मक चिंतन, पर्यावरण आदि कई कारण हैं जिससे विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति शरीर में होने लगती है, शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

शरीर में विजातीय द्रव्य जब भर जाता है तो रक्त में गर्मी होने लगती है, ज्वर हो जाता है। विकार मस्तिष्क में चढ़कर सिरदर्द उत्पन्न करता है। विजातीय द्रव्य शरीर के जिस भाग में पहुँचता है, उसे अस्वस्थ व कमजोर बना देता है। उसकी भूख कम हो जाती है व अधिक परिश्रम नहीं कर सकता है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, और न ही आराम अनुभव करता है। शरीर थका–थका, कमजोर नाना प्रकार के बीमारियों से युक्त हो जाता है। निराशा, चिन्ता, भय, काम, क्रोध आदि विकार से भी विजातीय द्रव्य की मात्रा शरीर में बढ़ जाती है। व्यक्ति शारीरिक व मानसिक रूप से कमजोर व अस्वस्थ हो जाता है।

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

- **विजातीय द्रव्य–** शरीर के विकार या वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर स्वस्थ शरीर का भाग नहीं बन सकती, जो शरीर को पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश या नुकसान का कारण बन सकती है, उसी को दोष या विजातीय द्रव्य कहते हैं। इसके कई नाम हैं, जैसे– रोग, मल, विकार, विष, क्लेद, संचित दुर्द्रव्य, बादीपन, दूषित पदार्थ, जहर, विकृति आदि।
- **जीवनीशक्ति–** शरीर की वह शक्ति जो रोगों, दोषों व विजातीय द्रव्य को दूर करने की सामर्थ्य रखती है व शरीर का स्वास्थ्य बनाये रखने का निरंतर प्रयास करती है, जीवनीशक्ति कहलाती है।
- **मिथ्योपचार–** मिथ्योपचार का शाब्दिक अर्थ है मिथ्या उपचार अर्थात गलत तरीके से रोगी का उपचार करना। विभिन्न रोगों से बचाव हेतु स्वस्थ शरीर में विषों की सूईयाँ जबरदस्ती देना या रोगी अवयव को जल्दी में ऑपरेशन कर डालना या काटकर अलग कर देना आदि मिथ्योपचार है या रोग के निराकरण के बदले रोगी को ऊपर से अत्यन्त उग्र औषधियों का सेवन मिथ्योपचार का ही उदाहरण है जिससे विविध प्रकार के बाहरी विष की मात्रा यानि रोग को बढ़ा देते हैं तथा रोग को पुराना बनाने में मदद करते हैं।
- **रोगोत्पादक जीवाणु–** वैसे जीवाणु जो रोगों को बढ़ाने में मदद करते हैं, रोगोत्पादक जीवाणु कहलाते हैं। इसका प्रभाव केवल मल एवं विजातीय द्रव्य से भरे शरीर पर ही होता है, स्वस्थ शरीर में नहीं। रोगाणु मल में ही जीते हैं ओर निर्मलता में नष्ट हो जाते हैं। एक स्वस्थ और निर्मल शरीर में संसार के कोई भी कीटाणु किसी भी रोग को प्रारंभ नहीं कर सकते हैं।
- **अप्राकृतिक जीवन शैली–** प्रकृति विरूद्ध जीवन शैली अर्थात रहन–सहन व आहार–विहार को अप्राकृतिक जीवन शैली कहते हैं। प्रकृति विरूद्ध आहार–विहार से शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा बढ़ने लगती है और व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है।

- **अम्लधर्मी खाद्य पदार्थ–** अम्लधर्मी खाद्य पदार्थों में मांस, मछली, अंडा, पनीर, रोटी, दालें, सफेद चीनी, मिश्री, मिठाईयाँ, चाय, कॉफी, नशे के सभी चीजें, मुरब्बे, अचार, चटनी, खटाई, सिरका, तली–भूनी चीजें, उबला हुआ दूध, खीर, चटपटे, डब्बों में बंद भोजन, नमक, तेल तथा अग्नि के संपर्क आयी अन्य वस्तुएँ आते हैं। इन सभी पदार्थों को अम्लधर्मी खाद्य पदार्थ कहते हैं और इसकी जरूरत शरीर को मात्र 20 प्रतिशत ही होती है।
- **क्षारधर्मी खाद्य पदार्थ–** क्षारधर्मी खाद्य पदार्थों में सभी ताजे, पके और खट्टे फल विशेषकर नींबू जाति के, धारोष्ण दूध, ताजा मट्ठा, हरे साग, हरी सब्जियाँ छिलके सहित, मूली, प्याज, शहद, गुड़, मक्खन, किशमिश, कच्ची गरी, मीठा दही, गन्ना, गाजर, हरा चना, अंकुरित अन्न, सलाद आदि आते हैं तथा बिना अग्नि के संपर्क के प्राकृतिक पदार्थों को क्षारधर्मी खाद्य पदार्थ कहते हैं। आहार में इसकी 80 प्रतिशत भाग होना चाहिए क्योंकि शरीर को इसकी आवश्यकता 80 प्रतिशत होती है।
- **कब्ज–** कब्ज को कोष्ठबद्धता, विबंध, मलबंध, मलावरोध आदि कई नामों से पुकारते हैं। अंग्रेजी में इसे कॉन्स्टीपेशन कहते हैं। मल जब बड़ी आंत में जमा हो जाता है और किसी कारण से अपने रास्ते से बाहर नहीं निकलता बल्कि वहीं पड़ा–पड़ा सड़ा करता है तो उसे कब्ज होना कहते हैं। खान–पान का असंयम इसका मूल कारण है। कब्ज ही समस्त रोगों की जड़ है। वस्तुतः कब्ज ही विजातीय द्रव्य है, जिसका शरीर से निकलना अत्यन्त आवश्यक है।

5.7 अभ्यास प्रश्नों उत्तर–

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1.–(स), 2.–(ब), 3.–(स), 4.–(द), 5.–(अ), 6.–सत्य, 7.–सत्य, 8.–असत्य, 9.–असत्य, 10. –असत्य।

5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- डॉ. राकेश जिन्दल– प्राकृतिक आयुर्विज्ञान, आरोग्य सेवा प्रकाशन, पंचवटी, उमेश पार्क, मोदीनगर, उ.प्र.।
- डॉ. ओमप्रकाश सक्सेना– वृहद प्राकृतिक चिकित्सा, भाषा भवन, हालनगंज, मथुरा, उ.प्र.
- डॉ. लुई कुने, अनुवादक, केदारनाथ गुप्त– नवीन प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
- डॉ. हेनरी लिंडलार, डॉ. श्याम नारायण पाण्डेय– प्राकृतिक चिकित्साः दर्शन एवं व्यवहार, केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद, आयुष विभाग, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- आरोग्य अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य– जीवेम शरदः शतम्, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ.प्र.।

- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य– चिकित्सा उपचार के विविध आयाम, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ.प्र.।
- डॉ. पी.डी. मिश्रा– प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धान्त एवं व्यवहार, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, उ.प्र.।

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

अखण्ड ज्योति
युग निर्माण योजना
अन्य स्वास्थ्य संबंधी पत्रिकायें

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. विजातीय द्रव्य से आप क्या समझते हैं ? विजातीय द्रव्य के सिद्धान्त का सविस्तार वर्णन करें।
2. विजातीय द्रव्य के प्रमुख कारणों का सविस्तार वर्णन करें।
3. विजातीय द्रव्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विजातीय द्रव्य से युक्त व्यक्ति का लक्षण सविस्तार वर्णन करें।
4. निम्नलिखित में से किसी तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें–
   (अ) अम्लधर्मी व क्षारधर्मी खाद्य पदार्थ (ब) मिथ्योपचार (स) अप्राकृतिक जीवन शैली
   (द) जीवनीशक्ति की कमी (य) रोगोत्पादक जीवाणु (र) कब्ज
   (ल) विजातीय द्रव्य
   (व) पंच तत्वों का असंतुलन

इकाई–6 शारीरिक–मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों की अवधारणा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 शारीरिक रोग की अवधारणा
   6.3.1 शारीरिक रोगों का वर्गीकरण
   6.3.2 तीव्र रोग क्या है?
   6.3.3 तीव्र रोग की परिभाषायें
   6.3.4 तीव्र रोग की अवस्थायें
   6.3.5 सभी तीव्र रोग स्वस्थ होने के प्राकृतिक उपाय हैं
   6.3.6 तीव्र रोग शत्रु नहीं मित्र होते हैं
   6.3.7 तीव्र रोगों का प्रकृतोपचार
   6.3.8 जीर्ण रोग क्या हैं?
   6.3.9 जीर्ण रोग का कारण
   6.3.10 जीर्ण रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा
6.4 मानसिक रोग की अवधारणा
   6.4.1 मानसिक रोग के कारण
   6.4.2 मानसिक रोगों के स्वरूप एवं लक्षण
   6.4.3 मानसिक रोगों से हानियाँ तथा उनसे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति
   6.4.4 मानसिक रोगों को दूर करने के उपाय
6.5 आध्यात्मिक रोग की अवधारणा
   6.5.1 आध्यात्मिक रोग क्या है ?
   6.5.2 आध्यात्मिक रोग के लक्षण
   6.5.3 आध्यात्मिक रोग का कारण
   6.5.4 आध्यात्मिक रोग से हानियाँ
   6.5.5 आध्यात्मिक रोग दूर करने के उपाय
6.6 सारांश
6.7 पारिभाषिक शब्दावली
6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.11 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

पिछले इकाई में आपने विजातीय द्रव्य के सिद्धान्त की जानकारी विस्तार से प्राप्त की तथा उसके अर्थ, स्वरूप एवं कारण पर विस्तार से जान पाये।

प्रस्तुत इकाई में रोग के तीन प्रकारों– शारीरिक रोग, मानसिक रोग एवं आध्यात्मिक रोग की अवधारणा पर विस्तार से जान सकेंगे क्योंकि रोगों के स्वरूप को जाने बिना कोई भी प्राकृतिक चिकित्सक किसी भी प्रकार के रोग को कैसे दूर कर सकता है, चाहे वह शारीरिक रोग हो या मानसिक रोग हो या आध्यात्मिक रोग हो। इस इकाई में आप तीनों प्रकार के रोगों के स्वरूप, कारण, लक्षण, हानियाँ व उन्हें दूर करने के उपाय पर विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बादः–

- शारीरिक रोग की अवधारणा को जान सकेंगे।
- शारीरिक रोगों के प्रकार को जान सकेंगे।
- तीव्र रोग व जीर्ण रोगों के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- तीव्र रोग की परिभाषायें, अवस्थायें व प्राकृतिक उपचार के बारे में जान सकेंगे।
- जीर्ण रोग के कारण व प्राकृतिक चिकित्सा के बारे में जान सकेंगे।
- मानसिक रोग की अवधारणा को जान सकेंगे।
- मानसिक रोग के कारण, स्वरूप, लक्षण, हानियाँ व दूर करने के उपाय के बारे में जान सकेंगे।
- आध्यात्मिक रोग की अवधारणा को जान सकेंगे।
- आध्यात्मिक रोग के कारण, हानियाँ व दूर करने के उपाय के बारे में जान सकेंगे।

6.3 शारीरिक रोग की अवधारणा

शरीर में जब किसी प्रकार का कष्ट या तकलीफ होता है या शरीर के विभिन्न अंग–प्रत्यंग अपने–अपने कार्य जब सही ढंग से पूर्णरूपेण नहीं कर पाते तब उसे शारीरिक रोग कहते हैं।

अप्राकृतिक खान–पान, प्रकृति विरूद्ध आहार–विहार, दूषित वातावरण व विषैली दवाएँ हमारे शरीर में विषाक्तता या दोष उत्पन्न करते हैं, जिसे विजातीय द्रव्य, मल, संचित दुर्दव्य, विकार आदि के नामों से जानते हैं जो शरीर में संचित होते रहते हैं और समयानुसार शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है– ''शरीरं व्याधि मन्दिरम्'' अर्थात यह शरीर व्याधियों अर्थात रोगों का मंदिर है। अत्यधिक सावधान रहने पर भी शरीर को कोई न कोई रोग ग्रास बना ही लेता है।

शरीर में विजातीय द्रव्यों के कारण जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक रोग कहते हैं। डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज के शब्दों में, ''गलत, बेमेल एवं विरूद्ध आहार, आहार में जैव, खनिज लवणों, जीवन सत्वों की कमी, तले–भुने, निःसत्व, संश्लिष्ट एवं संशोधित परिशोधित आहार के प्रयोग से रक्त तथा लिम्फ प्रवाह प्रदूषित हो जाते हैं। रक्त तथा लिम्फ प्रदूषित होने से

ज्वर, सूजन, त्वचा पर ददोरे, आर्टिकेरिया, शीतपित्त, जुकाम, आन्तरिक अवयवों में जख्म, फोड़ा–फुंसी, जीवाणु, कीटाणु, परजीवी कीड़े फफूँद तथा विषाणु की स्थिति पनपती है, जिसे शारीरिक रोग के रूप में जाना जाता है।

लुई कूने के अनुसार– ''शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का ही नाम शारीरिक रोग है।''

ऑक्फोर्ड शब्दकोश के अनुसार– ''शारीरिक रोग शरीर के या शरीर के किसी अंग की वह दशा है जिसमें इसके कार्य बाधित होते हैं या व्यतिक्रमित होते हैं।''

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार– ''शारीरिक रोग प्रकृति की वह प्रक्रिया है जिससे शरीर की सफाई होती है। शरीर से मल और रोगों के हटाने के प्रयत्न को रोग कहते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यक्ति के अप्राकृतिक जीवनयापन, प्रकृति विरूद्ध आहार–विहार, दूषित वातावरण व खाद्य पदार्थों से हमारे शरीर में दोष अर्थात विजातीय द्रव्य की मात्रा बढ़ने लगती है और जीवनीशक्ति की कमी से यह पूर्णरूपेण बाहर निकल नहीं पाती और यह विजातीय द्रव्य हमारे शरीर में शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होते हैं। शारीरिक रोग बिना कारण के नहीं होते हैं। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण तो अवश्य ही होता है। यदि भोजन आवश्यकता से अधिक अथवा गलत तरीके का भोजन किया जाता है तो पाचन तंत्र पर विशेष रूप से दबाव पड़ता है और कुछ समय बाद पाचन तंत्र अपना कार्य सुचारू रूप से करने में असमर्थ होने लगता है। मल बाहर निकलने में विलम्ब होने लगता है। शारीरिक रोग का सूत्रपात शरीर में विजातीय द्रव्य से ही होता है। मल संचय जब शरीर की मर्यादा बिंदु को पार कर जाता है तो शारीरिक रोग आ जाता है। शरीर शुद्धि के चार मार्ग या संस्थान हैं जिसके माध्यम से विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं– (1) श्वसन मार्ग से दूषित वायु के रूप में, (2) मूत्र मार्ग से तरल के रूप में, (3) त्वचा मार्ग से तरल पसीने के रूप में तथा (4) मल या गुदा मार्ग से ठोस मल के रूप में। अर्थात फेफड़े, वृक्क, त्वचा तथा आंतों से विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकलता है। यदि किसी कारण से उस मल का बाहर निकल जाने का रास्ता अवरूद्ध हो जाता है या कम निकलता है तो यह पहले पेडू के पास संचय होता है तथा धीरे–धीरे दूसरे अंगों के पास पहुँच जाता है लेकिन जब फरमेन्टेशन होता है तो पदार्थ ऊपर की ओर जैसा कि गैसों का ऊपर उठने का स्वभाव होता है, बढ़ता है। इसी कारण सबसे पहले रोग शरीर के ऊपरी भाग में सिरदर्द के रूप में होता हैं फरमेन्टेशन उष्णता लाता है। रक्त का तापक्रम बढ़ता है जो ज्वर के रूप में दीखता है। ज्वर तभी होता है जब शरीर में दोष संचित होता है तथा मल निष्कासन के तरीके अवरूद्ध हो जाते हैं, पेट साफ नहीं होता है, मूत्र कम निकलता है, त्वचा के रोमकूप बाधित होते हैं तथा श्वसन तंत्र प्रभावित होता है। शारीरिक रोग दो रूपों में पहला तीव्र रोग एवं दूसरा जीर्ण रोग के रूप में होते हैं।

जीवनीशक्ति की अधिकता से विजातीय द्रव्य हमारे शरीर से तेजी से बाहर निकलने लगते हैं तो उसे तीव्र रोग कहते हैं, जैसे– बुखार, सिरदर्द, दस्त, वमन आदि। लेकिन जब तीव्र रोगों को दवा आदि से दबा दिया जाता है या जब जीवनीशक्ति कमजोर हो जाती है तो वही तीव्र रोग जीर्ण रोग के रूप में परिवर्तित हो जाती है, जैसे– दमा, यक्ष्मा, गठिया, लकवा, मधुमेह, मोटापा आदि।शारीरिक रोग के कई कारणों में मुख्यतः अप्राकृतिक जीवनयापन जिसमें भोजन संबंधी गलत आदतें, आलस्य, पंचतत्वों का कम से कम उपयोग, मिथ्योपचार, कृत्रिमता से लगाव, मानसिक कुविचार आदि हैं। इसके अतिरिक्त

जीवनीशक्ति की कमी, विजातीय द्रव्य की वृद्धि, वंश परंपरा संस्कार, बाह्य प्रहार या आकस्मिक दुर्घटना, रोगोत्पादक जीवाणु, दूषित व विषाक्त वातावरण आदि शारीरिक रोग के प्रमुख कारण हैं।

लेकिन हमें शारीरिक रोग से डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि ये शत्रु होकर नहीं बल्कि मित्र के रूप में आते हैं और हमें चेतावनी संकेत देते हैं कि अब आप संभल जाइये, शरीर में विकार उत्पन्न हो गया है जो रोग के रूप में प्रकट हो रहे हैं। हमें प्राकृतिक जीवन शैली अपनाकर अपनी जीवनीशक्ति को बढ़ाना है। प्राकृतिक चिकित्सा के विविध साधनों का सहारा लेकर जो विजातीय द्रव्य या दोष विकार शरीर में एकत्रित हो गए हैं। उसे रोग के माध्यम से आसानी से बाहर निकल जाने देना है और पूर्णरूपेण शरीर को विकार रहित अर्थात स्वस्थ करना है। इसलिए प्राकृतिक चिकित्सा में रोग को शत्रु नहीं मित्र समझा जाता है।

6.3.1 शारीरिक रोगों का वर्गीकरण– व्याधियों के रूप और लक्षण अगणित और अनेक होते हैं जिनका विभाजन आयुर्वेद में चार श्रेणियों में हुआ है, जो निम्नलिखित हैं–

1. शरीर में विजातीय द्रव्य या दोष के कारण जो रोग होते हैं, उन्हें शारीरिक रोग कहते हैं। जैसे– ज्वर, मलेरिया, दमा, कैन्सर आदि।
2. अभिघात (चोट लगने, दुर्घटना आदि) से जो पीड़ायें होती हैं, उन्हें आगंतुक रोग कहते हैं। जैसे– पेड़ से गिरना, चोट लगना आदि।
3. क्रोध, शोक, भय, लोभ, मोह आदि रोगों निमित्तक मानसिक रोग कहते हैं
4. क्षुधा, प्यास, जरा एवं मृत्युजन्य क्लेश स्वाभाविक रोग या व्याधियाँ कहलाती हैं।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार, शरीर में रोग दो प्रकार से होते हैं–

1. किसी भी अचानक घटना– आग लगने, पेड़ से गिरने, ऊँचे घर पर से गिरने, किसी सवारी पर से गिरने, पानी में डूबने से, पाले–पत्थर पड़ जाने आदि के कारण रोग हो जाता है।
2. रोग शरीर से गन्दगी (विजातीय द्रव्य) निकालने का प्रयास मात्र है।

शरीर में विजातीय द्रव्य की उपस्थिति के फलस्वरूप जितनी व्याधियाँ होती हैं, उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. **तीव्र रोग (Acute Disease)**
2. **मन्द या जीर्ण रोग (Chronic Disease) अर्थात पुराने रोग**

6.3.2 तीव्र रोग क्या है?

जिस रोग में तेजी हो, उसे तीव्र रोग कहेंगे। जैसे– हैजा, दस्त आदि। ये रोग जितनी तेजी से आते हैं, उचित उपचार से उतनी ही जल्दी चले भी जाते हैं। तीव्र रोग अपना उपचार स्वयं होते हैं। जब शरीर में या उसके किसी भाग में अधिक मल एकत्र हो जाता है तो उसका निष्कासन तीव्र रोगों के रूप में होने लगता है, जो कुछ ही दिन रहकर अर्थात उस संचित मल को शरीर से निकालकर स्वतः ही चले जाते हैं और शरीर को भला–चंगा तथा निर्मल छोड़ जाते हैं। जिनकी जीवनीशक्ति प्रबल और अधिक होती है, उन्हें ही तीव्र रोग होता है। इसलिए तीव्र रोग, अधिकांशतः बच्चों एवं युवाओं को ही विशेष रूप से होते हैं। तीव्र रोग हठीले उस वक्त जरूर हो जाते हैं जब शरीर से मल निष्कासन के प्रयत्न में उनके सामने रोड़े डालने की कोशिश की जाती है। तीव्र रोग के विभिन्न

लक्षण तो इस बात की सूचना देते हैं कि शरीर अपने को शुद्ध करने के लिए, रोग को निर्मूल करने के लिए क्या और कैसा प्रयत्न कर रहा है। उन लक्षणों का स्वागत करना चाहिए न कि उन्हें दवाओं, सूईयों तथा शस्त्रोपचार से दबाना चाहिए। तीव्र रोगों में उपवास और पूर्ण विश्वास बड़े ही लाभदायक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि तीव्र रोग के रोगी को चारपाई पर पड़ जाने के लिए प्रकृति विवश करती है, साथ ही साथ भूख को भी हर लेती है। तीव्र रोग का होना इस बात का सबूत है कि शरीर में जीवनीशक्ति सजग और सतेज है। जिसकी जीवनीशक्ति कमजोर होती है उसे तीव्र रोग नहीं होता और विजातीय द्रव्य शरीर के अन्दर ही धीरे–धीरे जमा होकर जीर्ण रोग में परिवर्तित हो जाता है। अतः तीव्र रोग होना रोगी के लिए एक शुभ संकेत है, वह मित्र बनकर आता है और सभी विजातीय द्रव्य को विभिन्न तीव्र रोगों, जैसे– हैजा, जुकाम, दस्त, वमन, बुखार, चेचक, फोड़ा–फुन्सी, दर्द एवं सूजन आदि के माध्यम से निकालकर शरीर को पूर्णरूपेण स्वस्थ कर देता है।

6.3.3 तीव्र रोग की परिभाषायें–

1. डॉ. हेनरी लिंडलार के अनुसार– समस्त तीव्र रोग कोशिकाओं में श्लेष्मिक पदार्थ एवं श्वेत कणों के संग्रहीत होने से होते हैं। श्वेतकण बजाय इसके कि वे रोग जीवाणुओं से साहसपूर्वक लोहा लें और जीवाणुभक्षक की भूमिका निभायें, स्वयं ही जीवाणुओं द्वारा भक्षित किये जाकर विघटित कर दिये जाते हैं एवं पूय या मवाद में बदल दिये जाते हैं।
2. डॉ. राकेश जिन्दल के अनुसार– तीव्र का अर्थ है तेज। अतः जिस रोग में तेजी हो उसे तीव्र रोग कहेंगे। जैसे– हैजा, जुकाम, दस्त आदि।
3. डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज के अनुसार– शरीर की जीवनीशक्ति प्रबल होने की स्थिति में चयापचयी विष तेजी से बाहर निकलता है। इस स्थिति को तीव्र रोग कहते हैं। अचानक ज्वर, दर्द, दस्त, तीव्र जुकाम, खाँसी, सर्दी, वमन, शीतपित्त, फोड़ा इत्यादि तीव्र लक्षण इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।
4. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार– शरीर में एकत्रित विष आदि ज्वर, जुकाम या अन्य ढंगों से प्रकृति जीवन की रक्षा और शरीर की शुद्धि के लिए निकालने लगता है तो हम उसे तीव्र रोग कहते हैं। जैसे– ज्वर, दर्द, जुकाम, फोड़ा फुन्सी, वमन आदि तीव्र रोग के उदाहरण हैं।

6.3.4 तीव्र रोग की अवस्थायें–

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक लिण्डल्हार ने अपनी पुस्तक 'नेचर क्योर' में तीव्र रोगों की साधारणतः 5 अवस्थाएँ लिखी हैं।

प्रथम अवस्था को रोग की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। पूरे शरीर में या तो उसके किसी भाग में मल के भर जाने से उत्तेजना होती है। फिर संचित मल में उद्रेक की क्रियाएँ धीरे–धीरे और कभी–कभी जल्दी–जल्दी भी होने लगती हैं जिनसे रोग अपना एक खास रूप धारण करता है। यह अवस्था कुछ मिनटों से लेकर कई वर्षों में पूरी हो सकती है। इस अवधि में रोग उत्पन्न करने में सहायक मल, विष अथवा रोगाणु आदि उत्पन्न होकर एकत्रित होते रहते हैं। दूसरी अवस्था में रोग का रूप अधिक भयंकर हो उठता है। इस अवस्था में कष्ट बढ़ जाता है। तनाव, सूजन, सुर्खी, ज्वर बढ़ जाते हैं और रोगी चारपाई पर पड़कर कमजोरी और पीड़ा का अनुभव करने लगता है।

तीसरी अवस्था में रोगाक्रान्त स्थान के कण नष्ट होने लगते हैं जिनसे राह बन जाती है, घाव हो जाता है, मवाद और रक्त बहने लगता है जैसा कि फोड़ा होने की दशा में उत्पन्न होता है। पसीना, पेशाब से विष निकलने लगता है। सांस से दुर्गन्ध आने लगती है। दस्त होने लगते हैं, वमन भी हो सकता है। मल निष्कासन के इस प्रयत्न में शरीर के कुछ उपयोगी तत्त्वों का भी मल के साथ निकल जाना स्वाभाविक ही होता है जिससे दुर्बल शरीर और भी अधिक शिथील हो जाता है। मस्तिष्क काम नहीं करता, रोग की यही सबसे उग्र दशा है। जोखिम की घड़ी होती है तथा जीवनीशक्ति की परीक्षा का समय। यदि जीवनीशक्ति इस अवस्था पर आकर हार गई या फेल हो गई हो तो रोगी का प्राणान्त तक हो जाता है और यदि जीवनीशक्ति प्रबल हुई तो संचित मल को निष्कासित करने में सफल होकर संकट की इस घड़ी को पार कर जाती है और रोगी को रोगमुक्त कर देती है। कुशल चिकित्सक इसी अवस्था में जीवनीशक्ति को उचित उपचार द्वारा सहायता पहुँचा कर यश का भागी बनता है।

6.3.5 सभी तीव्र रोग स्वस्थ होने के प्राकृतिक उपाय हैं–शरीर पर प्रतिक्षण अरबों, खरबों रोगाणुओं का आक्रमण होता है, फिर भी शरीर अपनी सेल्फ हीलिंग, सेल्फ रिपेयरिंग एवं सेल्फ ट्रीटमेंट व्यवस्था के कारण स्वस्थ रहता है। सांस, मुँह, आँख, कान, मलद्वार, मूत्रमार्ग, योनिमार्ग आदि विभिन्न मार्गों से शरीर के अंदर प्रवेश करने वाले रोगाणुओं को नष्ट करने के लिए इन अंगों की श्लेष्मा झिल्ली अनेक प्रकार के स्राव तथा एण्टीबॉडीज बनाती है। इन स्रावों में एण्टीबैक्टीरियल, एण्टीवायरल फैक्टर पाये जाते हैं जो इन्फेक्शन माइक्रोव्स को खा जाते हैं या मार देते हैं। रोगाणुओं द्वारा नष्ट एवं क्षतिग्रस्त हिस्से को शरीर की जीवनीशक्ति (auto immune system) स्वतः रिपेयर कर लेती है। प्रमाणस्वरूप आँखों में होने वाला सामान्य कंजक्टिवाइटिस को आँखों में स्थित श्लेष्मा झिल्ली एवं उसके स्राव स्वतः ठीक कर देते हैं। आँसू प्रबल कीटाणुनाशी हैं जो बरौनियों के साथ निकलकर वाइपर का कार्य करते हुए आँखों को रोगाणुओं से मुक्त रखते हैं तथा आँखों की चमक, सौन्दर्य एवं तापमान को समान बनाये रखते हैं। कई बार होने वाले फोड़ा–फुंसी तथा घाव भी स्वतः ही भर जाते हैं। जल्दी–जल्दी खाते समय कभी–कभार जीभ कट जाती है, उस स्थिति में उसकी रिपेयरिंग, हीलिंग तथा संक्रमण से सुरक्षा प्रबल कीटाणुनाशी लार ही करती है। लार में अत्यन्त तीव्र रोगाणुनाशी एस.एल.पी.आई. (सेक्रेटरी ल्यूकोसाइट्स प्रोटीन इनह्बीटर) घाव को भरने वाला ई.जी.एफ. (एपिडर्मल ग्रोथ फैक्टर) तथा ए.सी.एफ. (एण्टी कार्सिनोजिक फैक्टर) पाया जाता है जो घातक एड्स तथा कैंसर वायरस से भी लोहा लेने में सक्षम है। लार में एण्टीकैन्सरस फैक्टर भी पाया जाता है।

हर व्यक्ति के अंदर टी.बी. के कीटाणु तथा कैंसर की कोशिकाओं के सेल/जीन पाये जाते हैं किन्तु हर किसी को यक्ष्मा तथा कैंसर नहीं होता है। जिसकी सुरक्षा व्यवस्था सजग एवं सशक्त है उसे कैंसर तथा यक्ष्मा होने की संभावना समाप्त हो जाती है।

पानी, हवा तथा भोजन द्वारा पेट में जब खतरनाक विषैले वायरस, कीटाणु या उनके टॉक्सिन्स, विषाक्त टॉक्सिक मैटर, मॉरबिड या विजातीय द्रव्य (फॉरेन मैटर) चले जाते हैं, उस अवस्था में उल्टी तथा दस्त द्वारा शरीर उन्हें निकाल बाहर करता है। उसी प्रकार दस्त की स्थिति में विजातीय टॉक्सिक टॉक्सिन्स आँत की श्लेष्मिक झिल्ली को उत्तेजित करते हैं, पाचन तंत्र के अंदर संकुचित हो जाते हैं। उदर के अंदर के एण्टीबॉडीज तथा श्लेष्मा तत्व मिलकर कीटाणु, टॉक्सिन्स एवं टॉक्सिक मैटर को बाहर

निकालने के लिए आंत्र प्रणाली की लहरदार सर्पिल गति पेरिस्टालसिस जल तरंग को बढ़ा देती है, फलस्वरूप विजातीय विषैले पदार्थ गुदामार्ग से दस्त के रूप में बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार से दस्त जो कि एक तीव्र रोग है, शरीर को रोगमुक्त करने का अत्यन्त श्रेष्ठतम साधन है। दवाइयों से दस्त रोक देने या दबा देने से टॉक्सिन्स खून में मिल जाते हैं तथा नाना प्रकार के असाध्य जीर्ण रोग पैदा करते हैं।

उसी तरह सभी प्रकार के दर्द अंग विशेष में रक्त एवं स्नायु संचार में आये अवरोध की सूचना देते हैं। दर्द वाले स्थान से प्रोस्टेग्लैन्डिन वर्ग के हार्मोन ब्रैडिकिनन तथा पी नामक रसायन तेजी से निकलते हैं जो वेसोडिलेटर का कार्य कर अंग विशेष की नरम मांसपेशियों में रक्त संचार को तेज कर देते हैं ताकि बाह्य रोगाणुओं को नष्ट किया जा सके। यही कारण है कि दर्द वाला हिस्सा सूज कर लाल हो जाता है।

दर्द, दस्त, वमन, फोड़ा फुंसी, खाँसी, जुकाम, ज्वर आदि तीव्र रोगों द्वारा स्वतः स्वस्थ होने की प्रक्रिया का एक संलक्षण है। अतः इन लक्षणों को दवाओं से दबाकर नहीं, बल्कि प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा रोग के मूल कारण शरीर में संचित दूषित विकार को बाहर निकालकर रोगों की सही एंव सफल चिकित्सा करनी चाहिए।

6.3.6 तीव्र रोग शत्रु नहीं मित्र होते हैं—मलपूरित शरीर को मलरहित करने के लिए ज्वरादि तीव्र रोग ही एकमात्र सच्चा उपाय है। शरीर में सर्दव विजातीय द्रव्य जिसे दूसरे शब्दों में, मल, दूषित पदार्थ, फॉरेन मैटर आदि कहा जाता है, उत्पन्न होता रहता है जिसको हमारे शरीर के मल मार्ग, रोमकूप, गुर्दे, गुदा आदि प्रतिदिन निकालते रहते हैं। यदि किसी कारण से उस मल को बाहर निकलने का रास्ता नहीं मिलता तो वह शरीर में रोग उत्पन्न करके बाहर निकल जाने की स्वभाव से कोशिश करता है। इसी स्थिति को तीव्र रोग होना कहते हैं। इस तथ्य को समझ लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यता पड़ने पर मनुष्य को रोग होना कितना आवश्यक है। अथवा, दूसरे शब्दों में, रोग हमारे शत्रु नहीं मित्र होते हैं, जो हमें स्वास्थ्य देने आते हैं, लेने नहीं। इस बात को आप एक सरल उदाहरण से समझ सकेंगे।

मान लीजिये कि प्रकृति को पेट जनित मल को धोना है तो इस कार्य को वह वमन अथवा दस्त का रोग उत्पन्न करके कर सकती है, साथ में पानी की प्रबल प्यास भी उत्पन्न हो सकती है और यदि उसे मस्तिष्क के विकार को साफ करना है तो जुकाम होगा, प्यास लगेगी और नाक के रास्ते पर नाले बहेंगे आदि।

जिसे हम आप रोग कहते हैं, वह वास्तव में चिकित्सा है। रोग होने पर हमें सतर्कतापूर्वक अपनी गलतियों की ओर निगाह दौड़ानी चाहिए और विचार करना चाहिए कि जो अपराध हमने किया है, प्रकृति उसका दण्ड दे रही है और उसका प्रायश्चित हमें रोगी बनकर करना पड़ रहा है। यह हमारे अपने ही हित में है क्योंकि यदि विकार शरीर में रह जाते और हमारी गलतियों का क्रम लगातार जारी रहता तो भविष्य में उसका कितना भयंकर दुष्परिणाम होता, यह अकल्पनीय है। कौन जाने जीवन ही बेकार हो जाता अथवा अकालमृत्यु हो जाती अथवा अन्य न जाने क्या अनिष्ट होकर रहता। अतः हमें रोगों से डरने की कोई आवश्यकता नहीं, वरन उसका बुद्धिमानीपूर्वक स्वागत कर अपनी भूल का सुधार करना चाहिए।

एक घेघा वाले रोगी की प्राकृतिक चिकित्सा की गयी। कुछ दिनों में घेघे की सूजन 50 प्रतिशत कम हो गयी। पर एक दिन पुनः उभाड़ आया और उसकी सूजन कुछ बढ़ी सी

मालूम हुई, साथ ही साथ उसमें एक फोड़ा सा भी बना, जिसमें से बहुत सड़ा पानी पस (विजातीय द्रव्य) निकला और दो एक दिन में ही सूजन घटकर 25 प्रतिशत रह गयी और कुछेक दिनों में बिल्कुल ठीक हो गया। तो इस फोड़े को क्या समझें? शत्रु समझें या मित्र। निःसन्देह यह फोड़ा मित्र बनकर अया और रोगी को पूर्णतः स्वस्थ कर गया।

जैसा कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों में होता है, प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में रोगों को शत्रु समझकर उनसे लड़ा नहीं जाता। क्योंकि रोग स्वयं कोई चीज नहीं होते जिनके साथ लड़ाई छेड़ी जाय। स्वास्थ्य के अभाव को ही रोग कहते हैं। स्वास्थ्य निर्माण की कोशिश कीजिये, इन रोगों का कहीं पता न लगेगा।

एक प्रश्न उठता है कि यदि रोग विशेषकर तीव्र रोग यदि शरीर की सफाई के लिए होने वाले प्रकृति के प्रयत्न के रूप में होते हैं तो उनके कारण लोग मरते क्यों हैं ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि रोगी में या तो जीवनीशक्ति बहुत कम बच रही होती है जो रोगों से लड़ सके या शरीर स्थित विजातीय द्रव्य की मात्रा बहुत अधिक होती है या उपचार अपर्याप्त या हानिकारक हुआ है। ऐसे वक्तों में प्रकृति अपनी सफाई का कार्य करने में असफल रह जाती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

6.3.7 तीव्र रोगों का प्राकृतोपचार–सिद्ध है कि इन सभी रोगों की चिकित्सा भी समान होगी। समान तीव्र रोग प्राकृतिक तरीकों से बड़ी सफलता के साथ ठीक हो सकते हैं तथा कोई भी समझदार व्यक्ति इनका उपयोग कर सकता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अनेक लाभों में से एक यह है कि इसे रोग के पहले लक्षण (ज्वरादि) के दिखते ही प्रारंभ कर सकते हैं। इसमें रोग का सही निदान होने की प्रतीक्षा आवश्यक नहीं है।

प्राकृतिक उपचार से तीव्र रोगों से रोगमुक्ति की संभावना का सर्वाधिक प्रतिशत निश्चित रहता है। साथ ही बाद के अवांछित दुष्प्रभावों की संभावना भी नहीं रहती, जो आगे जाकर जीर्ण अशक्तता (invalidism) पैदा कर देता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि वायु(ताजी हवा का सेवन), उपवास, जल के विविध प्रयोग जैसे स्नान एवं प्रक्षालन, ज्वर में ठंडा टब या फुहार स्नान, गरम पानी का प्रयोग, ठंडी लपेट और ठंडी दाब, संपूर्ण शरीर की चादर लपेट, वैकल्पिक लपेटे, शय्या पर स्वेद नहान, स्थानीय दाब, इप्समसाल्ट उपचार, एनिमा आदि के आवश्यकतानुसार प्रयोग तथा सही मानसिक मनोवृत्ति से बिना अधिक खर्च के ही किसी भी घर में इनका उपयोग कर सकते हैं और रोगों से मुक्त हो सकते हैं। यदि प्रारंभ से ही माँ प्रकृति का यह उपचार सही ढंग से किया जाये तो किसी भी प्रकार के शारीरिक तीव्र रोग को ठीक करने के लिए पर्याप्त है। यदि परिस्थितियाँ अनुमति दें तो रीढ़ की हड्डी का हस्तोपचार (spinal manipulation) मालिश व चुम्बक चिकित्सा का भी उपयोग किया जा सकता है।

4.3.8 जीर्ण रोग (Chronic Disease) क्या है ?

शरीर स्थित मल में उद्वेग होकर निकलने की उग्र दशा का नाम जिस तरह तीव्र या उग्र रोग है, उसी तरह उसके दबकर भीतर प्रवेश करने, अनिष्ट दशा उत्पन्न करने और धीरे–धीरे कष्ट के साथ बहुत काल तक शरीर में पड़े रहने की दशा का नाम जीर्ण रोग है।

शरीर में जब जीवनीशक्ति का अभाव हो जाता है अर्थात रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है तो जो तीव्र रोग प्रकृति द्वारा प्रदाह एवं ज्वर के माध्यम से मानव शरीर को शुद्ध करने तथा उसे पुनः शक्तिशाली मानव बनाने का प्रयास करती है, वह प्रयास करने

की शक्ति का अभाव जीर्ण रोग में हो जाता है। जीर्ण रोगों में शरीर ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया करने की स्थिति में नहीं रहता है।

विकृत आहार–विहार के कारण शरीर में स्थित विजातीय द्रव्य जब शरीर में जमा होते रहता है और जीवनीशक्ति के द्वारा उसे तीव्र रोग जैसे ज्वरादि के माध्यम से निकलने से रोका जाता है विशेषकर दवा आदि खाकर उसे दबा दिया जाता है। इसके कारण प्रकृति की विषों आदि को निकाल फेंकने की शक्ति और योग्यता का ह्रास होता है। यदा–कदा दर्द, ज्वर आदि इसके चिन्ह हैं। ऐसी दशा में जब प्रकृति खुलकर योग्यतापूर्वक अपना काम नहीं कर पाती है तो हम उसे 'मन्द रोग' या 'जीर्ण रोग' कहते हैं।

जीर्ण का अर्थ होता है पुराना अर्थात जो रोग काफी पुराना हो जाता है अर्थात काफी दिनों से शरीर में रोग दबा रहता है जिसे ठीक होने में भी काफी समय लगता है, उसे जीर्ण रोग के रूप में जाना जाता है। जैसे– कब्ज, कैंसर, अग्निमांद्य, मधुमेह, रूसी, दुर्बलता, जोड़ों की विकृति, हड्डियों के रोग, हृत्शूल, धमनी काठिन्य, अश्मरी, अस्थिक्षय, आंत्रशोथ, मिरगी, गलगंड, पित्ताशय अश्मरी, आँत उतरना, अर्बुद, गुर्दे की पथरी, स्नायुशोथ, मोटापा, स्वप्नदोष, गुर्दे की पथरी व सूजन, स्नायु दौर्बल्य, हृदय की वसा, बवासरी, नपुंसकता, अनिद्रा, दाद, खुजली, आंतों का क्षय, सभी प्रकार की गांठें, जीर्ण फुफ्फुस शोथ, सूखा रोग, जन्मजात विकृति, कंठमाला, निद्राधिक्य, फेफड़ों के सभी रोग, राजयक्ष्मा, अस्थिगलन एवं गुर्दे की सूजन आदि।

तीव्र रोगों में हमारा उपचार शामक प्रभाव देता है पर जीर्ण रोगों में यह उपचार उत्तेजक रखा जाता है अर्थात सुस्त शरीर को अधिक क्रियाशील करके तीव्र प्रदाह प्रतिक्रिया या उपचारात्मक उभाड़ (healing crises) उत्पन्न किया जाता है।

6.3.9 जीर्ण रोग का कारण– अप्राकृतिक आहार–विहार अर्थात प्रकृति के नियमों का बार–बार उल्लंघन करने, तलु–भुने, विकृत खान–पान, गलत, बेमेल एवं विरूद्ध आहार, आहार में जैव खनिज लवणों, जीवन सत्वों (organic minerals) की कमी, मानसिक तनाव, चिन्ता, अतिश्रम, रात्रि जागरण, अति उत्तेजना, विषाक्त औषधियाँ, नकारात्मक विध्वंसात्मक विचार, अपर्याप्त नींद एवं विश्राम, अति काम वासना, शल्य कर्म, अंग्रेजी औषधियों का विष, टॉक्सिक अखाद्य पदार्थों के प्रयोग तथा शरीर द्वारा स्वतः रोगमुक्त होने की नैसर्गिक प्रक्रिया तीव्र रोगों को दबाने से शरीर के विभिन्न संस्थानों में विजातीय विषाक्त पदार्थ इकट्ठे होते हैं। विषाक्त विजातीय तत्व इकट्ठा होने से अस्थियों की संरचना में विकृति, मांसपेशियों तथा स्नायुबन्धों (ligaments) की कमजोरी, आत्मनियंत्रण की कमी, नकारात्मक चिंतन, स्नायुविक विकृति, मानसिक विकृति तथा मिरगी इत्यादि के लक्षण दिखते हैं जिससे शरीर में जीवनीशक्ति कमजोर हो जाती है।

जीवनीशक्ति कमजोर होने से साइकोसिस, स्कोर्फुला (Scorfula), सोरा (Psora), सिफलिस, मरक्युरियालिज्म, सिन्कोनिज्म, आयोडिज्म तथा शरीर के विभिन्न अंगों में जीर्ण रोग होते हैं।

शरीर के तीव्र रोगों के रूप में सफाई के प्रयत्न में ही बार–बार बाधा उपस्थित होने के फलस्वरूप ही जीर्ण रोग होते हैं। जुकाम को दवा के सहारे बार–बार दबाने से दमा हो सकता है, उसी तरह ज्वर को दबाते रहने से यक्ष्मा/टी.बी. होने की संभावना रहती है। तीव्र रोगों के लक्षणों को दबा देने से शुरू में सब कुछ ठीक–सा प्रतीत होता है पर शरीर के भीतर से निकलती हुई गंदगी शरीर में ही रूक जाती है और जीर्ण रोगों को जन्म देती

है।जीर्ण रोगों से आक्रान्त क्षीण जीवनीशक्ति वाले माता–पिता से उत्पन्न सन्तान में उनके रोग बीज रूप में आ जाते हैं।

तीव्र रोगों में कष्ट अधिक सहन करना पड़ता है लेकिन जीर्ण रोगों में तीव्र लक्षणों के न होते हुए भी जीवन अत्यन्त दुःखमय और नीरस बन जाता है। शरीर का रक्त जब तक शुद्ध एवं विकारहीन रहता है तो कोई रोग नहीं होता, पर जब रक्त की जीवनदायिनी शक्ति क्षीण हो जाती है एवं वह मलयुक्त हो जाता है तो अनेक रोग हो जाते हैं। रक्त में विकार तभी उत्पन्न होता है जब हमारे शरीर के विकार निकालने वाले अवयव मल, मूत्र, पसीना, श्वांस आदि द्वारा नित्य पैदा होने वाले विकार को पूर्णतया नहीं निकाल पाते। बचा हुआ विकार शरीर में रहकर रक्त को गन्दा करता है, फिर रोग, कष्ट, दुःख का आगमन होता है। यह प्रकृति की रोग की सूचना है। यदि रक्त के विकार युक्त हो जाने की सूचना दुःख दर्द पीड़ा के रूप में हमें न मिले और रक्त अधिकाधिक विकारयुक्त होता रहे तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः, फेडरिक के शब्दों में, ''रोग परमात्मा की एक आशीर्वादात्मक देन है, इसका स्वभाव ही रक्षा करना है। मैं जो यह कह रहा हूँ कि यदि रोग न होते तो मनुष्य जाति कभी की समाप्त हो गई होती। अपने विषय पर बहुत कम जोर डाल पा रहा हूँ।''

रोगों के मित्र रूप को पहचानना चाहिए। वे प्रकृति की वह सूचना है जिन पर ध्यान देकर रोग को शत्रु समझकर उसे दबाने की कोशिश करने के बजाय हमें रोग के कारण को समझकर उसे दूर करने की कोशिश करना चाहिए।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के शब्दों में– ''जब रोग की सूचना को ठीक ठीक नहीं समझा जाता, उसके कारण को दूर करने के बजाय उन्हें दबाया जाता है तो सूचना धीरे–धीरे धीमी एवं उसकी शक्ति मन्द पड़ जाती है। यहीं से जीर्ण रोग की जड़ें जमती हैं। यह सूचना हमारी जीवनीशक्ति की सूचक है जो शरीर की सफाई की शक्ति का कमजोर पड़ना अर्थात जीवनीशक्ति का कमजोर या ह्रास होना।

जीर्ण रोग को दूर करना इसी जीवनीशक्ति को उभाड़ कर या बढ़ा कर रोग को उग्र रूप अर्थात तीव्र रूप में लाने की कला है। जो जितना ही उभाड़ लाने, उसे समझने की कला में निपुण होगा वह उतना ही शरीर को रोगमुक्त करने में सफल होगा।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि सम्पूर्ण जीर्ण रोगों का मुख्यतः एक ही कारण है और वह है जीवनीशक्ति का कमजोर होना और यह विकृत खान–पान अप्राकृतिक रहन–सहन और दूषित व विषाक्त द्रव्यों के सेवन से होता है जो हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य के रूप में धीरे–धीरे संचित होता रहता है। तीव्र रोग होने पर जब दवा से दबा दिया जाता है, तो वह जीर्ण रोग में परिवर्तित हो जाता है।

6.3.10 जीर्ण रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा–सभी प्रकार के जीर्ण रोगों का स्थायी एवं सही उपचार प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा ही हो सकता है। तीव्र एवं आंशिक तीव्र रोगों के निरन्तर दवाओं द्वारा दबाते रहने से ही जीर्ण रोगों की स्थिति पैदा होती है। जिस तीव्र रोग, जैसे जुकाम को पूर्णतया ठीक होने में 3 से 7 दिन लगते हैं उसे औषधियों द्वारा दबा देने से वहीं आंशिक तीव्र रोग में रूपान्तरित हो जाता है और उसे ठीक होने में 5 से 20 दिन लगते हैं। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा से अनजान या अज्ञानतावश आंशिक तीव्र रोग (sub acute disease) को औषधियों द्वारा दबाने पर यह रोग जीर्ण रोग में रूपान्तरित हो जाता है और इसे ठीक होने में महीनों लग जाते हैं।

डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज के अनुसार, तीव्र एवं आंशिक तीव्र रोगों को औषधियों द्वारा दबाने से जीवनीशक्ति काफी कमजोर हो जाती है। शरीर में विषाक्त विजातीय पदार्थों का जमाव बढ़ जाता है। रक्त अम्लीय एवं विषाक्त हो उठता है। दमा, गठिया, लकवा, एक्जीमा, संधिवात, मधुमेह, आंत्रशोथ, मोटापा आदि जीर्ण रोगों में प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा विष निष्कासित कर जीवनीशक्ति को बढ़ाया जाता है। जीवनीशक्ति बढ़ने पर शरीर में एकत्रित विष तेजी से निकलता है। यह स्थिति उभार तथा अति तीव्र अवस्था में लाकर शरीर को विषमुक्त, निर्मल बनाकर रोगमुक्त एवं स्वस्थ किया जाता है।

रोगी की जीवनीशक्ति, उम्र, रोग की स्थिति, अनुकूलन क्षमता आदि को ध्यान में रखते हुए रोगी को 10 से 40 दिन तक उपवास, नींबू पानी, शहद, फल अथवा सब्जी के रस पर रखा जाता है। इस दौरान रोगी की स्थिति व शक्ति के अनुसार, मिट्टी की पट्टी, सेंक, रीढ़ व पेट की मालिश, एनिमा, सर्वांग मालिश, गरम पाद स्नान, पूर्ण टब एमरसन स्नान, सूर्य स्नान इत्यादि बदल–बदलकर दें। हवा के झोंकों से बचाते हुए स्वच्छ, शान्त एवं खुले वातावरण में ज्यादा से ज्यादा समय तक विश्राम करायें। प्राकृतिक चिकित्सा के समय विश्राम एवं मौन का विशेष महत्व है। इससे रोग त्वरित गति से दूर होता है, हीलिंग प्रक्रिया त्वरित गति से होती है। उपवास के दौरान सुबह–शाम मंद धूप में 15–15 मिनट स्नान दें। उपवास के पश्चात धीरे–धीरे रसाहार प्रारंभ करें, कुछ दिन रसाहार के बाद उबली सब्जी लें। कुछ दिन उबली सब्जी पर रखने के बाद रोटी की पपड़ी या 20–25 ग्राम दलिया लेकर अनाज प्रारंभ करें। प्राकृतिक चिकित्सा एवं उपवास के दौरान शरीर में एकत्रित गंदगी अर्थात विजातीय द्रव्य तेजी से निकलने के कारण रोग उन्मूलक उभार परिलक्षित होते हैं। इनसे बिना घबराये धैये के साथ प्राकृतिक चिकित्सा करते रहने से जीर्ण रोग से मुक्ति एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति अवश्य होती है।

प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. हेनरी लिंडलार, एम.डी. ने जीर्ण रोग के प्राकृतिक चिकित्सा के अंतर्गत आहार, उपवास, स्नान व जल के अन्य प्रयोग, उचित श्वसन, सामान्य शारीरिक व्यायाम, मनोवैज्ञानिक व्यायाम, सुधारात्मक व्यायाम (जिम्नास्टिक), स्वीडिश व्यायाम, तंत्रिकोपचार, वायु एवं धूप स्नान, मानसिक उपचार, विषरहित जड़ी–बूटियों के रस आदि पर विशेष बल दिया है। विशेषकर सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपचारात्मक उभार की समुचित व्यवस्था पर बल दिया है, जो जीर्ण रोगों के प्राकृतिक उपचार के दौरान उत्पन्न होती है। इन उपचारों से जीर्ण रोग दूर हो जाता है और शरीर विषमुक्त होकर पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है।

6.4 मानसिक रोग की अवधारणा

शारीरिक रोगों की तुलना में मानसिक रोग अधिक भयंकर व विनाशकारी होती है। शारीरिक रोग की सही चिकित्सा होने पर दूर हो जाती है लेकिन मानसिक रोग जल्दी दूर नहीं होते। मानसिक रोग के कारण शरीर व मन दोनों रूग्ण हो जाते हैं व जीवन नारकीय बन जाता है। तामसिक व राजसी आहार से हमारे विचार भी तामसिक हो जाते हैं। तामसी आहार से मन चंचल, कामी, क्रोधी, लालची और पापी बन जाता है। चाहे हम कितनी भी साधना या एकाग्रता का अभ्यास करें, किन्तु तामसी आहार से स्वयं रोग, शोक, दुःख, दैन्य वेग से बढ़ते हैं और मनुष्य का पुरूषार्थ घटता है, सौभाग्य दूर भागता है। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के शब्दों में, राजसी और तामसिक पदार्थों जैसे– मांस, अत्यन्त उष्ण, कड़ुवा, तीक्ष्ण, गरिष्ठ, लहसुन, प्याज, अंडा, मछली, अत्यंत तले हुए भोजन, रसहीन, गला हुआ, बासी,

मिठाइयों से मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस बन जाता है। फिर यदि इन अप्राकृतिक चीजों को खाकर कोई मनुष्य काम, क्रोध, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा के वशीभूत हो कुकर्म कर डाले तो क्या आश्चर्य?
मनोविकारों की उत्तेजना से दाहक तत्व बढ़ते हैं। मनोविकारों के द्वन्द्व से हमारी मानसिक वृत्तियाँ शारीरिक वृत्तियों से संश्लिष्ट होकर रोगों की अनेकरूपता उत्पन्न करती है। मनोविकार हमारे रक्त में अनेक प्रकार से रासायनिक परिवर्तन करते हैं। जैसे, यदि व्यक्ति काम वासना से विक्षुब्ध हो उठता है तो रक्त में एक प्रकार की गर्मी आ जाती है, रोम–रोम तरंगित हो उठता है और यदि वासना का तांडव अधिक रहे तो गर्मी, सुजाक, गुप्तांगों के अनेक रोग, स्वप्नदोष, बहुमूत्र और पेशाब के अनेक गुप्त रोग उत्पन्न होते हैं। क्रोध की अधिकता से रक्त में कुछ ऐसे विष उत्पन्न होते हैं जिनसे उद्वेग बढ़ता है, त्वचा का रंग काला हो जाता है, अंग फड़कने लगते हैं, शांति, स्थिरता और बुद्धि भंग हो जाती है। मूल रूप में क्रोध भी हमारे अनेक शारीरिक रोगों का कारण बन जाता है।

रक्तचाप बढ़ने के संबंध में अब तक जितनी शोधें हुई हैं, उनकी चर्चा करते हुए फ्रांसीसी मेडिकल एसोसिएशन के प्रधान डॉ. ब्लैवस्की ने लिखा है– इस रोग के तीन–चौथाई पीड़ितों ने चिन्ताओं से ग्रसित रहकर अपने शरीर में इस व्यथा को आमंत्रित किया होता है। मद्यपान एवं अनुपयुक्त रहन–सहन के कारण रक्तचाप से पीड़ित होने वालों की अपेक्षा चिन्ताग्रस्त कई गुने अधिक होते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने संसार भर में इन दिनों हृदय रोगों की वृद्धि का कारण मानसिक उद्वेग को बताया है। डॉ. ब्लैवस्की हृदय रोगों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि क्रोधी और ईर्ष्यालु स्वभाव के लोगों को बहुधा यह व्यथा आ दबोचती है। जिन्हें छोटी–छोटी बातों पर डर बहुत लगता है, तरह–तरह की आशंकायें किया करते हैं और दुःखद भविष्य के बुरे चित्र मस्तिष्क में बनाया करते हैं, उनकी रक्तवाहिनी नाड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं, खून गाढ़ा हो जाता है और उसमें बढ़ी हुई फुटकियाँ हृदय की धड़कन तथा अन्य बीमारियाँ पैदा करती हैं।

शरीर की तुलना में मन का मूल्य हजारों गुना अधिक है। उसी प्रकार शारीरिक रोगों की तुलना में मानसिक रोगों की क्षति अत्यधिक है। शरीर रोगी रहे किन्तु यदि मस्तिष्क स्वस्थ हो तो मनुष्य अनेकों मानसिक पुरूषार्थ कर सकता है, किन्तु मस्तिष्क विकृत हो जाए तो शरीर के पूर्ण स्वसी होने पर भी सब कुछ निरर्थक बन जाएगा।

इन दिनों मानसिक रोगों की बाढ़ तूफानी गति से बढ़ती जा रही है। यह स्थिति काफी चिंताजनक है। सनकी, वहमी, शेखचिल्ली, उद्विग्न, क्रुद्ध, रूष्ट, असंतुष्ट, आशंकाग्रस्त, चिन्तित, निराश, भयभीत, उदासीन, मनोरोगी व्यक्ति क्रमशः अपने लिए भार बनते चले जाते हैं। उनके मस्तिष्क में उठने वाले चक्रवात सोचते की स्वस्थ शैली को तोड़–मरोड़ कर रख देते हैं और व्यक्ति विकृत एवं गलत सोचने लगता है। उसके मन में निराशा, भय, घृणा, चिन्ता, उदासीनता, आतुरता, अपराधी मनोवृत्ति, कामुकता, अवसाद आदि मानसिक रोग आदि उत्पन्न होने लगता है।

मानसिक रोग उत्पन्न होने से अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी उत्पन्न होने लगते हैं। अमेरिकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रेबेका ने अनेकों रोगियों की चिकित्सा के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि बेहद अहंकार की भावना से शरीर के कई अंग कठोर हो जाते हैं और व्यर्थ अहंकारी जीवन जीने तथा असली रूप छिपाने से हृदय कठोर हो जाता और मूत्राशय में पथरी रोग पनपता देखा गया है। घृणा, ईर्ष्या, क्लेश–कलह के भावों से भीतर में रस या

रक्त का प्रवाह मन्द हो जाता है। इसके विपरीत निःशंक प्रसन्नता और निर्भय भावना शरीर के भीतरी अंगों में तेल मालिश का काम करती है।

जैसा विचार एवं भावनाएँ होती हैं, उसी के अनुरूप हमारे शरीर में अच्छा–बुरा प्रभाव पड़ता है। देखा गया है कि मन के उतार–चढ़ावों का प्रभाव शरीर पर तत्काल पड़ता है। क्रोध आने से चेहरा लाल पड़ जाता है और रक्त संचार की गति बढ़ जाती है, इसलिए शरीर काँपने लगता है। इसके विपरीत शोक के समय चेहरा पीला पड़ जाता है, आदमी चिन्तित, बेहाल हो जाता है। बार–बार क्रोधित या आवेशित होने से आमाशय, पक्वाशय, संचार, तिल्ली, जिगर, रक्तवाहिनियों आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भय व शोक के समय रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं। रक्त प्रवाह धीमा पड़ जाता है, जिससे नाना प्रकार की बीमारियाँ धर पकड़ती हैं।

अमेरिका के मनःशास्त्री डॉ. जान.ए. शिण्डलर ने अपनी पुस्तक 'रूग्णता की गहराई' में लिखा है– ''आहार–विहार की अनियमितता से जितने रोग होते हैं, उसकी तुलना में मानसिक असन्तुलन के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की संख्या कहीं अधिक है। लूई कूने ने विजातीय द्रव्य की वृद्धि से मानसिक रोग की उत्पत्ति बतायी है। प्राकृतिक जीवनशैली, सात्विक आहार–विहार, सकारात्मक विचार, प्रेम, करूणा, प्रसन्नता, आशा, उत्साह, आत्मविश्वास व ईश्वरविश्वास से सभी प्रकार के मानसिक रोगों को दूर किया जा सकता है और जीवन को सुखी व आनन्दित बनाया जा सकता है।

6.4.1 मानसिक रोग क्या है ?

जब मनुष्य का व्यवहार असामान्य होने लगे, वातावरण से वह उचित समायोजन नहीं कर पाये, उसका मन रूग्ण व बीमार हो जाए, उसके मन में नकारात्मक चिन्तन, निराशा, उद्विग्नता, अशान्ति, भय, घृणा, द्वेष, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, चिन्ता, वासना, कुढ़न, जलन, सनक, भ्रम व अविश्वास आने लगे तो सामान्यतः उसे मानसिक रोगी की संज्ञा दी जाती है और कहते हैं कि उसे मानसिक रोग हो गया है। वह मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति जैसा व्यवहार नहीं कर पाते, सदैव दुःख व परेशानी, चिन्ता व कुढ़न, ईर्ष्या व जलन, भय व शंका, लोभ व मोह, वासना, तृष्णा, क्रोध व अहंकार, अवसाद, निःसहायता, सनक व पागलपन, अपराध व आक्रामकता, तथा भ्रम व अविश्वास में जीता है। परिवार, समाज, वातावरण व स्वयं से उचित व्यवहार व समायोजन नहीं कर पाता है, उसका मानसिक संतुलन अनियंत्रित हो जाता है, तब उसे मानसिक रोगी कहा जाता है।

शरीर और मन का संबंध अटूट है। मन विकृत हुआ तो शरीर भी स्वस्थ व सुखी नहीं रहेगा। इसी प्रकार शारीरिक दुर्बलता, रोग और पीड़ा का मन पर भी प्रभाव पड़ता है। शरीर की अपेक्षा मन शक्तिशाली है। मनुष्य का संपूर्ण क्रिया–व्यापार मन की विचार स्थिति के अनुरूप होता है। जो सोचते हैं, वही करते हैं। मन में जैसे विचार उठते हैं, वैसी ही क्रियाएँ व्यवहार में आती हैं। बाह्य कर्म का आधार मन है, इसलिए स्वास्थ्य पर मन की असंयत प्रवृत्तियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। मन में क्रोध हो तो वह क्रोधित होकर बोलेगा, मन में निराशा हो तो वह अवसादग्रस्त रहेगा व निराशायुक्त वचन बोलेगा और यदि मन में प्रेम, आशा, उत्साह व विश्वास होगा तो दूसरों के साथ वह प्रेमपूर्ण, आशा, उत्साह व विश्वास से भरी बातें व व्यवहार करेगा अर्थात मन में जिस प्रकार के अच्छे या बुरे विचार होंगे, बाहर उसी रूप में व्यक्ति व्यवहार करेगा। मानसिक रोग या बीमारी

(mental illness) वातावरण के साथ किए गए कुसमायोजी व्यवहार (maladaptive behaviour) को कहा जाता है।

परिभाषाएँ–

डेविड मैकनिक (David Mechanic, 1999) के अनुसार– मानसिक बीमारी एक तरह का विचलित व्यवहार (deviant behaviour) होता है जिसमें व्यक्ति की चिंतन प्रक्रियाएँ, भाव एवं व्यवहार सामान्य प्रत्याशाओं एवं अनुभूतियों से भिन्न या अलग होता है और प्रभावित व्यक्ति या समाज इसे एक ऐसी समस्या के रूप में पहचान करता है जिसमें नैदानिक हस्तक्षेप (clinical intervention) आवश्यक हो जाता है।

DSM-IV (1994) के अनुसार– ''प्रत्येक मानसिक विकृति को एक नैदानिक रूप से सार्थक व्यवहारपरक या मनोवैज्ञानिक संलक्षण या पैटर्न, जो व्यक्ति में उत्पन्न होता है, के रूप में समझा गया है और यह वर्तमान तकलीफ या नियोग्यता (disability) से संबंधित होता है। चाहे मौलिक कारण जो भी हो, इसे वर्तमान समय में व्यक्ति में व्यवहारपरक, मनोवैज्ञानिक या जैविक दुष्क्रिया की अभिव्यक्ति अवश्य माना जाता है। न तो कोई विचलित व्यवहार, जैसे– राजनीतिक, धार्मिक या लैंगिक और न ही व्यक्ति तथा समाज के बीच होने वाला संघर्ष को मानसिक रोग माना जा सकता है। अगर ऐसा विचलन या संघर्ष व्यक्ति में दुष्क्रिया का लक्षण न हो।''

उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि सामान्यतः मानसिक रोग के दो पहलू होते हैं–

मानसिक रोग से उत्पन्न चिंतन, भाव एवं व्यवहार व्यक्ति के लिए दुःखदायी या विघटनकारी (disruptive) होता है।

समस्या व्यक्ति में किसी न किसी दुष्क्रिया (dysfunction) से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, मन या उसके शरीर का कोई न कोई पहलू उस ढंग से काम नहीं कर रहा होता है जिस ढंग से उसे कार्य करना चाहिए।

योग दर्शन के अनुसार– ''चित्त की मूढ़ व क्षिप्त अवस्था, जिसमें तम एवं रज की प्रधानता रहती है, को मानसिक रोगों का प्रधान कारण माना गया है। चित्त की मूढ़ावस्था में तमोगुण प्रधान रहता है, रजस और सत्व दबे रहते हैं, अतः मनुष्य निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, मोह, भय, भ्रम एवं दीनता की स्थिति में पड़ा रहता है। इस स्थिति में व्यक्ति की सोच–विचार की शक्ति कुन्द पड़ी रहती है, विवेकशून्य होने के कारण सही–गलत का विचार नहीं कर पाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर वह सब तरह के अवांछनीय और नीच कार्य करता है जिससे उसकी गणना अधम मनुष्यों में होती है। एक तरह से उसकी स्थिति मानसिक रोगी जैसी होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि में वह सामान्य व्यवहार से विचलित की स्थिति है जिसे मानसिक विकारों से ग्रस्त माना जाता है। दूसरी स्थिति चित्त की क्षिप्तावस्था है जिसमें रजोगुण प्रधान रहता है तथा सत्व व तमस दबे रहते हैं। इस स्थिति में चित्त अति चंचल, सदैव अशान्त व अस्थिर रहता है। मानसिक क्रिया पर इस अवस्था में कोई नियंत्रण नहीं रहता है, संयम का अभाव रहता है, फलस्वरूप उसकी दशा राग–द्वेषपूर्ण होती है जो एक मनोरोग है। अतः उन्हीं के अनुरूप सुख–दुःख, हर्ष–विषाद, चिंता एवं शोक के कुचक्र में उलझा रहता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार, पंच क्लेश– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश ही सभी मनोरोगों व दुःख का कारण है व स्वयं भी ये मनोरोग ही हैं। सभी प्रकार के मनोविकार, अज्ञान, अशान्ति, कष्ट, चिन्ता, भय, शोक, विषाद व अपराध इन्हीं पंचक्लेशों से उत्पन्न होते हैं।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के अनुसार, ''चिन्ता, भय, आशंका, असंतोष, ईर्ष्या, उद्वेग, आत्महीनता, अपराधी वृत्ति का ही मन पर नियंत्रण हो तो मनःसंस्थान का सारा संतुलन गड़बड़ा जायेगा व उसका प्रभाव सारे शरीर संस्थान पर मनोशारीरिक व्याधियों के रूप में दिखायी देगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अप्राकृतिक जीवनयापन, तामसिक आहार–विहार, दुश्चिंतन, नकारात्मक विचार एवं स्वार्थान्धता ही समस्त मनोरोगों का मूल कारण है। इसी से विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग होते हैं।

6.4.2 मानसिक रोगों के कारण–अप्राकृतिक आहार–विहार, तामसिक आहार, नशीली वस्तुओं का सेवन, नकारात्मक या विकृत चिंतन, निराशा, निरूत्साह, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि गलत भावनायें ही मानसिक रोग का प्रमुख कारण है। यद्यपि मानसिक रोग देखने में शारीरिक रोग से भिन्न प्रतीत होते हैं, पर उनके कारणों में भिन्नता नहीं होती। उनकी उत्पत्ति भी एकमात्र शरीर में विजातीय द्रव्य के भार से ही होती है जो वर्षों से एकत्र होता रहता है।

लूई कूने के अनुसार– ये रोग तभी होते हैं जब विजातीय द्रव्य शरीर में बहुत बढ़ जाता है और पीठ की ओर से रीढ़ की हड्डियों को आक्रान्त करता हुआ मस्तिष्क की कोमल ज्ञानेन्द्रियों आदि को छाप लेता है। जीवनशक्ति के ह्रास एवं अप्राकृतिक जीवन के परिणामस्वरूप पाचन के खराब होने से विजातीय द्रव्य अज्ञात रूप से धीरे–धीरे एकत्र होकर मानसिक रोग पैदा कर देते हैं। इन रोगों का होना या न होना विजातीय द्रव्य की वृद्धि और मात्रा पर निर्भर करता है। पृष्ठ भाग में विजातीय द्रव्य का भार बढ़ जाने पर आमाशय की नाड़ियों–सुषुम्ना आदि पर प्रभाव पड़ता है जो मानसिक रोगों का मुख्य कारण हुआ करता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य मानसिक चिकित्सक **डॉ. फ्रॉयड** के अनुसार– मनुष्य को मानसिक रोग उसकी प्रबल काम इच्छा के होता है। यह इच्छा दो प्रकार की होती है– (1) शारीरिक सुख की इच्छा और (2) दूसरों पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा।

अनियमित भोगेच्छा मानसिक रोगों का मूल हेतु बन जाती है। होता यूं है कि शारीरिक सुख की इच्छा इन्द्रियभोग के कारण उत्पन्न होती है और जब समाज के भय से अथवा नैतिक मूल्यों के कारण इस इच्छा या आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती है तो भावनाएँ भीतरी मन में चली जाती हैं। दमित होने के कारण ये अतृप्त भावनाएँ स्वप्नों में और मानसिक रोगों में प्रतीक रूप से प्रकाशित होते हैं।

महर्षि पतंजलि ने **योगदर्शन सूत्र** में मानसिक रोगों के मूल कारणों को पंच क्लेशों के रूप में स्पष्ट किया है, जो हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।। पा.यो.सू. 2/3

अर्थात अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार से है–

1. **अविद्या–** अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग जैसे अनित्य एवं विनाशी चीजों को नित्य मानना, परम विभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, संसार के दुःखदायी भोग पदार्थों में सुख बुद्धि तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री मकान आदि जड़ पदार्थों में आत्म बुद्धि रखना, ये सब अविद्या के उदाहरण हैं। ये चार प्रकार की अविद्या ही बन्धन, दुःख का, रोग का मूल कारण है। यौगिक दृष्टि से जो जितना अधिक अविद्या से ग्रस्त होगा, वह उतना ही मानसिक रूप से रोगी माना जाएगा।
2. **अस्मिता–** पुरूष (आत्मा) तथा चित्त (मन) दोनों भिन्न होते हुए भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होती है, उसको अस्मिता कहते हैं। इस तरह मन, बुद्धि और आत्मा दोनों भिन्न हैं तथा उन्हें एक ही मान बैठना अस्मिता है। सांख्य दर्शन में इसे मोह कहा गया है। वस्तुतः यह अविद्या से पैदा होती है। अविवेक रूपी अस्मिता, भ्रांति या मिथ्या ज्ञान ही है और यह क्लेश देने वाली है, अतः मनोरोग का कारण है।
3. **राग–** जिन दिव्य वस्तुओं से शरीर, मन, इन्द्रियों को सुख मिलता है, उन विषयों के प्रति लोभ या तृष्णा हो जाती है, इसे राग कहते हैं।

   सुखानुशयी रागः।। पा.यो.सू. 2/7

   अर्थात सुख के साथ लेटने वाला राग है। सुख भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है, वह राग है।

   इस राग का कारण अस्मिता ही है। इसमें पुनः उन विषयों को भोगने की इच्छा होती है। इसे सांख्य दर्शन में महामोह (extreme delusion) कहा गया है।

   योग वाशिष्ठ के अनुसार– बन्धन का कारण राग से उत्पन्न लगाव ही है, इसी से सब दुःखों की उत्पत्ति होती है। कोई ऐसा दुःख नहीं है जो संसार में राग रखने वाले को प्राप्त न होता हो। जिन विषय से रोग हो जाता है, उनकी प्राप्ति में विघ्न पहुँचाने वाले से व्यक्ति दुःखी, परेशान रहता है, अवसाद से घिर जाता है या फिर गलत उपाय से प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस तरह से राग से नाना प्रकार के मनोरोग उत्पन्न हो जाते हैं। राग से ही द्वेष का भी जन्म होता है।
4. **द्वेष–** दुःख भोग के पश्चात रहने वाली घृणा की वासना को द्वेष कहते हैं। योगसूत्र में वर्णित है– **दुःखानुशयी द्वेषः।। पा.यो.सू. 2/8**

   अर्थात दुःख के साथ लेटने वाला द्वेष है। अर्थात दुःख के पीछे बने रहने वाली वासना द्वेष कहलाता है।

   जिस विषय के द्वारा पहले कभी दुःख प्राप्त हुआ है और अब उसी दुःख के अवसर पर स्मृति जागृत होती है तो उस विषय के प्रति घृणा एवं क्रोध को द्वेष कहते हैं। यह दुःख की स्मृति से होता है। यह प्रेम में विघ्न पड़ने से होता है। जिससे व्यक्ति द्वेष करता है, उससे घृणा एवं क्रोध उत्पन्न होता है जो स्वयं में एक बड़ी मानसिक बीमारी है, अतः द्वेष से अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं।

5. **अभिनिवेश–** मूर्ख से लेकर विद्वान तक सभी मनुष्यों में मृत्यु का भय लगा रहता है, इसे ही अभिनिवेश कहते हैं। यह केवल अज्ञान के कारण होता है। ज्ञानी को यह भय नहीं होता। अज्ञानी अविद्या के कारण स्वयं को शरीर, मन, इन्द्रिय आदि मान बैठता है, जो नाशवान

एवं अनित्य हैं जबकि आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अनादि तथा अनश्वर है। मृत्यु के भय से बचने के लिए या जीने की लालसा में व्यक्ति अनेक प्रकार के पाप कर्म करते हुए मनोरोगी हो जाता है।

ये ही पाँच क्लेश हैं। ये पांचों क्लेश क्रम से तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध–तामिस्र इन पांच नामों से भी कहे जाते हैं और यही पंचपर्वा अविद्या कहलाती है। इन्हें क्लेश इस कारण कहा जाता है कि ये मनुष्य के मानसिक दुःख एवं संताप का मूल कारण हैं। इनके मोहपाश में फँसा व्यक्ति विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों से घिर जाता है।

आयुर्वेद के अनुसार– सत्, रज एवं तम का प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है। सत्व, मन की चैतन्य, हल्की एवं सुखद अवस्था है और यह रोगों से मुक्त रहती है। रजस सक्रियता एवं गति का प्रतीक है। इसमें तमाम तरह की इच्छाएँ, कामनाएँ और आकांक्षाएँ जन्म लेती हैं। विविध मानसिक रोग इससे जन्म लेते हैं। तमस जड़ता एवं भारीपन का द्योतक है। यह अचेतनता, जड़त्व एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। यह मन की ग्रहणशीलता एवं सक्रियता में बाधा डालती है। इसकी वृद्धि से भ्रम, आलस्य, निद्रा, तन्द्रा और दैन्यता आदि पैदा होते हैं।

आयुर्वेद के मत में रजस एवं तमस अवस्थाएँ मानसिक स्वास्थ्य में व्यवधान डालती हैं। चरक ने विभिन्न स्थान में तमस एवं रजस दोषों द्वारा उत्पन्न विविध मानसिक रोगों का वर्णन किया है। वे हैं– काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष आदि। जब ये भाव संवेग सामान्य मात्रा में रहते हैं तो व्यक्ति को नुकसान नहीं पहुँचाते, इनकी असामान्य मात्रा में वृद्धि विविध मानसिक रोगों को पैदा करती है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के मत में, मनोरोगों का मूल कारण– मनोरोग क्यों होते हैं ? इस संदर्भ में अपना मत प्रतिपादित करते हुए युगऋषि आचार्य श्रीराम शर्मा लिखते हैं कि मनोरोग और कुछ नहीं कुचली, मसली, रौंदी हुई भावनाएँ हैं और इनकी यह दशा हमारे अपने अथवा परिवेश के दूषित चिन्तन के कारण होती हैं। ''सतयुग की वापसी'' पुस्तक में वे कहते हैं– विकृतियाँ दिखती भर ऊपर हैं। इनकी जड़ें गहराई में कुसंस्कारिता के रूप में छिपी हैं। भावनाओं की यह टूट–फूट कब और कैसे हुई ? इसके भेद के अनुसार मनोरोगों के अनेकों भेद हो जाते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान में मनोरोगों के कारण– आधुनिक मनोविज्ञान में मनोरोगों के कारणों पर प्रमुखतया तीन आधार पर विचार करता है– (1) जैविक कारण, (2) मनोसामाजिक कारण और (3) सामाजिक–सांस्कृतिक कारण।

1. **जैविक कारण (Biological Causes)** में कई तरह के कारकों को प्रधान बतलाया गया है जिसमें आनुवंशिक दोष, शरीर गठनात्मक कारक, जैव रसायन कारक, मस्तिष्कीय दुष्क्रिया तथा शारीरिक तनाव कारक प्रमुख हैं। इन सभी कारकों का स्वरूप जैविक इसलिए माना गया है क्योकि इसका संबंध व्यक्ति के जन्म के पहले या जन्म से ही मौजूद कारकों से होता है। इन सब कारकों से असामान्य व्यवहार एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होता पाया गया है, जैसे– मानसिक मन्दन, मनोविदालिता (Schizophrenia), आक्रामकता, अपराध (Delinquency), चिन्ता मनस्नायुविकृति (anxiety neurosis), हीनता का भाव (feeling of inferiority), सांवेगिक उपद्रव (emotional disturbances), विषाद (depression), विकृत चिन्तन (distorted thinking), विभ्रम

(hallucination), खुदकुशी (suicide) करने की प्रवृत्ति, विद्रोहपूर्ण व्यवहार (violent behaviour), अनिर्णयात्मकता (indecision) आदि कई मानसिक विकृतियाँ जैविक कारणों से उत्पन्न होते हैं।

2. **मनोसामाजिक कारण–** मनोसामाजिक कारणों की भूमिका असामान्य व्यवहार या मानसिक रोगों में काफी अधिक पायी गयी है। इन कारणों में संज्ञानात्मक कारक, आरंभिक वंचन या आघात, अपर्याप्त जनकता, रोगात्मक पारिवारिक संरचना तथा कुसमायोजी साथी–संगी का संबंध को महत्वपूर्ण माना गया है।

(क) संज्ञानात्मक कारक में व्यक्ति अपने बारे में एक विशेष तरह की प्रतिमा बनाकर रखता है तथा उसका अपना एक खास तरह का विश्वास एवं भाव होता है जो उसे अन्य व्यक्तियों से भिन्न करता है। इसके कारण किसी–किसी में अलगाव (isolation), तिरस्कार, निराशा एवं दुश्चिंता विकृति (anxiety disorder) आदि मनोविकार विकसित हो जाते हैं।

(ख) आरंभिक वंचन या आघात (Early deprivation or trauma) के अंतर्गत तीन और संबद्ध कारक हैं– संस्थानीकरण, घर में वंचन एवं बाल्यावस्था की सदमा या मानसिक आघात। इन सभी कारकों से संवेगात्मक उदासीनता, मनोविक्षिप्त (psychosis), चारित्रिक विकृति (character disorder), सांवेगिक विकृति, विकासात्मक दोष, मानसिक मन्दन (mental retardation), अत्यधिक डर, बौद्धिक ह्रास आदि मनोविकार किसी–किसी में विकसित हो जाते हैं।

(ग) अपर्याप्त जनकता (Inadequate Parenting)– इसके अंतर्गत माता–पिता के साथ बच्चों का किया गया अंतःक्रिया (interaction) जब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपर्याप्त होता है तो उससे बच्चों के व्यक्तित्व विकास कुप्रभावित होता है और उसमें असामान्य व्यवहार या मानसिक रोगों की संभावना काफी तीव्र हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे कई अपर्याप्त पैटर्न की पहचान किया है जिससे अनेक मनोरोग उत्पन्न होते हैं। जैसे–

- अतिसुरक्षा से दुर्भीति व अतिचिंतित जैसी विकृति,
- अत्यधिक बंधन से डर, निर्भरता, दब्बूपना, दमित विद्वेष आदि विकृति।
- **अवास्तविक माँग** (unrealistic demands) जिसमें माँ–बाप बच्चों की वास्तविक क्षमता की अनदेखी करके बच्चों के सामने अवास्तविक प्रत्याशा तथा माँग (demand) रखते हैं जिसे बच्चा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है जिससे बच्चों में अन्ततोगत्वा निराशा, कुंठा, हीनता, नकारात्मक आत्म सम्प्रत्यय (self concept) विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है।
- अति अनुमतिबोधकता (overpermissiveness) में माता, पिता या दोनों ही बच्चों की छोटी–सी–छोटी साधारण–से–साधारण इच्छा की पूर्ति के लिए काफी सजग रहते हैं जिससे बच्चे माता–पिता की इस कमजोरी का शोषण करते हैं जिससे आगे चलकर प्रायः स्वार्थी, दुष्ट, असहयोगी, समाज विरोधी व्यवहार वाले हो जाते हैं।

- **दोषपूर्ण अनुशासन** (faulty discipline) में माता–पिता द्वारा बच्चे के किसी व्यवहार को दण्ड मिलता है तो उसी व्यवहार में कभी–कभी उसे पुरस्कार दिया जाता है। ऐसी स्थिति में बच्चा यह नहीं सीख पाता है कि उपयुक्त व्यवहार क्या है ? इस कारण बच्चों में आक्रामकता (aggressiveness), अदयालुता, दूसरों में विश्वास की कमी, डर, माता–पिता के प्रति घृणा एवं आत्म दंड (self punishment) का दोष आदि मनोरोग विकसित होने लगते हैं।
- **अपर्याप्त एवं अतार्किक संचार** (inadequate and irrational communication) में बच्चों के प्रश्नों का उत्तर माता–पिता द्वारा अपर्याप्त या गलत होता है जिसे बच्चा समझ नहीं पाता या फिर उसे डाँट कर चुप करा दिया जाता है जिसके कारण बच्चों में कुसमायोजी व्यवहार एवं नकारात्मक प्रवृत्ति, जैसे मनोविकार उत्पन्न होते देखे गए हैं।
- आसक्ति सिद्धान्त (attatchment theory) के प्रबल समर्थक वालवाय (Bowlby 1982) है जिन्होंने बतलाया कि बच्चे अपने माता–पिता या जो उन्हें पालते–पोषते हैं, के साथ घनिष्ठ आसक्ति विकसित कर लेते हैं। जब यह आसक्ति साामान्य न होकर चिंता उत्पन्न करने वाला होता है जो तब होता है जब उसके माता–पिता उसके साथ असंगत एवं असहयोगपूर्ण व्यवहार करते हैं तो बच्चों में अविश्वास, कुण्ठा एवं समाजविरोधी व्यवहार जैसे मनोविकार विकसित होने लगते हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि अपर्याप्त जनकता के कारण बच्चों का संपूर्ण स्वस्थकर व्यक्तित्व का विकास नहीं होता और उसमें कई तरह के असामान्य व्यवहार या मानसिक रोग के बीज बो दिये जाते हैं।

(घ) रोगात्मक पारिवारिक संरचना व्यवहार (Pathogenic family structure) का तात्पर्य वैसे पारिवारिक संरचना से होता है जिसमें कई तरह के पारिवारिक क्षुब्धता (family disturbance) इतनी अधिक मात्रा में होती है कि उससे परिवार के सदस्यों का सामान्य समायोजन बुरी तरह प्रभावित हो जाता है और व्यक्ति असामान्य व्यवहार करता है और मनोरोगी हो जाता है। ऐसे तीन तरह के रोगात्मक पारिवारिक संरचना हैं जो निम्न हैं–

- बेमेल परिवार (discordant family)– वह परिवार होता है जिसमें माता–पिता में से कोई एक या दोनों को ही एक–दूसरे से संतुष्टि नहीं रह जाती है। उनमें अक्सर वाद–विवाद होते हैं, उनके विचार अलग–अलग होते हैं। कारसन एवं बुचर के अनुसार, ऐसे परिवार के वयस्क एवं बच्चों पर समाज विरोधी प्रवृत्तियों से घिर जाते हैं व मनोरोगी हो जाते हैं।
- विक्षुब्ध परिवार (disturbed family)– वह परिवार होता है जिसमें से एक या दोनों इतने सनकी या झक्की तथा असामान्य ढंग से व्यवहार करते हैं कि वे पूरे घर में सतत सांवेगिक अशांति की स्थिति पैदा कर देते हैं, ये आपस में लड़ते–झगड़ते हैं। इसके कारण बच्चों को पर्याप्त स्नेह व प्यार नहीं दे पाते।

- विघटित परिवार (disrupted family)– वह परिवार होता है जिसमें कई कारणों, जैसे– मृत्यु, संबंधविच्छेद (divorce), अलगाव (seperation) तथा अन्य समान कारणों से परिवार अधूरा या विघटित हो जाता है। ऐसे आधे–अधूरे परिवार के बच्चों को कोई स्नेह–प्यार देने वाला नहीं रह जाता है, जिससे ऐसे बच्चों का व्यक्तित्व विकास अधूरा ही रह जाता है। रूट्टर (Rutter, 1981) ने अपने अध्ययन में पाया कि संबंधविच्छेदित माता–पिता या दोनों में अलगाव की स्थिति होने से बच्चों में अपराधाधिक प्रवृत्ति (delinquency tendency) व अन्य मनोरोग अधिक बढ़ जाते हैं।

(च) कुसमायोजी साथी–संगी का संबंध (Maladaptive peer relationship)– जब बच्चों या वयस्कों को बुरे या कुसमायोजी साथी–संगी मिल जाते हैं, तो उससे भी उसका व्यवहार काफी प्रभावित होता है और इससे उसमें असामान्यता (abnormality) आ जाता है और उसमें कई प्रकार के मानसिक विकार जैसे आत्मविश्वास व आत्मसम्मान में कमी, मनोविदालिता, अपराधिक भावना आदि विकसित हो जाते हैं।

3. **सामाजिक–सांस्कृतिक कारण (Socio-cultural Factors)–** असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति में सामाजिक–सांस्कृतिक कारण की भी अहम भूमिका होती है। इसमें निम्न सामाजिक–आर्थिक स्तर, अनुपयुक्त सामाजिक भूमिका, आर्थिक कठिनाईयाँ एवं बेरोजगारी, सामाजिक संबंध, सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण, वैवाहिक समस्याएँ तथा यौन भूमिका को प्रधान माना गया है। जिससे विभिन्न प्रकार के असामान्य व्यवहार एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे– मनोविदालिता, उत्तर आघातीय तनाव विकृति आदि निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर एक अनुपयुक्त सामाजिक भूमिका से तथा विषाद, आत्म–अवमूल्यन (self devaluation), आत्महत्या तथा अपराध की प्रवृत्ति आर्थिक कठिनाइयों एवं बेरोजगारी से उत्पन्न होते हैं। सामाजिक समर्थन की कमी से अत्यधिक तनाव, विषाद, आत्महत्या की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती हैं। मानसिक विकृति का एक कारण वैवाहिक समस्याएँ (marital problems) भी है। रॉबिन्स एवं रिगिर (Robins & Regier, 1991) ने एक विस्तृत अध्ययन किया जिसमें पाया कि वैवाहिक समस्याएँ विषाद, मद्यपानता (alcoholism) तथा मनोविदालिता से काफी अधिक सह–संबंधित (correlated) होती हैं अर्थात ये बढ़ते हैं। यौन भूमिका (gender roles) भी व्यक्ति में मानसिक विकृति या असामान्य व्यवहार उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि असामान्य व्यवहार एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति में जैविक कारकों, मनोसामाजिक कारकों तथा सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों की प्रमुख भूमिका होती है।

डॉ. प्रणव पण्ड्या के अनुसार, नकारात्मक विचार एवं भाव जब हमारे जीवन में ध्यान के रूप में प्रगाढ़ हो जाते हैं और लंबे समय तक बने रहते हैं तो मनोरोग पनपते हैं। मनोरोग का मूल कारण है– वैचारिक विक्षोभ एवं भावनात्मक द्वन्द्व। इसी से तमाम तरह के मनोरोग पैदा होते हैं और यही मनोरोगों का वास्तविक कारण है।

दार्शनिक प्लेटो के अनुसार, चिकित्सक शरीर को ठोंकने–बजाने में लगे रहने की अपेक्षा रोगी के मन की ढूंढ खोज करे तो बीमारी का तुरंत पता लग जाएगा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानसिक रोगों के कई कारणों में अप्राकृतिक आहार–विहार, तामसिक आहार, विकृत या नकारात्मक चिन्तन, चिंता, क्षोभ, निराशा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, उद्विग्नता, हीन भावना, अवसाद, पंच क्लेश, रज एवं तम की अधिकता एवं मनोवैज्ञानिक कारण प्रमुख हैं। यदि इसके विपरीत प्राकृतिक जीवन–यापन, सात्विक आहार–विहार, प्रेम, करूणा, मैत्री, सद्भावना, प्रसन्नता, प्रफुल्लता, व्यस्त व मस्त रहने की आदत, सकारात्मक चिन्तन व सत्व गुणों की अधिकता आदि को अपने जीवन में उतारा जाये तो मानसिक रोगों से बचा जा सकता है व स्वस्थ, समुन्नत, सुखी व दीर्घायुपूर्ण जीवन जीना संभव हो सकता है।

6.4.3 मानसिक रोगों के स्वरूप एवं लक्षण– विविध मनोरोगों के स्वरूप एवं लक्षण भारतीय दृष्टिकोण में यौगिक एवं आयुर्वेदीय परम्परा में निम्नलिखित रूप में दर्शाया गया है।

यौगिक दृष्टिकोण में मन (चित्त) के विक्षेप– योग चूंकि चरम स्वास्थ्य का विज्ञान है, जिसका अभीष्ट आत्मसाक्षात्कार एवं समाधि की पूर्णावस्था की प्राप्ति है। अतः योग पद्धति चिकित्सात्मक होने की बजाय साधना प्रधान है। यहाँ आध्यात्मिक साधना में मानसिक आरोग्य एक आवश्यक शर्त रहा है। इसे प्राप्त किये बिना आध्यात्मिक साधना सम्भव नहीं है। अतः योग में मनोरोगों के स्वरूप एवं लक्षणों का विषय योग साधना मार्ग में आने वाले विघ्न, व्यवधानों के रूप में किया गया है और इन्हें 'चित्त विक्षेप' की संज्ञा दी गई है। योगसूत्र के अनुसार, इनमें नौ प्रमुख हैं जो इस तरह से हैं– व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व। इनका संक्षिप्त विवरण इस तरह से है–

1. **व्याधि (रोग)–** शरीर या इन्द्रिय समुदाय में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न होना 'व्याधि' है। इस दशा में मन में व्याधि बढ़ती है।
2. **स्त्यान–** अकर्मण्यता अर्थात साधना में प्रवृत्ति न होने का स्वभाव 'स्त्यान' है। इससे मन में सक्रियता का अभाव हो जाता है।
3. **संशय–** अपनी शक्ति या योग के फल में संदेह हो जाने का नाम 'संशय' है। इससे मन एकाग्र नहीं हो पाता है।
4. **प्रमाद–** योग साधना के अनुष्ठान की अवहेलना (बेपरवाही) करते रहना 'प्रमाद' है। इससे व्यक्ति अभीष्ट कर्त्तव्य कर्म तो नहीं करता, जिससे वह विक्षिप्त बना रहता है।
5. **आलस्य–** तमोगुण की अधिकता के कारण शरीर में भारीपन हो जाना और उसके कारण साधना में प्रवृत्ति न होना 'आलस्य' है। इस तरह मन के तमस गुण और शरीर में आलस्य से उत्पन्न निष्क्रियता चित्त विक्षेप का मुख्य कारण है।
6. **अविरति–** विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने से उनमें आसक्ति हो जाने के कारण जो चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाता है, उसे 'अविरति' कहते हैं। इस तरह इन्द्रियों का विषय भोगों से न हटा सकना विक्षेप का कारण है।

7. **भ्रान्तिदर्शन–** योग के साधनों को किसी कारण से विपरीत समझना अर्थात साधन ठीक नहीं, ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाना 'भ्रान्तिदर्शन' है। भ्रम की यह मनोदशा भी विक्षेप का एक प्रमुख कारण है।
8. **अलब्धभूमिकत्व (मानसिक अस्थिरता)–** साधना करने पर भी योग की भूमिकाओं का अर्थात साधन की स्थिति का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है, इससे साधक का उत्साह कम हो जाता है, मन के अस्थिर होने से विक्षेप उत्पन्न होता है और ध्यान नहीं जमता।
9. **अनवस्थित्व (मानसिक बैचेनी)–** योग की किसी भूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी उसका न ठहरना 'अनवस्थित्व' है। इससे मनोभूमि डांवाडोल रहती है व विक्षेप की स्थिति बनी रहती है।

इन नौ प्रकार के चित्त विक्षेपों को ही अन्तराय विघ्न और योग के प्रतिपक्षी आदि नामों से कहा जाता है। इनके रहने पर पांच विघ्न और उपस्थित हो जाते हैं जिनका वर्णन अगले सूत्र में इस प्रकार से है– दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास। इनका संक्षिप्त परिचय इस तरह से है–

1. **दुःख–** दुःख अर्थात कष्ट भी तीन प्रकार के हैं– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, चिन्ता आदि होने से मन, इन्द्रियों और शरीर में जो विफलता एवं वेदना होती है, उसी का नाम 'आध्यात्मिक दुःख' है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, सिंह, सर्फ, मच्छर आदि द्वारा होने वाले कष्टों को 'आधिभौतिक दुःख' कहते हैं। तथा गर्मी, सर्दी, आंधी, तूफान होने वाले कष्टों को दैवी कारणों से होने वाली पीड़ा आधिदैविक दुःख है।
2. **दौर्मनस्य–** मन की कोई इच्छा पूरी न होने पर मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे दौर्मनस्य कहते हैं।
3. **अंगमेजयत्व–** शरीर के अंग–अवयवों का कम्पित होना 'अंगमेजयत्व' है।
4. **श्वास–** न चाहते हुए भी अंदर की वायु का बाहर निकल जाना अर्थात बाहरी कुम्भक में विघ्न हो जाना श्वास है।
5. **प्रश्वास–** बाह्य कुम्भक में विघ्न हो जाना प्रश्वास है।

ये पांच विघ्न विक्षिप्त चित्त में ही होते हैं, एकाग्र चित्त में नहीं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में मनोरोगों का वर्गीकरण–

आयुर्वेद में मानसिक रोगों का वर्गीकरण सुस्पष्ट रूप से कहीं भी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं होता। आयुर्वेदीय साहित्य के अनुशीलन के आधार पर इसमें वर्णित मनोरोगों को इस क्रम में विभाजित कर सकते हैं–

1. सत और रज से उत्पन्न मानस रोग
2. वात, पित्त और कफ सहित सत एवं रज द्वारा उत्पन्न मानस रोग
3. मानव प्रकृति विकार से संबंधित मनोरोग (व्यक्तित्व विकार)
4. मनःकायिक रोग (आधि–व्याधि)

(1) सत और रज से उत्पन्न मनोरोग– ये प्रमुखतः संवेगात्मक विकार हैं। ये स्वयं रोग, रोग का कारण या रोग के लक्षण के रूप में प्रकट हो सकते हैं। विमान स्थान में चरक ने स्पष्ट रूप से इन्हें मानस रोग घोषित करते हुए इन्हें सत एवं रज से उद्भूत बताया है। और ये

हैं– काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय और हर्ष। इनका संक्षिप्त स्वरूप विवेचन प्रस्तुत है–

1. **काम–** इन्द्रियों के विषय में अधिक आसक्ति रखना 'काम' कहलाता है।
2. **क्रोध–** दूसरे के अहित की प्रवृत्ति जिसके द्वारा शरीर और मन भी पीड़ित हो, उसे क्रोध कहते हैं।
3. **लोभ–** दूसरे के धन, स्त्री आदि के ग्रहण की अभिलाषा 'लोभ' है।
4. **ईर्ष्या–** दूसरे की समृद्धि, सम्पत्ति को सहन न कर सकना 'ईर्ष्या' है।
5. **मोह–** अज्ञान या मिथ्या ज्ञान (विपरीत ज्ञान) 'मोह' है।
6. **मान–** अपने गुणों को अधिक मानना और दूसरे के गुणों को हीन दृष्टि से देखना 'मान' है।
7. **मद–** मान की ही बढ़ी हुई मात्रा 'मद' कहलाती है।
8. **शोक–** पुत्र आदि प्रिय वस्तु के वियोग होने से चित्त में जो उद्वेग होता है, उसे 'शोक' कहते हैं।
9. **चिन्ता–** किसी वस्तु का अत्यधिक ध्यान करना चिन्ता कहलाता है।
10. **उद्वेग–** समय पर उचित उपाय न सूझने से जो घबराहट होती है, यह उद्वेग है।
11. **भय–** अन्य आपत्तिजनक वस्तु से डरना 'भय' कहलाता है।
12. **हर्ष–** प्रसन्नता या बिना किसी कारण के अन्य व्यक्ति की हानि करके मन में प्रसन्नता का अनुभव करना 'हर्ष' कहलाता है।

इन सभी मानस रोगों को राग, द्वेष दो भागों में बांटा जा सकता है। हर्ष, शोक, काम, लोभ आदि राग के ही भेद हैं। अनिच्छित वस्तु के प्रति अरूचि द्वेष है। क्रोध, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि इसी के भेद हैं।

(2) शरीर दोष से उत्पन्न मानस रोग–

इस वर्ग में आधुनिक मनोचिकित्सा में 'न्यूरोसिस' और 'साइकोसिस' के रूप में वर्णित सभी मनोरोग आ जाते हैं। इस समूह के प्रमुख रोग हैं– उन्माद (Psychosis), अपस्मार (Epilepsy), अपतंत्रका (Hysteria), अतत्वाभिनिवेश (Paranoia and Obsessive Compulsive Disorder), क्लम (Neuresthenia), मद (Psychoneurosis), मूर्च्छा (Fainting), सन्यास (Coma), मदात्यय (Alcoholism), गडोद्वेग (Hypocondriasis) और संत्रास (Phobia)। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार से है–

उन्माद रोग– आधुनिक चिकित्सा में यह 'इन्सेनिटी' या 'डिमेन्शिया' (Insanity or Dementia) का पर्याय है। जो साइकोसिस श्रेणी के गंभीर मनोरोगों में आता है। सामान्य रूप से मन और बुद्धि के विभ्रम से उत्पन्न मानसिक रोग को उन्माद कहा जा सकता है। चरक के अनुसार, मन, बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, समृति, भक्ति, शील, चेष्टा और आचार के विभ्रम को 'उन्माद' कहते हैं। बुद्धि में भ्रम, मन का विचलित होना, चंचल और व्याकुल दृष्टि, अधीरता, वाणी में अधीरता, ह्रदय स्थान में खालीपन का प्रतीति होना, यह उन्माद रोग के सामान्य लक्षण हैं। इस तरह बुद्धि, मन और स्मृति का विभ्रम उन्माद है। चरम ने उन्माद के भी पांच भेद बताए हैं।

अपस्मार– इसका आधुनिक नाम एपिलेप्सी है। जिस रोग से स्मरण शक्ति का लोप हो जाता है, उसे 'अपस्मार' कहते हैं। चरक के अनुसार, बुद्धि एवं मन के विभ्रम के कारण वीभत्स चेष्टा करते हुए, अंधकार में डूबते हुए सी प्रतीति (संज्ञाशून्यता) को अपस्मार कहते

हैं। इस रोग में मस्तिष्क के कार्य में अचानक विकृति उत्पन्न हो जाती है और यह विकृति अनेक वर्षों तक या आजीवन बीच–बीच में दौरे के रूप में प्रकट होती रहती है।

अतत्वाभिनिवेश– इसे आधुनिक चिकित्सा में 'पैरानोइया' कहते हैं। यह एक प्रकार का बुद्धि विपर्यय है। यह मुख्य रूप से बुद्धि की विकृति का द्योतक मनोरोग है। बुद्धि का कार्य विषय का यथास्वरूप ज्ञान करना है, वह इसमें नष्ट हो जाता है। अतः इस विकार में तत्व अर्थात सत्य अर्थ का बोध न होकर अतत्व अर्थात असत्य विषय का आग्रहपूर्वक स्वीकार व ग्रहण होता है। इसके अंतर्गत ऑवसेसिव कम्पलसिव न्यूरोसिस, साइकोटिक ऑवजेशन, विभ्रम (Delusion) और साइकोमोटर आदि को भी लिया जा सकता है।

अपतन्त्रक– यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के 'हिस्टेरिया' का पर्याय है। यह एक प्रकार का नाड़ी दौर्बल्य (Neurosis) है जो भय, चिंता, शोक, निराशा, मानसिक आघात, मानसिक दुर्बलता और आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न होता है। इसमें लक्षणों की विचित्रता पायी जाती है, जैसे– शिरःशूल, पक्षाघात, संज्ञाशून्यता, उदरशूल, श्वासकुच्छता आदि। चरक और वाग्भट्ट ने इसकी गणना मानसिक रोगों में की है। निःसंज्ञता उत्पन्न होना इसका प्रधान लक्षण है। अतः इसे मानस विकार माना गया है।

मद, मूर्च्छा और सन्यास– ये तीनों रोग वस्तुतः मूर्च्छा की ही अवस्थाएँ हैं।

मद– मूर्च्छा की पहली अवस्था का नाम मद है। इसमें संज्ञानाश पूरी तरह नहीं होता। व्यक्ति ज्ञानशून्य होकर गिरता नहीं, अपितु बैठ जाता है। सुश्रुत ने उन्माद की अपवृद्ध अवस्था को 'मद' कहा है। मद मद्यपान से उत्पन्न होने वाले मद (नशे की भांति स्वरूप वाला होता है), यह शीघ्र ही उत्पन्न होता है, शीघ्र ही शांत हो जाता है और शीघ्र ही संज्ञा आ जाती है।

मूर्च्छा– संज्ञा चेतनाशक्ति के ह्रास को मूर्छा कहते हैं। सुश्रुत के अनुसार, वात आदि दोषों द्वारा संज्ञावह नाड़ियों में अवरोध उत्पन्न करने से चित्त में सुख और दुःख के भाव को नष्ट करने वाला अंधकार सहसा छा जाता है। सुख और दुःख विषयक ज्ञान के नष्ट होने पर व्यक्ति भूमि पर काष्ठ की भांति गिर पड़ता है। इसे ही 'मोह' अथवा मूर्छा कहते हैं। इसके कई भेद बताए गए हैं।

सन्यास– संज्ञानाश की यह अवस्था, जिसमें सभी क्रियाएँ बंद होकर रोगी काष्ठभूत और मृतवत होकर भूमि पर गिर पड़ता है और विशिष्ट चिकित्सा के बिना संज्ञाबोध प्राप्त नहीं करता, 'सन्यास' कहलाती है। यह तम की अत्यधिक वृद्धि से होता है।

वस्तुतः ये तीनों रोग रज और तम द्वारा आत्मा (मन) के आवृत्त होने से उत्पन्न होते हैं। अतः इनकी गणना मानसिक रोगों में की गई है।

तंद्रा– तंद्रा को एक मनोदैहिक विकृति के रूप में बताया गया है। यह तम, वात और कफ से उत्पन्न होती है। चरक के अनुसार, हृदय में व्याकुलता, गौरव, मन एवं बुद्धि की अप्रसन्नता आदि इसके लक्षण हैं।

क्लम– क्लम से अभिप्राय थकावट, शैथिल्य एवं क्लान्ति से है। यह एक मनोकायिक विकृति है जिसके तीन प्रमुख लक्षण सुश्रुत के अनुसार इस तरह से हैं– श्रम के बिना थकान, श्वासवृद्धि के बिना अकारण श्रम और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की अर्थग्रहण करने में अक्षमता।

मदात्यय– मद की ही भयंकर या अत्यधिक अवस्था का नाम 'मदात्यय' है। अविधिपूर्वक मद्य का निरंतर कुछ काल तक सेवन करने से 'मदात्यय' रोग की उत्पत्ति होती है। चरक के अनुसार, मदात्यय उन्माद, मद, मूर्छा, अपस्मार और अपतनक का कारण बन सकता है।

(3) व्यक्तित्व विकार– आयुर्विज्ञान में शरीर, मन और आत्मा के संयोग से बनी ईकाई को आयु की संज्ञा दी गई है। इसी के आधार पर मनोदैहिक ईकाई के रूप में व्यक्तित्व की परिकल्पना की गई है, जिसके जैविक आधार हैं– वात, पित्त और कफ तथा मानसिक आधार हैं– सत, रज एवं तम गुण। यह मनोदैहिक इकाई नानाविध बाह्य तथा आभ्यान्तर क्लेशों के प्रभाव के बावजूद धातुसाम्य बनाए रखने में प्रयत्नशील रहती है। फिर भी क्लेश के प्रभाव से मनोदैहिक प्रदूषण (विक्षेप) उत्पन्न होते हैं। ये विक्षेप कम हों तो स्वतः दूर हो जाते हैं, किन्तु इनकी मात्रा बढ़ते रहने के कारण मनोदैहिक संतुलन लड़खड़ा जाता है और व्यक्तित्व का विघटन प्रारंभ होता है।

इस संदर्भ में रजस एवं तमस गुणों की भूमिका प्रमुख है। इनके द्वारा जो मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, वे हैं– राग (Desire), क्रोध (Anger), लोभ (Greed), ईर्ष्या, चिन्ता (Anxiety), शोक (Remorse), भय (Fear) और हर्ष (Exhileration)। इनकी मात्रा अत्यधिक बढ़ने पर व्यक्तित्व संबंधी विविध विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। व्यक्तित्व संबंधी समस्याएँ मूलतः रजस प्रकृति से जुड़ी होती हैं। तम से होने वाले विकारों में भी रज का संबंध अवश्य रहता है क्योंकि बिना रज से तम प्रवर्तित नहीं होता है। अतः सभी मानसिक रोगों में रज की प्रधानता होती है।

आयुर्वेद व्यक्तित्व विखण्डन के मूल में प्रज्ञापराध को कारण मानता है। चरक के अनुसार, बुद्धि के विषम अर्थात अनुचित अन्यथा ज्ञान करना तथा विषम या अनुचित प्रवृत्ति (वाणी, शरीर और मन की चेष्टा) करना प्रज्ञापराध कहलाता है। प्रज्ञा अर्थात परिष्कृत बुद्धि। इसके तीन भाग हैं– धी (Intellect), धृति (Will) और स्मृति (Memory)। इन तीन शक्तियों से संपन्न प्रज्ञा ही मानवीय व्यक्तित्व को संगठित करने वाली अमोघ शक्ति है। अवांछनीय चिन्तन एवं कर्म द्वारा इसकी जड़ों पर कुठाराघात होता है और इसकी बुद्धि, इच्छा एवं स्मृति शक्ति का ह्रास होने लगता है। इसी अनुपात में व्यक्तित्व का विघटन शुरू होता है और वात, पित्त एवं कफ तथा सत, रज एवं तम दोषों का मनोजैविक संतुलन लड़खड़ाने लगता है और व्यक्तित्व संबंधी विविध विकार एवं समस्याएँ अपना रूप एवं आकार लेने लगती हैं। इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से घिर जाता है। उपरोक्त वर्णन भारतीय चिन्तन एवं दृष्टि से किया गया।

पाश्चात्य चिन्तन में व्यक्तित्व विकृतियाँ– पश्चिमी मनोविज्ञान में व्यक्तित्व विकृति दोषपूर्ण विकास के कारण उत्पन्न दोष है। यहाँ व्यक्तित्व की विकृतियाँ मूल रूप से शीलगुणों की विकृतियाँ हैं। कारसन एवं बुचर के शब्दों में– ''ये व्यक्तिगत शीलगुणों का एक उग्र या अतिरंजित प्रारूप है जो व्यक्ति को उत्पाती व्यवहार, विशेषकर अंतर्वैयक्तिक प्रकृति के उत्पाती व्यवहार करने के लिए एक झुकाव पैदा करता है।'' डी.एस.एम.–4 (1994) के अनुसार– ''व्यक्तित्व विकृति व्यवहार तथा आंतरिक अनुभवों का एक ऐसा स्थायी पैटर्न होता है जो व्यक्ति की संस्कृति की प्रत्याशा में गंभीर रूप से विचलित होता है, साथ ही यह कष्टदायक तथा हानिकारक होता है।''

व्यक्तित्व संबंधी विविध विकृतियों का वर्गीकरण डी.एस.एम.–4 (Diagnositc and Stastistical Manual of Mental Disorder, DSM-IV, 1999) द्वारा किया गया है जो कि

मानसिक रोग के वर्गीकरण की नवीनतम सर्वमान्य अमेरिकन पद्धति है। इसके अनुसार, इनके 10 प्रकार हैं– संभ्राताभ (Paranoid), मनोविदालित (Schizoid), शिजोटाइपल (Schizotypal), हिस्ट्रीऑनिक (Histrionic), आत्ममोही (Narcissistic), समाजविरोधी (Antisocial), सीमान्तरेखीय (Borderline), परिवर्जित (Avoidant), अवलम्बित (Dependent) और मनोग्रस्तबाध्य (Obsessive-compulsive)। ये दस प्रकार के मनोरोग व्यक्तित्व संबंधी पाश्चात्य चिंतन में किया गया है।

4. मनोकायिक रोग (आधि–व्याधि)– शोक अतिसार और काम ज्वर इसके अंतर्गत आते हैं। ये शोक एवं काम के अतिरेक के कारण पैदा होते हैं।

इस तरह आयुर्वेदीय विज्ञान में मनोरोगों के विविध रूपों एवं लक्षण पर समुचित प्रकाश डाला गया मिलता है जिसका यहाँ पर संक्षेप में वर्णन किया गया है।

6.4.4 मानसिक रोगों से हानियाँ और उनसे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति – अमेरिका के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बर्थ सेलोन (Berth Selwon) ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि सर्वांगपूर्ण स्वास्थ्य ही मानव जीवन की साधारण और स्वाभाविक दशा है। उनका कहना है कि मृत्यु के सब विचार, रोग के सब चित्र, दमन की सभी बातें सदा के लिए दिल से निकाल देनी चाहिए क्योंकि ये धारणाएँ हमारी उत्पादक शक्ति को नष्ट करके हमें बीमार कर देते हैं।

मानसिक रोग या मनोविकार शारीरिक स्नायु मार्ग को अवरूद्ध करके तंतुओं को नष्ट करके जीवनीशक्ति की क्रिया में बाधक होकर तथा मल विसर्जन में रूकावटें खड़ी करके शारीरिक रोग को भीषण बना देते हैं। क्रोध, अधैर्य एवं चिड़चिड़ेपन से ज्वर बढ़ते अक्सर आप देख सकते हैं।

जिस प्रकार शुभ मनोभावों से रोग को अच्छा होने में मदद मिलती है, उसी प्रकार अशुभ मनोभावों एवं चिंतन से अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग भी उत्पन्न होते हैं।

फ्रायड तथा जुंग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि रक्ताल्पता, हृदय रोग, हिस्टीरिया, स्नायुदौर्बल्य, वीर्य दोष यहाँ तक कि लकवा और क्षय जैसे नरसंहारक रोगों के मूल में मनोविकारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः यह मिथ्या नहीं है कि मनुष्य के 90 प्रतिशत रोग केवल मनःस्थिति से प्रारंभ होते हैं। हमारे चिंतन, सोच का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। शरीर की रोग, व्याधि हमारी मनःस्थिति की ही देन है।

भय एक मानसिक रोग है जिसका आघात कभी–कभी भयंकर होता है। इसके प्रभाव से शरीर विष से भर जाता है और हृदय गति अति तीव्र हो जाती है। आँख की रोशनी कम हो जाती है, भूख खत्म हो जाती है, शरीर पीला पड़ने लगता है। दस्त या अन्य शारीरिक व्याधियाँ आ दबोचती हैं और रोगी थर–थर कांपते हुए निर्जीव सा हो जाता है और कभी–कभी तो रोगी का प्राणान्त भी हो जाता है। भय के अनेक रूप होते हैं पर सभी जीवन की जड़ें हिला देने में समर्थ हैं। कभी–कभी भूत–प्रेत के भय से, रस्सी को सांप समझ लेने आदि के भय से लोग मरते या वर्षों बीमार होते देखे जाते हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भय के 27 रूप बताये हैं।

क्रोध इसी प्रकार से दूसरा भयानक मानसिक रोग है। इसके भी विविध रूप होते हैं। इस रोग से भी रोगी के शरीर में तीव्र विष की उत्पत्ति होती है जो खून को जला डालता है। क्रोधावस्था में अंतःस्रावी ग्रंथि से एड्रिनेलिन नामक एक रासायनिक द्रव्य खून में मिल जाता है जिससे पाचन क्रिया मंद पड़ जाती है। वैज्ञानिकों ने क्रोधित मनःस्थिति का अध्ययन

करने पर प्राप्त निष्कर्ष को व्यक्त करते हुए कहा कि पंद्रह मिनट के क्रोध से शरीर की जितनी शक्ति नष्ट हो जाती है, उससे व्यक्ति नौ घंटे तक कड़ी मेहनत करने में समर्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त क्रोध शरीर–सौष्ठव को भी नष्ट करता है। भरी जवानी में बुढ़ापे का लक्षण, आँखों के नीचे चमड़ी का काला होना, आंखों में लाल रेखाओं का उद्भव तथा शरीर में जहाँ–तहाँ नीली नसों का उभरना क्रोध के ही दुष्परिणाम हैं।

न्यूयार्क के वैज्ञानिकों ने चूहों के ऊपर एक प्रयोग किया जिसमें क्रोधी मनुष्य के रक्त को चूहे के शरीर में डाला गया और होने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 22 मिनट के उपरांत ही चूहे में क्रोध का भाव देखा गया, वह काटने को दौड़ा। लगभग 35 मिनट बाद उसने स्वयं को ही काटना शुरू किया और अंततः एक घंटे बाद मर गया।

क्रोधी स्वाभाव की माताओं का दूध भी विषाक्त पाया गया है, उससे बच्चे के पेट में मरोड़ की शिकायत उत्पन्न होती है तथा कभी–कभी तो अधिक विषाक्तता के कारण बच्चे की मृत्यु तक हो जाती है। आमतौर से आत्महत्या की घटनाएँ भी क्रोध से ही अभिप्रेरित होती हैं।एक दार्शनिक का मत है– ''क्रोध शराब की तरह मनुष्य को विचारशून्य और लकवे की तरह शक्तिहीन कर देता है। दुर्भाग्य की तरह यह जिसके पीछे पड़ता है, उसका सर्वनाश ही करके छोड़ता है।'' अतः क्रोध को एक भयानक शत्रु मानते हुए क्रोध पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, इसमें ही व्यक्ति की भलाई है।

ईर्ष्या, द्वेष तीसरा मानसिक रोग है जिसके संबंध में मनोविश्लेषकों ने ही नहीं अपितु आधुनिक औषधि विज्ञान ने भी कई अनुसंधानों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह स्वास्थ्य के लिए उतना ही घातक है जितना तपेदिक या हृदय रोग। ईर्ष्या–द्वेष से केवल मानसिक संतुलन में ही विकृति नहीं आती वरन लकवा, अंधापन और कैंसर तक के प्रमाण मिले हैं। ईर्ष्या से भी हमारे रक्त में विष का संचार हो जाता है। अमेरिका के प्रसिद्ध मानसोपचारक जोजेफ काइल के अनुसार, लगभग 56 प्रतिशत वात रोग ईर्ष्या के ही परिणाम होते हें।

ईर्ष्या से मानसिक तंतुओं एवं स्नायु प्रणाली में सिकुड़न होने लगती है। शरीर के जोड़–जोड़ जकड़ जाते हैं तथा रक्त की गति में बाधा उपस्थित हो जाती है, परिणामतः शरीर के विभिन्न अवयव सुन्न पड़ने लगते हैं।

डॉ. गिलर्ड ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पाचन संबंधी अनेक विकार ईर्ष्या से ही उत्पन्न होते हैं। पराकाष्ठा पर पहुंची ईर्ष्या, पागलपन को भी जन्म दे सकती है।

तनाव (Stress) चौथा एक ऐसा मानसिक रोग है जिससे आज तीन–चौथाई आबादी ग्रसित है। अत्यधिक सोच–विचार और चिन्ता करने से उत्पन्न होने वाला मानसिक तनाव यदि लंबे समय तक बना रहे तो व्यक्ति का परिस्थितियों के साथ समायोजन बुरी तरह प्रभावित होता है और कई बार तो व्यक्ति का संबंध ही वास्तविक दुनिया से भी टूट जाता है। आधुनिक जीवन की यांत्रिक सभ्यता के कारण उत्पन्न होने वाले मानसिक तनाव के परिणामस्वरूप ऐसे कई मामले प्रकाश में आ रहे हैं जो कि मानसिक तनाव को सह नहीं पाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। कई बार तनाव के लगातार बने रहने से व्यक्ति अवसाद में चला जाता है। तनाव के अधिक समय तक बने रहने से कब्ज रहने लगता है, खाना हजम नहीं होता है, आंखों की रोशनी कमजोर पड़ने लगती हैं। नशा करने की इच्छा होती है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, तनाव एक बहुआयामीय प्रक्रिया है जो व्यक्ति में वैसी घटनाओं के प्रति अनुक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है जो हमारे दैहिक एवं मानसिक कार्यों को विघटित करता है या विघटित करने की धमकी देता है।

उच्च आघातीय तनाव विकृति (Post Traumatic Stress Disorder or PTSD) को DSM-IV में दुश्चिंता विकृति (Anxiety Disorder) का प्रमुख प्रकार बतलाया गया है। इसका मुख्य कारण तनाव से उत्पन्न मानसिक आघात (Trauma) है जिसमें अन्य लक्षणों के अतिरिक्त विषाद (Depression), एकाग्रता में कमी, स्मृतिलोप, दर्द संवेदनाओं के प्रति सुन्नता (Numbing), चिड़चिड़ापन, आक्रामकता आदि प्रधान हैं। इसके तीन प्रमुख कारण हैं– जैविक कारक, मनोवैज्ञानिक कारक तथा सामाजिक कारक।

चिन्ता (Anxiety) या दुश्चिन्ता मनस्ताप पाँचवा मानसिक रोग है। यह आज सबसे अधिक प्रचलित मनस्ताप (Neurosis) है। इससे आक्रान्त व्यक्ति प्रायः एक अस्पष्ट किन्तु तीव्र दुश्चिन्ता से ग्रस्त रहता है। कोलमैन के शब्दों में, ''इस रोग की प्रमुख विशेषता है व्यक्ति में व्यापक एवं दिशाहीन चिंता का होना, जो न तो किसी विशिष्ट पदार्थ अथवा स्थिति से उत्पन्न हुई प्रतीत होती है और न ही इससे किसी विशेष दिशा या लक्ष्य का ज्ञान होता है।'' कैमरान संवेगात्मक तनाव तथा भावी चिन्ता को इसका प्रमुख लक्षण मानता है। इसमें रोगी अत्यधिक सशंकित रहता है और उसे यह तक पता नहीं होता कि उसे क्या खतरा है तथा उस खतरे का स्रोत क्या है। रास के अनुसार, इसकी उत्पत्ति प्रतिबलों एवं मानसिक दबावों को दूर करने में असफल प्रयासों के फलस्वरूप कुसमायोजन से होती है। चिन्ता की चिता में बैठा मनुष्य अपनी यातनापूर्ण मृत्यु की प्रतिक्षा करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। कहा भी गया है कि चिता मुर्दे शरीर को जलाती है लेकिन चिन्ता जीवित मनुष्य को ही जलाती रहती है। यह स्वास्थ्य और सौंदर्य की सबसे बड़ी दुश्मन है। भय चिन्ता की जननी है। चिन्ता मनुष्य को भीतर ही भीतर कीड़े की भांति खाता रहता है और उसे खोखला बना देता है। उसका मन निरंतर कोई भी कार्य ठीक ढंग से नहीं कर सकता।

डॉ. जार्ज पेगेट के अनुसार, फोड़े–फुंसियाँ रक्त विकार आदि चिन्ता और तनाव के कारण ही अधिक होती हैं और रक्तविकार भी प्रायः मानसिक कारणों से ही उत्पन्न होता है। चिन्ता से क्रोध की ही भांति रक्त में रासायनिक परिवर्तन होता है जिससे रक्त अशुद्ध होकर सूखने लगता है जिसके परिणामस्वरूप शरीर सूखकर कांटा हो जाता है, त्वचा बदरंग हो जाती है, होंठ फीके पड़ जाते हैं। ऐसे रोगियों का पाचन बिगड़कर यक्ष्मा शीघ्र पकड़ता है। चिन्तित मनुष्य को नींद नहीं आती और जीवन भारस्वरूप लगने लगता है। प्रसिद्ध विद्वान आर्नल्ड वन्नट के कथनानुसार, यह निश्चित है कि हमारी 80 प्रतिशत चिंताएँ बिल्कुल निरर्थक होती हैं और हानिकारक तो होती ही हैं। चिन्ता वह कीड़ा है जो सुख रूपी पेड़ की जड़ को खोखला बना डालता है। यदि इस बिल्कुल निःसार मूर्खतापूर्ण एवं घातक चिन्ता से सर्वथा दूर रहना संभव हो जाये तो स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आये।

असामान्य मनोविज्ञान में चिन्ता एवं उससे उत्पन्न मानसिक विकृतियों पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है। चिन्ता से तात्पर्य डर (Fear) एवं आशंका (Apprehension) के दुःखद भाव (Unpleasant feeling) से होता है। DSM-IV में चिन्ता विकृति से तात्पर्य वैसे विकृति से होता है जिसमें रोगी में अवास्तविक चिन्ता एवं अतार्किक डर (Irrational Fear) की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उससे उसका सामान्य जिन्दगी का व्यवहार अपअनुकूलित

(Maladapted) हो जाता है तथा इसमें व्यक्ति अपने चिंता की अभिव्यक्ति बिल्कुल ही स्पष्ट ढंग से करता है। DSM-IV में चिंता विकृति के छह प्रमुख प्रकार बतलाये गए हैं, वे हैं– (1) दुर्भीति (Phobia), (2) भीषिका विकृति (Panic Disorder), (3) सामान्यीकृत चिंता विकृति (Generalized Anxiety Disorder-GAD), (4) मनोग्रस्तता बाध्यता विकृति (Obsessive Compulsive Disorder-OCD), (5) उत्तर आघातीय तनाव विकृति (Post Traumatic Stress Disorder-PTSD) और (6) तीव्र तनाव विकृति (Acute Stress Disorder-ASD)।

अवसाद (Depression) छठा मानसिक रोग है। इससे पीड़ित व्यक्ति मानसिक खिन्नता, उदासीनता, निराशावादिता व उत्साहहीनता से ग्रस्त रहता है। कैमरान के अनुसार, ऐसा व्यक्ति तनाव व दुश्चिन्ता की खिन्नता, स्व अवमूल्यन व कायिक विकारों तथा बारंबार निराशा, हीनता तथा अयोग्यता के लक्षणों में अभिव्यक्त करते देखा जाता है तथा इसमें उसकी अपराध भावना की भूमिका प्रमुख रहती है। रोगी किसी एक दुःखद घटना के प्रति अतिरंजित रूप से उदासीन व खिन्नता की सामान्य से कहीं अधिक मात्रा में प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करते देखा जाता है तथा इस संबंध में पर्याप्त समय बीत जाने पर भी अधिकांशतः अपनी सामान्य स्थिति में आने में विफल ही रहता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार, निराशा, भय, उदासी, कायरता, अवसाद के वर्ग में आते हैं। उदासी स्वाभाविक नहीं, हमेशा अप्राकृतिक ही होती है और धीरे–धीरे ऐसे व्यक्ति व्याधि के स्तर पर पहुँच कर मनोरोग ग्रस्त हो जाते हैं। यदि सामान्य सी बात पर भी कोई व्यक्ति घोर निराशा में डूब जाय, कारण हट जाने पर भी उदास बना रहे, तो उसे अवसादग्रस्त कहा जा सकता है। डॉ. बैक के अनुसार, ''चिन्तन की विकृति के कारण ही मानसिक अवसाद उत्पन्न होता है। मनोवृत्तियाँ विचार जगत को प्रभावित करती हैं। उस पर संव्याप्त निषेधात्मक चिन्तन मनुष्य के पतन, पराभव का कारण बनता है। विचार परिवर्तन के द्वारा ही उस पर विजय पायी जाती है।''

डब्ल्यू.एच.ओ. (WHO) की एक रिपोर्ट के अनुसार, संसार में 120 मिलियन लोग मेजर डिप्रेशन के शिकार हैं। इसमें स्त्री व पुरूष दोनों शामिल है, लेकिन 15 से 44 साल के लोग इस समस्या से ज्यादा जूझ रहे हैं और ऐसी संभावना है कि सन 2020 तक डिप्रेशन संसार की दूसरी सबसे बड़ी बीमारी होगी। आज भी दिल की बीमारियों के बाद अगर इन्सान को सबसे ज्यादा बीमारी परेशान कर रही है तो वह डिप्रेशन (अवसाद) ही है।

अवसाद जब मनोरोग बन जाता है तो व्यक्ति को आत्महत्या के लिए विवश कर देता है। आत्महीनता की ग्रन्थि सतत अंदर पलती रहे तो इसकी परिणति भी अंततः अवसाद में ही होती है।

रोर्समैन (1992) के अनुसार, महिलाओं में 20 से 29 वर्ष तथा पुरूषों में 40 से 49 वर्ष की आयु में विषाद का प्रभाव सर्वाधिक देखा गया है। हेन्डरसन (1992) के अध्ययन के अनुसार, जिन व्यक्तियों को सामाजिक समर्थन कम प्राप्त होता है, उनमें विषाद उत्पन्न होने का जोखिम अधिक होता है। ऐसे लोग थोड़ा सा तनावग्रस्त परिस्थिति उत्पन्न होने पर विषादी व्यवहार करना प्रारंभ कर देते हैं। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी मानस रोग की चर्चा करते हुए लिखते हैं–

काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।– रा.च.मा. 7/121/30–31

गोस्वामी जी ने काम को वातरोग, लोभ को कफजनित रोग तथा क्रोध को पित्तजनित रोग कहा है। जो काम, क्रोध, लोभ तीनों से ग्रसित है उन्हें सन्निपात रोग हो जाता है। आगे वे कहते हैं कि सभी रोगों का मूल मोह है, जिससे अनेक प्रकार के कष्ट एवं दर्द उत्पन्न होते हैं।

डॉ. जेम्स ने अपनी पुस्तक ''हाऊ टू गेट फिजिकल एण्ड मेण्टल हेल्थ'' में लिखा है कि अधिकांश बल्कि लगभग सभी रोगों की जड़ शरीर में नहीं अपितु मन में होती है। संताप, कष्ट, आकस्मिक विपत्ति, अप्रत्याशित दुर्घटनाओं के कारण तो असमय में ही दम तोड़ देते हैं परन्तु कई मनोविकार धीरे–धीरे अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं तथा मनुष्य को रूग्ण बनाते हैं। दीर्घकाल के संताप से रक्त संचार मंद पड़ जाता है, चेहरा पीला, त्वचा शुष्क और आँखें गंदली हो जाती है।''

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए डॉ. आल्स्टन ने कहा है कि यह शरीर का साधारण नियम है कि आमोद–प्रमोद, आशा, प्रेम और स्वास्थ्य एवं सुख की कामना शरीर को सुदृढ़ तथा उसे भरपूर स्वास्थ्य प्रदान करती है। वहीं यह भी एक तथ्य है कि भय, उदासीनता, ईर्ष्या, घृणा, निराशा, अविश्वास और अन्य मनोविकार शरीर के क्रिया व्यापार को भी रूग्ण बनाते हैं।

एल्मा ममेरियन का कथन है कि ''मनःक्षेत्र में जमा हुआ कोई विचार जब बहुत अधिक क्षुब्धता उत्पन्न करता है, तब उसकी प्रतिक्रिया कम या ज्यादा रूप में शरीर पर भी प्रकट होती है। कई बार तो यह प्रभाव इतना अधिक होता है कि मृत्यु तक हो जाती है।

6.4.5 मानसिक रोग दूर करने के उपाय – मानसिक रोग बड़े हठीले और दुःसाध्य होते हैं पर असाध्य नहीं। हाँ, यदि आत्मबल कम हुआ, जीवनीशक्ति मर सी गयी है और शरीर में विजातीय द्रव्य का स्थान ऐसा हो कि प्राकृतिक उपचारों द्वारा उसका निकाला जाना संभव न हो तो ऐसे रोगों को असाध्य समझा जाता है। मानसिक रोगों को मिटाने में मानसोपचार से बड़ी सहायता मिलती है। मानसिक रोगों को रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय से मदद मिल सकती है–

1. **प्रेम भाव–** सबके प्रति मन में प्रेम हो, द्वेष, ईर्ष्या किसी से न हो, सभी को अपना मानकर, आत्मवत सर्वभूतेषु की भावना रखने से मन में बहुत शान्ति मिलती है।
2. **उपकार भावना–** हमें दूसरों पर उपकार करते जाना चाहिए परंतु यदि उन उपकारों का बदला हमें न मिले तो दुःखी कदापि नहीं होना चाहिए।
3. **सम्मान का भाव–** सदा दूसरे के हकों का सम्मान करना चाहिए क्योंकि हम किसी से अपने हक का सम्मान तभी करा सकते हैं जब उसके हक का सम्मान हम स्वयं करें।
4. **अनासक्ति की भावना–** हमें सांसारिक पदार्थों एवं व्यक्तियों से अधिक लगाव, मोह या अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से यदि उसकी प्राप्ति न हो तो हमें बहुत दुःख एवं कष्ट होता है और हम मानसिक रोगी बन सकते हैं। अतः सदैव अनासक्त भाव से रहना चाहिए।
5. **ईश्वरविश्वास–** संसार के सभी कार्यों को भगवद् इच्छा समझते हुए अपने को निमित्त मात्र समझो। भगवान में आत्मसमर्पण की भावना को अपना रक्षा कवच समझो।

6. **आत्मशक्ति पर विश्वास–** अपने ऊपर विश्वास करें कि आपमें हर कार्य करने की शक्ति भरी है। अपने में आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और आत्मबल सदा भरते और अनुभव करते रहो। इससे मनोबल बढ़ेगा व मानसिक रोग दूर होगा।
7. **आत्मसंतोष–** इस बात का स्मरण सदैव रखना चाहिए कि जो मानसिक दिक्कतें, अड़चनें तथा बाधायें उपस्थित होती हैं, वे सबके साथ हो सकती हैं, हमारे लिए ही नहीं होती। ऐसे विचार से आत्मसन्तोष की उपलब्धि होती है।
8. **मनोरंजन–** समय–समय पर मनोरंजन करते रहना चाहिए। मनोरंजन से मन स्वस्थ व हल्का–फुल्का हो जाता है, मानसिक रोगों को दूर करने में दैनिक जीवन में मनोरंजन का विशेष भूमिका होती है। इससे मानसिक तनाव दूर होता है। व्यस्त जीवन में काम के बोझ या लगातार एक ही काम करने से मन बोझिल, सुस्त व बोर होने लगता है। अतः बीच–बीच में स्वस्थ मनोरंजन, जैसे– संगीत, कोई आकर्षक खेल, सर्कस, स्वस्थ या हंसाने वाले सीरियल आदि देखने से मन हल्का होता है व मानसिक तनाव एवं मानसिक विकारों को दूर करने में मदद मिलती है।
9. **प्रसन्नता–** प्रसन्नता का विशेष प्रभाव मानसिक रोगों पर पड़ता है। यदि मानसिक रोगी सदैव प्रसन्न रहें, खिन्नता व उदास रहना छोड़ दें तो उसका मानसिक रोग धीरे–धीरे ठीक होने लगता है क्योंकि प्रसन्न होने पर जो स्राव ग्रन्थियों से निकलता है उसमें एक ऐसी अलौकिक विद्युत् शक्ति का संचार हो जाता है जिससे शरीर की सब क्रियाएँ इस व्यवस्थित रूप से होने लगती हैं कि शरीर के कोषों का लचीलापन जो उनके उत्तम स्वास्थ्य की निशानी है, पुनः स्थापित हो जाता है। प्रसन्नता स्वास्थ्य है, इसके विपरीत उदासी रोग है। प्रसन्नता आत्मा को बल देती है। गीता के अनुसार– चित्त प्रसन्न रहने से सब दुःख दूर हो जाते हैं। जिसे प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है। ऋग्वेद कहता है कि हमें सदा ही अपने को प्रसन्न रखना चाहिए।
10. **सकारात्मक चिन्तन–** मन में सदैव सकारात्मक चिंतन रखें, जैसे– आशा, उत्साह, सुखद भविष्य, शुभ, सुन्दर, प्रेम, करूणा, उदारता, सेवा, सहायता आदि का भाव रखें। शुभ ही सोचें, शुभ ही बोलें, जो होगा अच्छा होगा, हम स्वस्थ, निरोग, सुखी होंगे, हमारा भविष्य उज्जवल होगा, हम सफल होंगे आदि भाव रखने से मानसिक रोग दूर होते हैं और व्यक्ति शारीरिक, मानसिक रूप से स्वस्थ हो जाता है।
11. **मैत्री, करूणा, मुदिता एवं उपेक्षा का भाव–** महर्षि पतंजलि में चित्त प्रसादन अर्थात चित्त या मन की निर्मलता एवं शान्ति हेतु चार प्रकार की भावना– मैत्री, करूणा, मुदिता एवं उपेक्षा का भाव चार प्रकार के व्यक्तियों सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के प्रति रखने का निर्देश योग दर्शन 1/33 में दिया है। अर्थात सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव रखें, इससे उन्हें सुखी देखकर प्रसन्नता होगी, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करूणा या दया का भाव रखें इससे मन में घृणा उत्पन्न न होगी। पुण्यात्मा के प्रति मुदिता अर्थात प्रसन्नता का भाव रखें, इससे ईर्ष्या आदि दूर होते हैं तथा पापियों के प्रति उपेक्षा अर्थात उदासीनता रखने से मन में घृणा, द्वेष, क्रोध आदि दुर्भाव नहीं होते हैं। अतः मन की शान्ति हेतु एवं मनोरोग को दूर करने के लिए उपर्युक्त भावनाओं का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

12. **यम–नियम का पालन–** यम अर्थात अहिंसा अर्थात किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना, सत्य अर्थात जैसा देखा, सुना गया वैसा ही प्रकट करना या बोलना, अस्तेय अर्थात बिना पूछे किसी की वस्तु नहीं लेना या चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य अर्थात ब्रह्म में रमण करना तथा मन में काम वासना को न उठने देना तथा अपरिग्रह अर्थात आवश्यकता से अधिक धन या पदार्थ संग्रह न करना, ये पांचों यम के अंतर्गत आते हैं। इनके पालन से मन स्वस्थ, शान्त, प्रसन्न व पवित्र होता है तथा मानसिक रोग दूर होते हैं। इसी प्रकार नियम में शौच अर्थात पवित्रता, शुद्धता से रहना, शरीर व मन को शुद्ध पवित्र रखना, संतोष अर्थात जो मिला है उसी में प्रसन्न रहना, तप अर्थात श्रेष्ठ कार्य या ऊँचे उद्देश्यों के लिए कष्ट सहन करना, स्वाध्याय अर्थात सत्साहित्य, आर्ष ग्रन्थ, महापुरूषों के ग्रन्थों व जीवनी को पढ़ना, ईश्वरप्रणिधान अर्थात अपने सारे कर्मों व स्वयं को ईश्वर में समर्पण करना, ये पांचों नियम के अंतर्गत आते हैं। नियम के पालन से मानसिक स्वास्थ्य बना रहता है व मानसिक रोग दूर होता है।
13. **आसन–** आसन का अभ्यास करने से शारीरिक व मानसिक रूप से व्यक्ति स्वस्थ होता है। आसन से दृढ़ता आती है व बहुत से मर्म स्थान व चक्र भी प्रभावित होकर सुचारू रूप से अपना कार्य करते हैं जिससे कई प्रकार के शारीरिक, मानसिक रोग दूर होने में सहायता मिलती है। शवासन, मकरासन, बालासन व शिथिलीकरण आदि शारीरिक, मानसिक थकान को दूर करने व मानसिक रोगों को दूर करने में विशेष सहायक होते हैं।
14. **प्राणायाम–** प्राणायाम से मन की शुद्धि होती है। इससे मानसिक शक्ति बढ़ती है तथा ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति सबल बनती है। विधिपूर्वक खींचा गया श्वांस शरीर स्थित प्राण के भण्डार में वृद्धि करता है तथा मस्तिष्क के शक्तिकेन्द्रों को जागृत कर सामान्य को असामान्य बनाने तथा रोगी मनःस्थिति वाले के विकारों का शमन करने में सहायक सिद्ध होता है। नाड़ीशोधन, सूर्यवेधन व भ्रामरी प्राणायाम मानसिक रोगों को दूर करने में विशेष रूप से लाभकारी है। पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने भी प्राणाकर्षण प्राणायाम, नाड़ीशोधन प्राणायाम, सूर्यवेधन प्राणायाम व सोऽहम प्राणायाम की विशेष विधि भावना सहित करने से मानसिक रोगों को दूर करने हेतु बताया है व शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य हेतु उपयोगी बताया है।
15. **धारणा व ध्यान–** मनुष्य अपने मन में जिस बात को बैठा लेता है या जिस विषय को स्वीकार कर लेता है, वह विषय उसे अच्छा लगने लगता है और वह सदैव या बार–बार उस विषय का चिंतन करता है, यही धारणा है। और इसकी निरंतरता या एकतानता ही ध्यान है। यदि शुभ विचारों या स्वास्थ्य या ईश्वर का निरंतर ध्यान व चिंतन किया जाए तो उसका चमत्कारिक प्रभाव देखने में मिलता है। ध्यान के अनुरूप ही फल मिलता है। व्यक्ति धीरे–धीरे स्वस्थ होने लगता है, उसके सभी शारीरिक व मानसिक रोग दूर होने लगते हैं। मनोबल व आत्मविश्वास बढ़ाने में ध्यान एक कारगर उपाय है।
16. **आराम, विश्राम व नींद–** शारीरिक, मानसिक थकान को दूर करने में इन तीनों की बहुत आवश्यकता है। इससे शरीर व मन में शक्ति का संचार होता है, थकान दूर होता है।

मस्तिष्क को नींद से नई ऊर्जा मिलती है तथा शरीर व मन पुनः कार्य करने लगता है। इन तीनों के उचित उपयोग से मानसिक रोग दूर करने में मदद मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सकारात्मक चिंतन या दृष्टिकोण, आशा, उत्साह, धैर्य, यम–नियम के पालन, आसन–प्राणायाम, धारणा–ध्यान, स्वाध्याय, समुचित विश्राम व निद्रा, मनोरंजन, प्रसन्नता, सात्विक आहार–विहार रखने व मैत्री, करूणा, मुदिता व उपेक्षा आदि चित्त प्रसादन के उपाय करने व सदैव व्यस्त रहकर मस्त रहने की आदत डालने व सदाचार रखने से व्यक्ति शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रहकर मानसिक रोगों से बच सकता है।

6.5 आध्यात्मिक रोग की अवधारणा–

मानव जीवन के दो पहलू हैं– एक आत्मा और दूसरा शरीर। एक आन्तरिक, दूसरा बाह्य। दोनों में ही एक से एक बढ़कर विभूतियाँ एवं समृद्धियाँ भरी पड़ी हैं। आत्मिक क्षेत्र में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों ही क्रमशः एक से एक बढ़कर शक्ति संस्थान हैं। इसके अतिरिक्त पंचकोश व छह चक्र अपने गर्भ में अगणित ऋद्धि–सिद्धियाँ छिपाये बैठे हैं। जब हमारा आन्तरिक क्षेत्र या आत्मिक क्षेत्र दूषित होता है अर्थात जब मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार दूषित होता है तब उसे आध्यात्मिक रोग कहा जाता है।

जब व्यक्ति दुर्बुद्धिग्रस्त हो जाता है और गलत व पाप कर्म करने की उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, मन में तरह–तरह की दुर्भावनाएँ, कुकल्पनाएँ व सांसारिकता छाने लगती है, भौतिक कामनाओं के पीछे मन भागने लगता है, सात्विक कर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, चित्त में अनेक प्रकार की विषय वासनाओं के संस्कार छा जाते हैं और व्यक्ति उन विषय वासनाओं को भोगने हेतु दिन–रात प्रयत्न करने को आतुर रहता है और जब व्यक्ति अहंकारी होकर अपने को ही सब कुछ श्रेष्ठ व बड़ा मानकर दूसरों को नीच व छोटा मानने लगे, दूसरों का अपमान करने लगे, तब उसे आध्यात्मिक रोगी कहा जाता है। अर्थात जिसकी आत्मा का पतन होने लगे, जो दोष, दुर्गुणों, नीच कर्मों में प्रवृत्त होने लगे, अपने आत्मकल्याण की ओर या अपने आत्मोत्थान की ओर ध्यान न दे तब वह आध्यात्मिक रोग से ग्रसित माना जाता है।

महात्मा गांधी ने एक जगह पर लिखा है– मनुष्य केवल शरीर तो नहीं है, शरीर तो उसके रहने की जगह है। शरीर, मन और आत्मा का एक ऐसा घनिष्ठ संबंध है कि इनमें से किसी एक के बिगड़ने पर बाकी के बिगड़ने में जरा भी देर नहीं लगती। शरीर की उपमा गुलाब के फूल के साथ दी गयी है। गुलाब के फूल का ऊपरी भाग शरीर है और सुगन्ध उसकी आत्मा। कागज के गुलाब को कोई पसंद नहीं करता। जैसे, गुलाब क समान दिखाई पड़ने वाले गंधहीन कागज के फूलों को लोग फेंक देते हैं, वैसे ही ऐसे शरीर पर किसी का प्रेम नहीं हो सकता जो ऊपर से देखने में अच्छा लगता है पर उसके अंदर रहने वाली आत्मा के व्यवहार ठीक नहीं होते। बुरे चरित्र के लोग निरोग नहीं गिने जाते। शरीर और आत्मा का ऐसा गहरा संबंध है कि जिसका शरीर निरोग होगा, आत्मा अवश्य ही बलवती होती है।

जगत्नियंता भगवान में अविश्वास सबसे बड़ा आध्यात्मिक रोग है। असत्य, अज्ञान तथा आत्मनिग्रह का अभाव दूसरे नम्बर के रोग हैं और दुश्चरित्रता तीसरे नम्बर का। महात्मा गांधी ने राम नाम को सभी रोगों की सामान्यतः और आध्यात्मिक रोगों की मुख्य रामबाण

औषधि बतायी है जिसका प्रयोग वे अपने जीवन में सदा करते रहे और दूसरों को भी उसके लाभ देते रहे।

6.5.1 आध्यात्मिक रोग क्या है ?–आध्यात्मिक रोग का शाब्दिक अर्थ है– 'आत्मा से संबंधित रोग'। व्याकरण की दृष्टि से देखें तो आत्मानि इति विग्रह के द्वारा अव्ययीभाव समास करके 'अध्यात्मम्' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ हुआ– आत्मा में स्थित। जो व्यक्ति आत्मा में स्थित नहीं अर्थात संसार, शरीर, भौतिक कामनाओं, इच्छाओं और वासनाओं से ग्रसित है, उसे आध्यात्मिक रोगी कहा जाता है। दुःखों के तीन प्रकार हैं। प्रथम आध्यात्मिक दुःख, शारीरिक रोगों से होने वाले और काम, क्रोध आदि मनोविकारों से होने वाले दुःख। दूसरा– यक्ष, राक्षस, नवग्रह आदि से मिलने वाली पीड़ा को आधिदैविक दुःख कहते हैं। इसी तरह तीसरा प्राणियों एवं परिस्थितियों से उपजने वाले दुःखों को आधिभौतिक दुःख कहा जाता है। इन्हें ही दैविक, दैविक एवं भौतिक 'त्रिताप' कहा जाता है, जिनसे समूची मानव जाति संतप्त और संत्रस्त है। जो आत्मा में स्थित है और आत्मकल्याण एवं आत्मोपलब्धि के लिए प्रयासरत हैं, वह आध्यात्मिक है। इसके विपरीत जो आत्मा से जितना दूर, आत्मा का विरोधी, मात्र शरीर को ही सब कुछ समझता है, वह आध्यात्मिक रोगी कहलाता है।

आध्यात्मिक रोगी सदैव असंतोष, चिंता, भौतिक महत्वाकांक्षाओं व वासनाओं से लिप्त रहकर पीड़ा, पतन व अशान्ति के मार्ग में भटकता रहता है, उसे शान्ति, संतोष व जीवन में आनन्द की प्राप्ति कभी नहीं होती। उसके चित्त पर जमे हुए कुसंस्कारों के फलस्वरूप वह दुःख पाता है, अज्ञान के वशीभूत होकर वह शरीर को ही सब कुछ समझकर पेट–प्रजनन तक ही सीमित रहता है। इसके आगे समाज, राष्ट्र, देश सेवा, उपासना, साधना, आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, कर्मफल सिद्धान्त आदि से उसका कोई संबंध नहीं रहता और न इसे जानने की कोशिश ही करता है। फलस्वरूप वह भव–बंधनों में फँसकर जन्म–जन्मान्तरों तक चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है और सुरदुर्लभ मानव योनि का महत्व न समझकर रोता–कलपता इस संसार से विदा हो जाता है।

आध्यात्मिक रोगी श्रेय मार्ग अर्थात कल्याण मार्ग को न चुनकर प्रेय मार्ग अर्थात अकल्याणकारी मार्ग को चुनता है। कठोपनिषद् में वर्णन है कि जिस मार्ग से हमारी आत्मा की उन्नति एवं उसे शान्ति की प्राप्ति होती है, जो जीवन के लिए अत्यंत हितकर एवं कल्याणकारी है, शुभ परिणामी है वह मार्ग है– श्रेयस्। तथा इसके विपरीत जिस मार्ग पर चलने से आत्मा का पतन हो तथा अहित हो, जो अकल्याणकारी व अशुभपरिणामी है तथा जिस पर चलकर अन्त में दुःख, हानि व भवबन्धन की प्राप्ति है और अंत में मात्र पछताना पड़े, वह मार्ग है– प्रेयस्। जो मात्र तात्कालिक सुख देखता है, दूरगामी परिणामों को नहीं देखता, कर्मफल, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि के व्यवस्था को नहीं समझता है, मात्र सांसारिक स्वार्थ की पूर्ति में लगा रहता है, ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक रोगी होता है।

6.5.2 आध्यात्मिक रोग के लक्षण–जो केवल शरीर को महत्व देता है तथा मात्र भौतिकता के पीछे भागता है, अपने अंतः में स्थित आत्मा के प्रति जरा भी विचार चिन्तन नहीं करता, आत्मकल्याण व आत्मोत्थान के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करता, आत्मा के गुणों को विकसित नहीं करता, जिसके हृदय में दूसरों के प्रति सेवा, करूणा, उदारता की भावना नहीं है, जो केवल स्वार्थ के हित में लगा रहता है, परमार्थ चिन्तन नहीं करता है, उसकी

आत्मा स्वयं को दुःखी, रोगी, मैली–कुचली, पीड़ित अनुभव करती है, तब कहा जाता है कि उसे आध्यात्मिक रोग हो गया है।

जिसकी आत्मा जितनी मलिन, पतित होगी उसे उतना ही आध्यात्मिक रोग होगा। ऐसे व्यक्ति में तामसिक गुण अधिक होगा, वह गलत व पाप कर्मों में रूचि लेगा। दूसरों को नुकसान व कष्ट देने में उसे खुशी मिलेगी। वह व्यक्ति असुंदर, अशिव, अपकर्मों और अपवित्रताओं में अरूचि न रखकर उसमें विशेषता देखता है। दुष्ट, दुर्जनों व अपराधियों में विशेषता देखकर उनकी ओर झुकेगा। उसे उपासना, साधना, आराधना, योग, भक्ति व शुभकर्म अच्छा नहीं लगता है। ऐसा व्यक्ति खाओ, पीओ और मौज करो की नीति पर विश्वास करता है। वह आत्मा, ईश्वर, परमात्मा, कर्मफल आदि को नहीं मानता। उसे केवल संसार की सांसारिकता, भौतिकता, कामनाएँ ही आती हैं और आजीवन अपनी इन्हीं अतृप्त अवांछित मनोकामनाओं के पीछे जीवन लगा देता है, उसे सबसे बड़ा आध्यात्मिक रोगी माना जाता है।

आध्यात्मिक रोग से ग्रसित व्यक्ति निरंतर अंसतोष व चिंता की अग्नि से संतप्त और संत्रस्त रहता है। उसे ठीक से नींद नहीं आती ह। वह अशान्त, उद्विग्न व हमेशा बेचैन रहता है। उसके जीवन में शान्ति नहीं रहती है क्योंकि शान्ति तो मात्र आत्मा की प्राप्ति में ही है।

आध्यात्मिक रोगी के अंदर न तो आत्मा का प्रकाश फैलता है और न ही आत्मा के गुण विकसित होते हैं। वह नास्तिक, हृदयहीन, संवेदनहीन, तामसिक व राजसिक स्वाभाव वाला होता है।

6.5.3 आध्यात्मिक रोग के कारण–आध्यात्मिक रोग का सबसे बड़ा कारण अपने ऊपर और ईश्वर पर विश्वास नहीं होना है। भौतिकवादी एवं भोगवादी दृष्टिकोण व चिंतन से नाना प्रकार के आध्यात्मिक रोग होते हैं। जब व्यक्ति श्रेय मार्ग (आत्म कल्याण) को छोड़ कर प्रेय मार्ग (शरीर व भौतिकता के पीछे भागना) को अपनाने लगता है जिसकी परिणति दुःख व बंधन है तब व्यक्ति आध्यात्मिक रोगी हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह व बुरी संगति व्यक्ति को कुमार्गगामी बना देता है व व्यक्ति आध्यात्मिक रोगी बन जाता है। आध्यात्मिक रोग के अनेक कारणों में कुछ निम्नलिखित हैं–

- अपने ऊपर विश्वास न होना अर्थात आत्मविश्वास न होना।
- नास्तिक होना अर्थात असीम सत्ता, प्रकृति व परमात्मा पर विश्वाास न होना।
- शरीर, मन व अन्तःकरण को शुद्ध न रखना।
- असंतोष, अधैर्य, उद्विग्नता व चिन्ता से ग्रसित रहना।
- बुरी संगत व दुर्गुणों से संबंध रखना।
- सभी जीवों के प्रति दया न रखना।
- कुकर्मों के प्रति रूचि रखना और ईश्वर के दण्ड से भय नहीं खाना।
- अज्ञानी और अभिमानी होना।
- ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध व लोभ के वशीभूत होना।
- अपनी प्रशंसा स्वयं अपने मुख से करना।
- कर्मफल एवं पुनर्जन्म में विश्वास न रखना।
- अनीति की राह पर चलना।

- आपराधिक प्रवृत्ति में रूचि रखना।
- संवेदनहीन व हृदयहीन होना।
- सदैव निराशा, अवसाद, भय व कुकल्पनाओं में जीना।
- आत्महीनता का शिकार होना।
- समय, धन व इन्द्रियों का दुरूपयोग करना आदि।
- उपासना, साधना व आराधना में रूचि न रखकर उस पर विश्वास न करना।
- यम–नियम के राह पर न चलना।
- दूसरों की व बड़ों की सेवा व सम्मान न करना।
- हर समय दुःखी, परेशान व अशान्त रहना।

6.5.4 आध्यात्मिक रोगों से हानियाँ – आध्यात्मिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति के जीवन में कभी शान्ति नहीं मिलती, वह सदैव काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अहंकार से ग्रस्त होकर अपना, अपने परिवार का व समाज का नुकसान करता है। उसकी आत्मा सदैव दुःखी, परेशान व अशान्त रहती है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति अपराध करके समाज व राष्ट्र को कलंकित करते हैं। आज समाज व राष्ट्र जो विखण्डित हो रहे हैं, पाप, अत्याचार, अनाचार, कुकर्म, घोटाले आदि जो भी घिनौने कार्य हो रहे हैं, उन सबका कारण आध्यात्मिक रोग है। इस रोग से ही मानसिक व शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सुरदुर्लभ मानव योनि आत्मकल्याण व मोक्ष के लिए मिला है, लेकिन इस रोग के कारण आत्मा जन्म–जन्मांतरों तक भटकती रहती है। आध्यात्मिक रोग से होने वाली हानियों को निम्न बिंदुओं में दर्शाया गया है–

- इस रोग से ग्रसित व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार अधिक होता है।
- अपराधिक कार्यों में रूचि रखना।
- अपना, परिवार को व समाज को क्षति पहुँचाना।
- सांसारिकता में अधिक लिप्त रहना।
- अपनी संस्कृति व मर्यादा का उल्लंघन करना।
- चरित्रहीन होना।
- निषेधात्मक चिंतन करना।
- विपरीत परिस्थितियों में घबरा जाना व धैर्य खोना।
- मानवीय कर्मों से च्युत होना तथा मानव जीवन को कलंकित करना।
- आत्मीयता की कमी होने से दूसरों से व अन्य प्राणियों से प्रेम न कर द्वेष करना।
- सदैव अपने स्वार्थ के बारे में सोचना तथा दूसरों की परवाह न करना।
- दया, प्रेम, करूणा, उदारता, समता, सेवा आदि गुणों से हीन होना।
- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश आदि पंच क्लेशों से ग्रसित होकर सदैव दुःख व कष्ट भोगना।
- श्रेय मार्ग को न चुनकर प्रेय मार्ग को अपनाना।
- नैतिक व आध्यात्मिक पतन होना।

- हिंसक प्रवृत्ति का होना।
- चोरी, डकैती, बलात्कार, नशा सेवन आदि गलत कार्यों को करना व उसमें रूचि रखना।
- अपराधिक कार्यों में रूचि रखकर समाज व राष्ट्र को कलंकित करना।
- आसुरी व तामसिक प्रवृत्तियों में लिप्त रहना।
- दैवी प्रवृत्तियों, जैसे– करूणा, दया, साधना, समर्पण, उपकार आदि में रूचि न रखकर उसका विरोध करना।
- आत्मविश्वास, ईश्वरविश्वास की कमी होना और कर्मफल व्यवस्था पर अविश्वास होना।
- भय, निराशा, कुकल्पनाओं व अवसाद से ग्रसित होना।

इस प्रकार आध्यात्मिक रोग से ग्रसित व्यक्ति का जीवन नारकीय हो जाता है। उसके जीवन में कभी सुख–शान्ति स्थायी रूप से नहीं आती। वह सदैव अशान्त व दुःखी रहकर सुरदुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ गंवाता रहता है।

6.5.5 आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के उपाय – आध्यात्मिक रोग से व्यक्ति का मानसिक, सामाजिक व नैतिक पतन हो जाता है और एक समयांतराल के बाद शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं, इसे दूर करना बहुत आवश्यक है। बिना इसे दूर किये मानव के जीवन में सुख, शान्ति, समृद्धि, उन्नति व मोक्ष संभव नहीं है। योग ग्रन्थों, आध्यात्मिक ग्रन्थों व विभिन्नि महापुरूषों, योगियों व ऋषि–मुनियों ने आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के त्याग व विविध उपायों का वर्णन किया है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण उपाय निम्नलिखित हैं–

I. **निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग–** चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरूद्ध नीच कर्मों को मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी न करना, यह पहली श्रेणी का त्याग है।

II. **काम्य कर्मों का त्याग–** स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के उद्‌देश्य से रोग–संकटादि की निवृत्ति के उद्‌देश्य से किये जाने वाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मों को अपने स्वार्थ के लिए न करना, यह दूसरी श्रेणी का त्याग है।

III. **तृष्णा का सर्वथा त्याग–** मान बढ़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धन आदि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़ने की इच्छा को भगवद्‌प्राप्ति में बाधक समझकर उसका त्याग करना, यह तीसरी श्रेणी का त्याग है।

IV. **स्वार्थ के लिए दूसरों से सेवा कराने का त्याग–** अपने सुख या स्वार्थ के लिए किसी से भी धन आदि पदार्थों की अथवा सेवा कराने की याचना करना एवं बिना याचना के दिये हुए पदार्थों को या की हुई सेवा को स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसी से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की मन में इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थ के लिए दूसरों से सेवा कराने के भाव हैं, उन सबका त्याग करना, यह चौथी श्रेणी का त्याग है।

V. **सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों में आलस्य और फल की इच्छा का सर्वथा त्याग–** ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता–पिता व गुरूजनों की सेवा, यज्ञ, दान, ब्रह्मचर्य का निर्वाह एवं शरीर सम्बन्धी खान–पान इत्यादि जितने कर्त्तव्य कर्म हैं, उन सबमें आलस्य का और सब प्रकार की कामनाओं का त्याग करना।

VI. **ईश्वर भक्ति या उपासना में आलस्य का त्याग–** अपने जीवन का परम कर्त्तव्य मान कर परम दयालु, सबके सुहृद, परम प्रेमी, अंतर्यामी परमेश्वर के गुण, प्रभाव व लीला कथा का श्रवण, मनन और पठन–पाठन करना तथा आलस्य रहित होकर उनके परम पुनीत नाम का उत्साहपूर्वक ध्यान सहित निरंतर जप करना तथा अपने अंदर ईश्वर के गुणों को स्थापित करना, अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उत्कृष्ट करना ही ईश्वर की सच्ची उपासना या भक्ति है।

VII. **साधना में आलस्य का त्याग–** साधना अर्थात अपने को साध लेना। मोक्ष की प्राप्ति एवं श्रेष्ठ कार्यों को करने में अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियों को निष्ठापूर्वक लगाना तथा श्रेष्ठता को धारण करते हुए निरन्तर आत्मोन्नति के राह पर आगे बढ़ना, उसमें आलस्य न आने देना ही सच्ची साधना है।

VIII. **आराधनादि में आलस्य एवं कामना का त्याग–** इस विश्व व समाज को ईश्वर का विराट रूप मानकर समाज की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, उसमें आलस्य न करना। समाज में जो दीन, हीन व दुर्बल हैं, उनको ईश्वर रूप मानकर सच्चे हृदय से उनके गुण, कर्म, स्वभाव को उत्कृष्ट बनाना एवं उनके दुःखों को दूर करने का उपाय करना तथा समाज को ज्ञानी बनाना ही ईश्वर आराधना है।

IX. **'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना–** सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखना और उससे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, उसे कभी कष्ट न देना। सबके कल्याण की भावना रखकर सभी प्राणियों की सच्चे मन से सेवा करना।

X. **अष्टांगिक मार्ग पर चलना–** महर्षि पतंजलि ने आत्मकल्याण व मोक्ष प्राप्ति के आठ साधना, यथा– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि बताये हैं। इन आठ साधनों को अपनाने से समस्त दुःख, कष्ट व आध्यात्मिक रोग दूर हो जाते हैं।

XI. **कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग को अपनाना–** कर्म, भक्ति व ज्ञान के माध्यम से भी साधक समस्त दुःख, कष्टों को दूर कर मोक्ष व ईश्वरलाभ प्राप्त कर सकता है।

XII. **सकारात्मक चिन्तन–** सकारात्मक चिन्तन से व्यक्ति के जीवन में सुख, शान्ति, संतोष व समृद्धि बढ़ती है तथा दुःख, कष्ट व आध्यात्मिक रोग दूर होते हैं।

XIII. **आस्तिकता अर्थात ईश्वर में विश्वास करना–** ईश्वर सर्वत्र कण–कण में व्याप्त है, ऐसी अनुभूति करने पर साधक सर्वत्र ईश्वर की अनुभूति करता है व समस्त कष्टों से मुक्त हो जाता है।

XIV. **आत्मविश्वास रखना–** अपने ऊपर विश्वास करना अर्थात ईश्वर पर विश्वास करना, क्योंकि आत्मा ईश्वर का ही अंश है। इससे व्यक्ति हर कार्य को करके आत्मनिर्भर हो जाता है। इससे आत्मबल, साहस, धैर्य बढ़ता है व समस्त रोग दूर होते हैं।

XV. **दैवी सम्पदाओं की वृद्धि करना–** भगवान श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को दैवी सम्पदाओं का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि भय का सर्वथा अभाव, अंतःकरण की पूर्ण निर्मलता,

ध्यान की निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान, देवता और गुरूजनों की पूजा, अग्निहोत्र, वेदशास्त्रों का पठन–पाठन, भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन, अंतःकरण की सरलता, अहिंसा, यथार्थ और प्रिय भाषण, किसी पर क्रोध न करना, चित्त की चंचलता का अभाव, निन्दा चुगली न करना, दया, कोमलता, लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, शत्रुता का अभाव, अहंकार का अभाव आदि ये सभी दैवी सम्पदायें हैं। इनसे मानव का कल्याण होता है व समस्त दुःख, कष्ट तथा आध्यात्मिक रोग दूर हो जाते हैं व मानव मोक्ष व ईश्वरलाभ को प्राप्त करता है।

XVI. **आत्म सुधार व आत्म विकास में निरत रहना–** अपने अंदर स्थित दोष–दुर्गुणों को देखना अर्थात आत्म चिन्तन करना, उन कमियों को दूर करना अर्थात आत्म सुधार करना तथा अंतःकरण में सद्‌गुणों को धारण करना, आत्मीयता का विस्तार करना अर्थात आत्म विकास करना। इनसे व्यक्ति समस्त रोगों से मुक्त होकर मोक्ष व ईश्वर की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार व्यक्ति अपने अंदर आस्तिकता व ईश्वर विश्वास के आधार पर सद्‌गुणों को बढ़ाता रहता है, कर्मफल व्यवस्था को समझकर कुकर्मों से दूर रहता है व सद्प्रवृत्तियों के सहारे अपने जीवन की उन्नति करता है। यौगिक मार्ग अपनाकर मोक्ष का अधिकारी बनता है। निष्काम व त्याग की भावना तथा सकारात्मक दृष्टिकोण रखकर अपना, समाज व राष्ट्र की सेवा सच्चे मन से निःस्वार्थ भाव से करता है और समस्त दुःख–कष्टों व रोगों से मुक्त होकर सुरदुर्लभ मानव जीवन को सार्थक कर ईश्वर दर्शन का लाभ प्राप्त करता हुआ इस भवसागर से पार हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न–

1. शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का नाम ही शारीरिक रोग है, यह कथन निम्न में से किनका है–
   (i) लुई कूने (ii) हिप्पोक्रेट्स (iii) एडोल्फ जुस्ट (iv) महात्मा गांधी
2. हैजा, निम्न में से किस रोग के अंतर्गत है–
   (i) मन्द रोग (ii) तीव्र रोग (iii) सामान्य रोग (iv) मानसिक रोग
3. मनोरोग और कुछ नहीं कुचली, मसली, रौंदी हुई भावनाएँ हैं, यह कथन किनका है?
   (i) महात्मा गांधी (ii) श्रीराम शर्मा आचार्य (iii) विनोबा भावे (iv) फ्रायड
4. चिकित्सक शरीर को ठोंकने, बजाने में लगे रहने की अपेक्षा रोगी के मन की ढूंढ खोज करे तो बीमारी का तुरंत पता लग जाएगा, यह कथन निम्न में से किनका है ?
   (i) सुकरात (ii) प्लेटो (iii) लुई कूने (iv) फ्रायड
5. चिन्तन की विकृति के कारण ही मानसिक अवसाद उत्पन्न होता है, यह कथन निम्न में से किनका है–
   (i) डॉ. रोर्समैन (ii) डॉ. बैक (iii) डॉ. जेम्स (iv) महात्मा गांधी
6. बन्धन का कारण राग से उत्पन्न लगाव ही है, इसी से सब दुःखों की उत्पत्ति होती है। यह किनका कथन है?

(i) पतंजलि (ii) वशिष्ठ (iii) वेदव्यास (iv) स्वामी विवेकानन्द

7. नास्तिक होना व कुकर्मों में रत रहना किस रोग के अंतर्गत है–
(i) शारीरिक रोग (ii) मानसिक रोग (iii) आध्यात्मिक रोग (iv) उपर्युक्त सभी

रिक्त स्थान को भरें–

8. तीव्र रोग ——— नहीं ——— होते हैं।
9. क्रोध एक ———— रोग है।
10. रोगों का कारण ————नहीं ———— है।
11. मन से शरीर में होने वाले रोगों को ———— रोग कहते हैं।
12. ———— सम्पदायें ———— रोग के अंतर्गत आते हैं।

6.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान चुके हैं कि शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोग क्या हैं ? इनके कौन–कौन से कारण हैं? इनसे क्या–क्या हानियाँ होती हैं? इनके लक्षण कौन–कौन से हैं तथा इन तीनों रोगों को दूर करने के क्या उपाय हैं? आदि सभी की विस्तृत जानकारी उपर्युक्त अध्याय में दी गयी है, जो निम्न बिन्दुओं में दर्शाया गया है–

- अप्राकृतिक खान–पान, प्रकृति विरूद्ध आहार–विहार, मिथ्योपचार, दूषित वातावरण व विषैली दवाएँ हमारे शरीर में विषाक्तता या दोष उत्पन्न करते हैं जिसे विजातीय द्रव्य, दोष, मल, विकार आदि नामों से जानते हैं जो शरीर में संचित होते रहते हैं और समयानुसार शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होते हैं।
- शारीरिक रोग दो प्रकार के होते हैं–तीव्र व जीर्ण रोग।
- जिस रोग में तेजी हो, तीव्रता हो उसे तीव्र रोग कहते हैं, जैसे– हैजा, दस्त आदि।
- जीवनीशक्ति के अभाव में विजातीय द्रव्य बहुत दिनों तक शरीर में दबे रहते हैं और जीर्ण रोग के रूप में प्रकट होते हैं, जैसे– कब्ज, मधुमेह आदि।
- प्राकृतिक आहार–विहार व प्राकृतिक चिकित्सा से सभी प्रकार के शारीरिक रोग दूर किये जा सकते हैं।
- मानसिक रोग से तात्पर्य कुसमायोजी व्यवहार से है।
- चिन्ता, भय, आशंका, असंतोष, ईर्ष्या, उद्वेग, आत्महीनता, अपराधी वृत्ति का जब मन पर नियंत्रण हो तो मनःसंस्थान का सारा संतुलन गड़बड़ा जाएगा और उसका प्रभाव सारे शरीर संस्थान व मनोशारीरिक व्याधियों के रूप में दिखायी देगा।
- महर्षि पतंजलि ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश आदि पंचक्लेश को सभी मानसिक रोगों का मूल कारण माना है।
- यौगिक दृष्टिकोण में चित्त के नौ विक्षेप को ही मनोरोग का स्वरूप माना गया है, ये हैं– व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व। इसके अतिरिक्त पांच विघ्न और उपस्थित या उत्पन्न हो जाते हैं– दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास व प्रश्वास। ये सभी विघ्न अंतराय कहलाते हैं जो चित्त को एकाग्र नहीं होने देते और मनुष्य मानसिक रोगी हो जाता है।

- आयुर्वेद में सत और रज से उत्पन्न मनोरोग जिसे संवेगात्मक विकार कहा गया है, ये हैं– काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय और हर्ष आदि।
- शरीर दोष से उत्पन्न मानस रोग के अंतर्गत उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रका, अतत्वाभिनिवेश, क्लम, मद, मूर्च्छा, सन्यास, तंद्रा, मदात्यय, गडोद्वेग और संत्रास आदि आते हैं।
- मनोकायिक रोग जिसे आधि–व्याधि भी कहते हैं, के अंतर्गत शोक, अतिसार व काम ज्वर आदि आते हैं।
- मानसिक रोग, जैसे– भय, क्रोध, ईर्ष्या–द्वेष, तनाव, चिन्ता व अवसाद आदि का प्रभाव विभिन्न शारीरिक रोगों के रूप में आता है।
- मानसिक रोग दूर करने हेतु विविध उपाय जैसे– प्रेमभाव, उपकार, सम्मान व अनासक्ति की भावना, आत्मा व ईश्वर पर विश्वास, मनोरंजन, सकारात्मक चिन्तन, अष्टांग योग, विश्राम व नींद आदि प्रयोग में लाये जाते हैं।
- श्रेय मार्ग को छोड़कर प्रेय मार्ग अर्थात जब व्यक्ति केवल शरीर के स्वार्थ में लगकर गलत व पाप कर्म करने लगता है, आत्म कल्याण का मार्ग छोड़ देता है, नास्तिक हो जाता है तो उसे आध्यात्मिक रोग से ग्रसित माना जाता है।
- आध्यात्मिक रोग से ग्रसित व्यक्ति नास्तिक, स्वार्थी, संवेदनहीन, पाप कर्म में रूचि रखने वाला, राजसिक व तामसिक स्वभाव का होता है।
- आध्यात्मिक रोगी आसुरी प्रवृत्तियों में लिप्त होकर स्वयं, परिवार, समाज व राष्ट्र को क्षति पहुँचाता है व कलंकित करता है।
- दैवी संपदाओं, सत्प्रवृत्तियों, यौगिक मार्ग, सकारात्मक चिन्तन, निषिद्ध कर्मों व आसक्ति का त्याग, उपासना, साधना, आराधना, आत्म चिंतन, आत्म सुधार व आत्म विकास आदि उपायों के द्वारा आध्यात्मिक रोग दूर कर मानव मोक्ष व ईश्वर लाभ प्राप्त कर सकता है।

6.7 पारिभाषिक शब्दावली

शारीरिक रोग– शारीरिक रोग शरीर के या शरीर के किसी अंग की वह दशा है जिसमें इसके कार्य बाधित होते हैं या व्यतिक्रमित होते हैं। शरीर के भीतर विजातीय द्रव्य के जमा होने का नाम ही शारीरिक रोग है।
तीव्र रोग– जिस रोग में तेजी हो, उसे तीव्र रोग कहते हैं। शरीर की जीवनीशक्ति प्रबल होने की स्थिति में चयापचयी विष तेजी से बाहर निकलता है। इस स्थिति को तीव्र रोग कहते हैं। अचानक ज्वर, दर्द, दस्त, तीव्र जुकाम, खांसी, सर्दी, वमन, फोड़ा आदि तीव्र लक्षण इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।
जीर्ण रोग– शरीर स्थित मल में उद्वेग होकर निकलने की उग्र दशा का नाम जिस तरह तीव्र या उग्र रोग है, उसी तरह उसके दबकर भीतर प्रवेश करने, अनिष्ट दश उत्पन्न करने और धीरे–धीरे कष्ट के साथ बहुत काल तक शरीर में पड़े रहने की दशा का नाम जीर्ण रोग है। जैसे– कब्ज, मधुमेह, अस्थिक्षय आदि।
मानसिक रोग– यह एक तरह का विचलित व्यवहार होता है जिसमें व्यक्ति की चिंतन प्रक्रियाएँ, भाव एवं व्यवहार सामान्य प्रत्याशाओं एवं अनुभूतियों से भिन्न या अलग होता है और प्रभावित व्यक्ति या समाज इसे एक ऐसी समस्या के रूप में पहचान करता है जिसमें नैदानिक हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।
पंच क्लेश– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश को पंच क्लेश कहा गया है। ये पंच क्लेश ही सभी मनोरोगों व दुःख के कारण हैं।

अविद्या– अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या है। यौगिक दृष्टि से अविद्या ही समस्त दुःख व रोग का कारण है।

अस्मिता– पुरूष (आत्मा) तथा चित्त (मन) दोनों भिन्न होते हुए भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होती है, उसको अस्मिता कहते हैं। यह अविद्या से उत्पन्न होती है। अविवेकरूपी अस्मिता भ्रांति या मिथ्या ज्ञान ही है और यह क्लेश देने वाली है, अतः मनोरोग का कारण है।

राग– जिन वस्तुओं से शरीर, मन, इन्द्रियों को सुख मिलता है, उन विषयों के प्रति लोभ या तृष्णा हो जाती है, इसे राग कहते हैं।

द्वेष– दुःख भोग के पश्चात रहने वाली घृणा की वासना को द्वेष कहते हैं। दुःख के पीछे बने रहने वाली वासना द्वेष कहलाती है।

अभिनिवेश– मूर्ख से लेकर विद्वान तक सभी मनुष्यों को मृत्यु का भय लगा रहता है, इसे ही अभिनिवेश कहते हैं। यह केवल अज्ञान के कारण होता है। ज्ञानी को यह भय नहीं होता है।

मनोकायिक रोग– इसे आधि–व्याधि भी कहते हैं। शोक अतिसार और काम ज्वर इसके अंतर्गत आते हैं। ये शोक एवं काम के अतिरेक के कारण पैदा होते हैं।

तनाव– तनाव एक बहुआयामी प्रक्रिया है जो व्यक्ति में वैसी घटनाओं के प्रति अनुक्रिया के रूप में उत्पन्न होता है जो हमारे दैहिक एवं मानसिक कार्यों को विघटित करता है या विघटित करने की धमकी देता है।

आध्यात्मिक रोग– आध्यात्मिक रोग का शाब्दिक अर्थ है– आत्मा से संबंधित रोग। जो व्यक्ति आत्मा में स्थित नहीं अर्थात संसार, शरीर, भौतिक कामनाओं, इच्छाओं और वासनाओं से ग्रसित है, उसे आध्यात्मिक रोग से ग्रस्त माना जाता है।

श्रेय मार्ग– श्रेय मार्ग अर्थात कल्याणकारी मार्ग पर चलकर आत्मा की उन्नति, प्रगति होती है तथा व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है। शारीरिक सुख के पीछे न चलकर आत्मिक कल्याण में लगे रहना, श्रेय मार्ग पर चलना कहलाता है।

प्रेय मार्ग– प्रेय मार्ग अर्थात अकल्याणकारी मार्ग पर चलना, आत्मकल्याण की ओर ध्यान न देना, केवल सांसारिक सुख की प्राप्ति हेतु प्रयास करना। जिस मार्ग पर चलने से आत्मा का पतन हो तथा अहित हो, जो अशुभ परिणामी है तथा जिस पर चलकर अंत में दुःख, हानि व पछतावा हो, वह मार्ग प्रेय मार्ग कहलाता है।

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– 1–(i), 2–(ii), 3–(ii), 4–(ii), 5–(ii), 6–(ii), 7–(iii), 8–शत्रु, मित्र, 9–मानसिक, 10–कीटाणु, विजातीय द्रव्य, 11–मनोदैहिक, 12–आसुरी, आध्यात्मिक रोग।

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- जिन्दल, डॉ. राकेश– प्राकृतिक आयुर्विज्ञान, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदीनगर, उ.प्र.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा (1998)– चिकित्सा उपचार के विविध आयाम, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ.प्र.।
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा (1998)– जीवेम शरदः शतम, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ.प्र.।
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा (1998)– चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ.प्र.।
- कुने, लुई, अनुवादक– केदारनाथ गुप्त– नवीन प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, उ.प्र.।
- लिंडलार, डॉ. हेनरी, पाण्डेय, डॉ. श्याम नारायण (2008)– प्राकृतिक चिकित्सा, अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली।

- आरोग्य अंक, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र.।
- वर्णवाल, डॉ. सुरेश (2002)– योग और मानसिक स्वास्थ्य, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली।
- नीरज, डॉ. नागेन्द्र कुमार (2012)– प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग, पापुलर बुक डिपो, जयपुर, राजस्थान।
- सिंह, अरूण कुमार (2004)– आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली।
- यतीश्वरानन्द, स्वामी (2008)– ध्यान और आध्यात्मिक जीवन, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, नागपुर, महाराष्ट्र।
- श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र.।

6.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- अखण्ड ज्योति
- युग निर्माण योजना, मथुरा।
- उपनिषदों का बोध (काका कालेलकर)

6.11 निबंधात्मक प्रश्न–

1. तीव्र रोग से आप क्या समझते हैं ? तीव्र रोग के अर्थ, परिभाषा एवं अवस्था का विस्तार से वर्णन करें।
2. शारीरिक रोग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए शारीरिक रोगों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालें।
3. सभी तीव्र रोग स्वस्थ होने के प्राकृतिक उपाय हैं तथा तीव्र रोग शत्रु नहीं मित्र होते हैं, की विस्तृत व्याख्या करें तथा तीव्र रोग के प्रकृतोपचार को लिखें।
4. जीर्ण रोग क्या है? जीर्ण रोग के कारण एवं प्राकृतिक चिकित्सा का विस्तार से वर्णन करें।
5. मानसिक रोग क्या है? मानसिक रोगों के कारण का विस्तार से वर्णन करें।
6. मानसिक रोग की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए उनसे होने वाली हानियों तथा उनसे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति पर विस्तार से प्रकाश डालें।
7. मानसिक रोग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मानसिक रोगों को दूर करने के उपाय पर विस्तार से प्रकाश डालें।
8. आध्यात्मिक रोग क्या है? आध्यात्मिक रोग के विभिन्न कारणों का विस्तार से वर्णन करें।
9. आध्यात्मिक रोग के क्या हानियाँ हैं तथा आध्यात्मिक रोग दूर करने के विविध उपायों का विस्तार से वर्णन करें।
10. किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें–

    (i) तीव्र रोग (ii) जीर्ण रोग (iii) चिन्ता

    (iv) आध्यात्मिक रोग के कारण (iv) मानसिक रोग का अर्थ

इकाई–7 निदान की विविध विधियाँ

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 निदान का अर्थ
7.3.1 निदान की विविध विधियाँ
7.3.2 मुखाकृति निदान
7.3.3 मुखाकृति विज्ञान क्या है?
7.4 शरीर में दोष संचय
7.4.1 दोष संचय के कारण शरीर में होने वाले परिवर्तन
7.4.2 दोष संचय के प्रमुख भाग
7.4.3 मिश्रिम संचय
7.4.4 भीतरी अवयवों के रोग
7.4.5 चेहरे की दशा तथा रोग
7.5 नाड़ी से रोग परीक्षा
7.5.1 नाड़ी देखने की विधि
7.5.2 नाड़ी की गति क्यों होती है?
7.5.3 आयु के अनुसार नाड़ी की गति
7.5.4 नाड़ी की गति गिनने की विधि
7.5.5 नाड़ी के प्रकार
7.6 जिह्वा परीक्षण
7.7 दांत व मसूढ़ों का परीक्षण
7.8 ओंठ परीक्षण
7.9 आंख परीक्षण
7.10 कनीनिका सिद्धान्त
7.10.1 कनीनिका की रचना
7.10.2 शारीरिक अंगों तथा कनीनिका में सम्बन्ध
7.10.3 कनीनिका के आवरण
7.10.4 कनीनिका का वर्गीकरण
7.10.5 कनीनिका में रोग के लक्षण
7.11 मूत्र परीक्षण
7.11.1 मूत्र के सामान्य तत्व
7.11.2 मूत्र के असामान्य तत्व
7.11.3 मूत्र के परिमाण के न्यूनाधिक के कारण
7.11.4 मूत्र का आकार–प्रकार तथा रोग
7.12 वक्ष परीक्षा
7.12.1 रूग्णावस्था में वक्ष के शब्द
7.12.2 विभिन्न रोगों में वक्ष की ध्वनि
7.13 सारांश
7.14 पारिभाषिक शब्दावली
7.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.17 सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम
7.18 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों की अवधारणा की जानकारी विस्तार से प्राप्त की तथा उसके अर्थ, स्वरूप, कारण एवं निवारण को विस्तार से समझ पाए।

प्रस्तुत इकाई में निदान की विविध विधियों को विस्तार से जान सकेंगे, क्योंकि रोगों के निदान के बिना सही ढंग से चिकित्सा नहीं की जा सकती। इससे जल्द और बिना कठिनाई की चिकित्सा सरल ढंग से की जा सकती है। इस इकाई में मुखाकृति निदान, नाड़ी परीक्षण, जिह्वा, दांत, मसूढ़ों व ओंठ का परीक्षण, आंख, कनीनिका का परीक्षण, मूत्र, रक्तभार तथा वक्ष परीक्षण के बारे में विस्तार से जान पायेंगे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मुखाकृति निदान को जान सकेंगे।
- शरीर के विभिन्न भागों पर दोष संचय को जान सकेंगे।
- चेहरे की दशा को देखकर रोग को जान पायेंगे।
- भीतरी अवयवों के रोग को जान पायेंगे।
- नाड़ी से रोग परीक्षा, नाड़ी के प्रकार, नाड़ी की गति देखने की विधि को जान पायेंगे।
- जिह्वा परीक्षण द्वारा विभिन्न रोगों को जान पायेंगे।
- दांत व मसूढ़ों के परीक्षण से विविध रोगों को जान पायेंगे।
- ओंठ परीक्षण से विभिन्न रोगों को जान पायेंगे।
- आँख परीक्षण से विभिन्न रोगों को जान पायेंगे।
- कनीनिका निदान से विविध रोगों के लक्षण को जान पायेंगे।
- मूत्र परीक्षण से मूत्र के तत्व, परिमाण, प्रकार तथा रोगों को जान पायेंगे।
- रक्तभार परीक्षण में रक्तभार के घटने–बढ़ने के कारण तथा रोगों को जान पायेंगे।
- वक्ष परीक्षण में रूग्णावस्था में वक्ष के शब्द व ध्वनि को तथा रोगों को जान पायेंगे।

7.3 निदान का अर्थ

प्राकृतिक चिकित्सा में रोग एक ही माना जाता है, वह है शरीर में विजातीय या दूषित पदार्थों का इकट्ठा होना। उसको बाहर निकलना उपचार होता है। ऐसी स्थिति में निदान की कोई आवश्यकता नहीं होती है। यदि अक्षरशः इसका पालन किया जाय तो यह ज्ञात नहीं हो सकेगा कि शरीर का कौन सा अंग व्याधिग्रस्त है अथवा मल कहाँ पर अधिक एकत्रित है अथवा उसमें विजातीय तत्वों की सीमा क्या है? निदान के द्वारा जब ये सभी बातें ज्ञात हो जाती हैं तो चिकित्सा प्रक्रिया को बहुत अधिक बल मिलता है। रोगों की वास्तविक दशा का पता लगने से उसकी साध्यता–असाध्यता पर विचार हो सकता है। इसके साथ ही साथ कभी–कभी रोगी भी अपने रोग के विषय में जानना चाहता है तथा उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सक को रोग की

पूरी स्थिति के विषय में जानकारी होनी चाहिए। सारांश में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक चिकित्सा में निदान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों में होती है।

7.3.1 निदान की विविध विधियाँ– निदान की विविध विधियों के अंतर्गत निम्नलिखित निदान विधियों का वर्णन किया गया है–

1. मुखाकृति निदान (Facial Diagnosis)
2. नाड़ी गति से रोग परीक्षण (Pulse rate examination)
3. जिह्वा परीक्षण (Lingua or tongue Examination)
4. दांत व मसूढ़ों का परीक्षण (Teeth's and Gum's Examination)
5. ओंठ परीक्षण (Lips Examination)
6. आँख परीक्षण (Eyes' Examination)
7. कनीनिका निदान (Iris Diagnosis)
8. मूत्र परीक्षण (Urine Examination)
9. रक्तभार परीक्षण (Blood Pressure Examination)
10. वक्ष परीक्षण (Chest Examination)

7.3.2 मुखाकृति निदान–लुई कूने ने शरीर मल व विजातीय द्रव्यों को तथा उससे संबंधित रोग व शरीर की स्थिति जानने के लिए आकृति से रोग की पहचान नामक पुस्तक लिखी, जिसके माध्यम से लाखों चिकित्सकों ने रोगियों का इलाज कर उन्हें रोगमुक्त करने में अधिक सफलता पायी।

7.3.3 मुखाकृति विज्ञान क्या है– यह एक विज्ञान है जिसके माध्यम से शरीर की रोगावस्था अथवा अस्वस्थता का निदान किया जाता है। इसके द्वारा यह देखा जाता है कि शरीर में दोष संचय कितनी मात्रा में किस भाग में संचित है।

बाह्य अंगों तथा उनकी आकृति को देखकर शरीर तंत्र की कार्यात्मकता का ज्ञान होता है।

यहाँ पर मुखाकृति शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में लिया गया है जिसके अंतर्गत न केवल चेहरे को सम्मिलित करते हैं बल्कि शरीर की संपूर्ण आकृति का अध्ययन करते हैं।

मुखाकृति विज्ञान शरीर में विजातीय द्रव्यों अथवा विषैले पदार्थों का संचय तथा शरीर तंत्र पर उसके प्रभाव का अध्ययन करता है।

इस विज्ञान से यह भी पता चलता है कि शरीर के किस अंग में मल संचय अधिक है। इस विज्ञान कार्य वर्तमान रोग तथा मल संचल के बीच संबंध का परीक्षण करता है।

मुखाकृति विज्ञान पूरे शरीर को एक इकाई मानता है और उसी रूप में उसकी कार्यात्मकता का परीक्षण करता है। इससे इस बात की भी जानकारी हो जाती है कि भविष्य में रोग किस स्तर तक पहुँच सकता है। यह भी ज्ञात होता है कि किसी सीमा तक रोगग्रस्त स्थिति को सामान्य स्थिति तक लाया जा सकता है।

कुने का विचार है कि शरीर से संबंधित सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सांवेगिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियाएँ सबसे पहले चेहरे पर परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार इस निदान की विधि द्वारा शरीर रचना, गति, भाव तथा सांवेगिक स्थिति का अध्ययन संभव होता है।

कुने का मानना है कि रोग शरीर के आकार को बदल देते हैं। उदाहरण के लिए, मोटापे की दशा में पेट बढ़ जाता है, हाथ पांवों पर मोटी तथा ढीली त्वचा होकर लटकने लगती

है, जब वसा की कमी होती है तो शरीर दुबला–पतला होकर लम्बा दिखायी देता है। दांत जब गिर जाते हैं तो पूरा चेहरा बदल जाता है। गठिया होने पर गांठें पड़ जाते हैं।

लेकिन कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें परिवर्तन कम दिखायी पड़ता है। केवल अनुभवी व्यक्ति ही आंखों को देखकर अनुभव कर सकता है।

सभी प्रकार की रोगग्रस्तता में शरीर में परिवर्तन विशेषकर सिर व गर्दन के भाग में होते हैं। कुने का मानना है कि रोगावस्था में चूंकि संपूर्ण शरीर प्रभावित होता है, अतः किसी भी अंग का परीक्षण करके स्वास्थ्य के विषय में जानकारी ली जा सकती है। सबसे महत्वपूर्ण शरीर का अंग पाचनतंत्र है जो स्वास्थ्य को स्पष्ट प्रदर्शित करता है।

7.3.4 मुखाकृति विज्ञान के आधार– इस विज्ञान के निम्नलिखित आधार हैं–

- सभी रोगों का कारण एक ही है, शरीर में मल संचय। रोग किसी भी रूप में प्रकट हो सकता है।
- रोगों की उत्पत्ति शरीर में मल संचय के कारण होती है।
- मल पहले पेडू पर फिर उसके बाद चेहरे पर तथा गर्दन पर संचित होता है।
- शरीर में मल संचय के लक्षण देखे जा सकते हैं। शरीर की आकृति एवं लक्षणों में परिवर्तन आता है।
- प्रत्येक रोग की शुरूआत बुखार से होती है तथा बिना रोग के बुखार नहीं आता है।

7.4 शरीर में दोष संचय

यदि शरीर की आकृति और रंग स्वाभाविक नहीं रह गये हैं या उनकी गतिशीलता में बाधा पड़ने लगी है तो यह इस बात का प्रमाण है कि शरीर में दोष संचय हुआ है। यह संचय कोई पदार्थ ही होता है। यह पदार्थ शरीर से कोई संबंध नहीं रखता, इसलिए विजातीय पदार्थ कहलाता है। पदार्थ शरीर में मुख, नाक और त्वचा के रास्ते जाता है। आंतें, मूत्राशय, त्वचा और फेफड़े स्वस्थ शरीर में निरंतर काम करते रहते हैं और प्रत्येक अनुपयोगी पदार्थ को जिसकी शरीर को कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, बाहर निकालने के काम में लगे रहते हैं। फिर भी शरीर में अत्यधिक मात्रा में दोष पहुँच जाने पर शरीर उसे बाहर निकालने में असमर्थ हो जाता है और उसका कुछ अंश अंदर रह जाता है।

कुछ दोष तो जन्म के साथ ही माता–पिता से आ जाते हैं। अप्राकृतिक भोजन लेते रहने पर परिणाम बुरा होता है। शरीर उस भोजन के मल को ठीक प्रकार से बाहर निकाल नहीं पाता है। साथ ही उस भोजन से वास्तविक भोजन तत्व भी नहीं मिल पाते।

प्रारंभ में मल शरीर के निष्कासन भागों के निकट जमा होता है और कुछ समय तक तो धीरे–धीरे रोगों जैसे– अतिसार, अति स्वेद, अतिरिक्त पेशाब द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है लेकिन कुछ तो प्रायः बच जाता है। जिस भाग में यह द्रव्य दोष जमा होता है उस भाग में उष्णता पैदा हो जाती है। दोष प्रकुपित होने लगता है, और गैसें बननी शुरू हो जाती हैं। यह गैस शरीर में फैल जाती है और शरीर में पसीने के रूप में त्वचा द्वारा गैस के रूप में बना दोष निकल जाता है। लेकिन कुछ अंश फिर ठोस रूप में जमा हो जाता है। यही वह भण्डार द्रव्य है जो शरीर को दोषपूर्ण करता है। संचित द्रव्य किस ओर एकत्र हुआ है यह देखकर रोगी की प्रकृति जानी जा सकती है। आमाशय और आंतों के कमजोर हो जाने पर प्राकृतिक और पूर्ण खुराक भी ठीक प्रकार से पचती नहीं है। ऐसा अधूरा पचा

हुआ शरीर द्वारा अभिशोषित सारा द्रव्य दोष का रूप ले लेता है। एक बार इस प्रकार विकार का एकत्र हो जाना शुरू हो जाने पर फिर यह क्रम बड़ी तेजी से बढ़ता है।

दूषित द्रव्य शरीर में प्रायः श्वांस, फेफड़ों और त्वचा द्वारा भी प्रवेश पाता है। कभी–कभी शरीर मल निकालने के लिए कृत्रिम मार्ग बना लेता है जैसे नासूर, खूनी बवासीर, रक्तपित्त, भगंदर, पांवों का पसीजना आदि। ये निर्गम मार्ग तभी बनते हैं जब दोष संचय काफी मात्रा में होता है।

7.4.1 दोषसंचय के कारण शरीर में होने वाले परिवर्तन–विजातीय द्रव्य अपनी स्थिति के लिए उपयुक्त स्थान की खोज करता है। द्रव्य का यह संग्रह पहले पेडू में होता है। निष्कासन मार्ग के नजदीक जमा होना शुरू होकर विकार दूर तक बढ़ने लगते हैं, जैसे सिर और हाथ पैरों की ओर। यदि कोई विशेष परिस्थिति पैदा न हुई तो यह क्रिया बहुत धीरे–धीरे होती है। द्रव्य का झुकाव प्रायः शरीर की ऊपर सीमा की ओर जाने लगता है। इस प्रयास में वह अपना मार्ग गर्दन के तंत्र भाग में बनाता है। वहाँ इसका संचय आसानी से देखा जा सकता है। पहले तो वह भाग बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, फिर सूजन अथवा पिण्ड रूप में हो जाता है। गर्दन की अस्वाभाविक स्थिति हो जाती है। त्वचा का रंग भी बदल जाता है। यह भूरी, स्लेटी अथवा अति सुर्ख दिखायी देती है। शोथ गर्दन और सिरं में शक्ल लेती है जो पेडू में और दोनों भागों में समान रूप से बढ़ती है। फिर भी कभी–कभी पेडू का संचय घटता है और गर्दन वाला बढ़ता है।

7.4.2 दोष संचय के प्रमुख भाग–प्रायः तीन अंगों में संयच मिलते हैं–

1. सामने का अग्र संचय (Frontal accumulation)
2. बगल का– दोनों में से किसी बगल का संचय (Accumulation in lateral right or left side)
3. पीठ का– शरीर के पीछे भाग का (Accumulation in back)

अग्र भाग का संचय– इस प्रकार के संचय में गर्दन सामने की ओर कुछ बड़ी हो जाती है। चेहरा बड़ा तथा भारी हो जाता है। मुंह प्रायः लंबा हो जाता है। यदि सामने का संचय पूरा–पूरा व्यक्त होता है तो चेहरा बहुत फूल जाता है और माथे पर चर्बीदार गद्दी बन जाती है। बहुत से व्यक्तियों में गर्दन पर पिण्ड बन जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि संचय भयंकर दशा में है। दूषित पदार्थ के सूख जाने पर मांसपेशियाँ क्षीण होने लगती है। सामने के संचय में सिर को सरलता से पीछे नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने पर गर्दन में बड़ा खिंचाव आता है। जब संचय केवल एकतरफा होता है, उस दशा में चेहरा एक ओर से दूसरी ओर की अपेक्षा भरा अथवा लम्बा लगता है।

अग्रभाग के संचय में कोई भी तीव्र रोग होने की संभावना रहती है। जैसे– खसरा, सुर्ख बुखार, डिप्थीरिया, फेफड़े की सूजन आदि। गले और गर्दन के जीर्ण रोग भी सामने के संचय से होते हैं। केवल सामने के संचय में मानसिक विकृति होना असम्भव है। सामने के संचय के बावजूद मार्मिक अंग प्रायः स्वस्थ रहते हैं क्योंकि दोष संचय प्रायः गालों में और माथे पर रहता है। उस दशा में इन हिस्सों में रोग होता है। सिर दर्द होता है, गालों पर मुहांसे निकलते हैं।सामने मल संचय का दूर होना अपेक्षाकृत सहज होता है। जल चिकित्सा द्वारा सामने का संचय कुछ ही समय में दूर किया जा सकता है।

पार्श्व संचय– इस प्रकार के मल संचय की दशा में गर्दन लम्बी हो जाती है। प्रायः उस हिस्से के अन्य भाग भी फैल जाते हैं जिससे सारा शरीर बेडौल लगने लगता है। सिर को

घुमाकर पार्श्व संचय की ठीक जांच की जा सकती है। क्योंकि इसमें गर्दन के उस हिस्से में खिंचाव होता है। साधारणतः उभरी हुई नसों को देख कर स्पष्ट बताया जा सकता है कि दोष संचय ने कौन सा रास्ता लिया है और वह किधर आगे बढ़ेगा।

साधारणतः पार्श्व संचय का परिणाम सामने के संचय की अपेक्षा अधिक खतरनाक होता है, उसे दूर करने में भी कठिनाई होती है। दोष संचय की दिशा में दांतों में दर्द होने लगता है। दांत क्षय होने लगते हैं। पार्श्व और सामने के संचय मिल जाने पर प्रायः बहरापन आ जाता है। आंखों पर भी शीघ्र प्रभाव पड़ता है। भूरा या काला मोतियाबिंद हो जाता है। यदि सिर का आधा हिस्सा पूर्णतया दोष संचित हो जाता है तो आधा सीसी दर्द होने लगता है। बायें ओर का संचय प्रायः त्वचा की सक्रियता को मंद कर देता है। इसलिए दाहिने ओर की अपेक्षा यह अधिक भयंकर होता है।

पृष्ठ भाग का संचय– पीठ का संचय सबसे भयंकर होता है। पीठ पर मल संचय ऊपर की ओर बढ़ता है। कभी सिर की ओर न जाकर पीठ में ही रह जाता है। ऐसी हालत में वहाँ सूजन हो जाती है। कंधे गोल हो सकते हैं, कूबड़ तक निकल सकता है। सिर का शीर्ष भाग चौड़ा होने लगता है। पृष्ठ संचय से पीड़ित व्यक्ति प्राथमिक दशाओं में मानसिक रूप से सक्रिय होते हैं परन्तु उनमें कुछ न कुछ बेचैनी सी तो रहती ही है। ऐसे व्यक्तियों में समय से पहले काम वासना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे युवक तथा युवतियाँ हस्तमैथुन की ओर प्रवृत्त होते हैं। पृष्ठ संचय स्त्रियों में गर्भपात का खतरा उत्पन्न करता है।

7.4.3 मिश्रित संचय– अकेला एक तरह का संचय बहुत कम ही पाया जाता है। प्रायः दो या सब तरह के संचय एक साथ पाये जाते हैं। प्रायः सामने या बगल का संचय एक साथ और उसी प्रकारबगल का तथा पृष्ठ का संचय एक साथ और कभी–कभी अग्र और पृष्ठ संचय भी एक साथ ही पाया जाता है। जिनके शरीर के विभिन्न भागों में संचय होता है उनकी अवस्था अत्यधिक भयंकर होती है। ऐसे व्यक्ति स्नायुविक रोग से ग्रस्त, अशान्त, असंतुष्ट और सनकी होते हैं।

7.4.4 भीतरी अवयवों के रोग– किसी भी प्रकार का दोषसंचय होने पर पाचन क्रिया सदैव प्रभावित होती है। रोग का प्रारम्भ यहीं से होता है, और जिस सीमा तक विजातीय तत्वों का संचय बढ़ता है, उतना ही उनकी काम करने की शक्ति कम होती है। यह भी सम्भव है कि पीड़ित व्यक्ति को इसकी कोई प्रतीति न हो क्योंकि विकार की जीर्ण दशा आंतरिक अवयवों में बहुत कम पीड़ा देती है। जब संचित मल शुष्क हो जाता है, तो कब्ज अथवा अतिसार की अवस्था में आभास होता है। आंतों की झिल्लियों के शुष्क हो जाने से नमी कम जो जाने के कारण कब्ज हो जाता है। तब मल निकल नहीं पाता, गांठें पड़ जाती हैं। आंतों में अंदर के मल के बाहर फेंकने की शक्ति कम रह जाने पर ही अतिसार होता है। दोनों दशाओं में रक्तहीनता और दिन–प्रतिदिन शरीर कमजोर होता जाता है। पोषक भोजन के बावजूद क्षीणता बढ़ती जाती है।जब संचय दाहिनी ओर होता है तो यकृत जो दाहिनी ओर होता है, प्रभावित होता है। उस दशा में शरीर का रंग पीला पड़ जाता है, क्योंकि यकृत रक्त से पित्त को अलग करने में असमर्थ हो जाता है। यकृत की खराबी और सामान्यतः दाहिनी ओर के संचय का चिन्ह है अधिक पसीना आना। ऐसे व्यक्तियों के पैर पसीजते रहते हैं। पृष्ठ तथा बायें भाग में संचय होने पर गुर्दे या वृक्क भी प्रभावित होते हैं। आंखों के नीचे की त्वचा सिकुड़ कर थैली सी बन जाती है जो वृक्क की बीमारी का चिन्ह

है। महिलाओं में आंतों में अत्यधिक विकार संचय होने से गर्भाशय दबाव पाकर हट जाता है जिसे गर्भाशय का सरकना कहते हैं।

यदि विकार शरीर के ऊपरी या नीचे के हिस्से में बढ़ता है और पसीना नहीं निकलता है तो वात रोग की आशंका रहती है। इसी तरह बायीं दिशा में दोष संचित होने पर गठिया का खतरा बना रहता है। वात का दर्द जोड़ों के आगे की ओर होता है, पीछे की ओर कभी नहीं होता।

मुखाकृति विज्ञान की सहायता से तो रोग ाक निदान बहुत पहले हो सकता है और फेफड़े का रोग भी ठीक हो सकता है। फेफड़ों के रोग प्रायः अन्य रोगों के विशेषकर ज्वर को दवा द्वारा दबाये जाने के परिणामस्वरूप पैदा होते हैं। दोष ऊपर से फेफड़ों में आकर जमा होता है।सामान्यतः शरीर अपने अंदर से दोष निकालने की कोशिश करता रहता है, और इसी के परिणामस्वरूप प्रायः सर्दी, जुकाम, बुखार, खांसी होती है। अग्र संचय की अपेक्षा यदि संचय बगल में होता है, विशेषकर पृष्ठ की ओर तो जीवनीशक्ति बहुत शीघ्रता से घटती है। शरीर मल को निकालने के लिए फोड़े–घाव वगैरह की मदद लेता है। कभी–कभी पीठ और छाती पर कष्टदायी फोड़े हो जाते हैं। लेकिन अल्प जीवनीशक्ति वाले लोगों में दोष सख्त होकर गांठों की शक्ल लेता है और यही फेफड़ों की क्षय–ग्रन्थियाँ कहलाती हैं। बवासीर, ट्यूमर, कैंसर आदि भी इसी तरह जन्म लेते हैं।

भयंकर रोग कुष्ठ का आरम्भ भी सिरों पर गांठें या गिल्टियाँ बनने के रूप में होता है। ये गिल्टियाँ पहले वहीं बनती हैं, जहाँ पसीना निकलना बंद हो जाता है। गिल्टियों का होना हमेशा इस बात का लक्षण है कि शरीर की दशा भीतर से बिल्कुल अव्यवस्थित है और जीवनीशक्ति घट गयी है जिसमें शरीर थोड़ा या पूरा फोड़ा और घाव पैदा करने में असमर्थ हो गया है।

7.4.5 चेहरे की दशा तथा रोग की पहचान–कोमल चेहरा, झालर वाली पलकें, धंसी हुई आँखें, टी.बी. होने का संकेत करती हैं।

- चेहरे पर मोम के रंग का पीलापन आना गुर्दे या वृक्क की बीमारी का सूचक है।
- किसी रोग के शुरू–शुरू में ही रोगी के चेहरे का बैठ जाना किसी भयंकर रोग का सूचक है।
- एकदम चेहरे की कान्ति का नष्ट होना छाती के दर्द का सूचक है।
- मुँह से बार–बार सांस लेना, गलसुपे की निशानी है।
- रोगी का चेहरा सुस्त हो जाना कब्ज तथा बुखार का द्योतक है।
- रोगी के माथे से नासिका की जड़ तक झुर्रियों का पड़ना, बेचैनी, उत्सुकता तथा तीव्र आंतरिक वेदना प्रगट करता है।
- रोगी के माथे पर झुर्रियां पड़ना तीव्र बाह्य दर्द का द्योतक है।
- रोगी का चेहरा पीला हो जाना पीलिया रोग का सूचक है।
- चेहरे में स्वाभाविक लाली की कमी होना रक्ताभाव का सूचक है।
- रोगी का फीका चेहरा होना टी.बी. प्रदर्शित करता है।
- मुंह पर दही जैसे सफेद दाग दिखायी देना मुंह के छालों के घाव का द्योतक है।
- मसूड़ों का रंग नीलापन लिये होता है तो यह हृदय रोग का सूचक है।

- चेहरे का लाला तथा धब्बों वाला होना खसरे का सूचक है।

7.5 नाड़ी से रोग परीक्षा

प्राकृतिक चिकित्सक अपने हाथ के सहारे से रोगी के केहुनी उठाकर और अग्रबाहु को पूरी तरह से फैलाकर अपने हाथ की अंगुलियों तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से अंगुष्ठ मूल से नीचे वाली नाड़ी की परीक्षा करता है। परीक्षा सुस्थिर एवं एकचित्त होकर करनी चाहिए तथा तीन बार परीक्षा करनी चाहिए। प्रायः पुरूषों के दायें हाथ की नाड़ी तथा महिलाओं की बायें हाथ की नाड़ी देखी जाती है। स्त्रियों की नाड़ी पुरूषों की अपेक्षा 6 से 15 बार प्रति मिनट अधिक चलती है।

पुरूषों की नाड़ी बड़ी तथा शक्तिशाली होती है क्योंकि उनके स्वभाव में गर्मी तथा शक्ति अधिक होती है तथापि नाड़ी सुस्त तथा ठहर–ठहर कर चलती है। इसके विपरीत स्त्रियों की नाड़ी बड़ी तेज चलती है। इनकी नाड़ी का फैलाव और शक्ति पुरूषों की अपेक्षा कम होता है। एक–एक अंगुली के नीचे नाड़ी की गति 6 प्रकार की होती है, ऊपर उठना, तेज उठना, तेज होकर ऊपर उठना, नीचे धंसना, तेज धसना, तेजी से धंसना। इस प्रकार दोनों हाथों की नाड़ी की गति 18 प्रकार की होती है। इनकी प्रत्येक गति से पृथक–पृथक रोग का ज्ञान होता है। जिस प्रकार वीणा की तंत्री सभी रागों को बताती है, उसी प्रकार मनुष्य की नाड़ी सभी रोगों को बताती है।

स्थान भेद से नाड़ी 8 प्रकार की होती है। हाथ की दौ, पैर की दो, गले और कंठ की दो तथा नासा के समीप की दो, आँखों की दो, कान की दो, पेडू की दो तथा जीभ के समीप की दो–दो। इनके बायें तथा दायें अंग से दो–दो होकर कुल 16 स्थान हो जाते हैं। इन स्थानों पर कहीं भी नाड़ी के स्पर्श द्वारा रक्त संचार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

7.5.2 नाड़ी की गति क्यों होती है ?

शुद्ध रक्त संचार के समय रक्तवाहिनी नाड़ियों के अंदर के आवरण पर रक्त की तरंगें जो आघात पहुंचाती हैं, उसी से नाड़ी की गति हुआ करती है। रक्त संचार के स्वरूप जो धड़कन होती है, उसे नाड़ी द्वारा अंगुलियों से ही जाना जा सकता है। धमनी द्वारा रक्त संचार होता है। अतः उसकी परीक्षा की जाती है।

तीन प्रकार की नाड़ियाँ तीन स्थितियों वात, पित्त तथा कफ को दर्शाती हैं। प्रारंभ में वात की नाड़ी, मध्य में पित्त की नाड़ी तथा अन्त में कफ की नाड़ी होती है। जब वात अधिक होता है तो तर्जनी अंगुली के नीचे नाड़ी स्फुरण होता है, पित्त की प्रबलता में मध्यमा अंगुली के नीचे नाड़ी फड़कती है तथा कफ की प्रबलता में अनामिका के नीचे स्फुरण होता है। यदि वात, पित्त की अधिकता हो तो तर्जनी और मध्यमा के बीच स्फुरण होता है और यदि पित्त, कफ की अधिकता हो तो मध्यमा और अनामिका के बीच में नाड़ी का स्फुरण होता है और यदि पित्त, कफ की अधिकता हो तो मध्यमा और अनामिका के बीच में नाड़ी का स्फुरण होता है। यदि वात, पित्त तथा कफ तीनों विकृत हो तो तीनों अंगुलियों के नीचे नाड़ी की विकृत गति जान पड़ती है।

7.5.3 आयु के अनुसार नाड़ी की गति–निम्न तालिका में आयु तथा नाड़ी की संख्या दी गयी है–

नाड़ी तालिका		
क्र.सं.	**आयु**	**नाड़ी की संख्या (प्रति मिनट)**
1.	भ्रूण में	150 बार
2.	जन्म के बाद	130—140 बार
3.	1 वर्ष तक	115—130 बार
4.	1 वर्ष से 2 वर्ष तक	100—115 बार
5.	2 से 3 वर्ष तक	90—100 बार
6.	3 से 5 वर्ष तक	80—85 बार
7.	5 से 14 वर्ष तक	80—85 बार
8.	15 से 21 वर्ष तक	75—85 बार
9.	22 से 60 वर्ष तक	65—75 बार
10.	वृद्धावस्था	50—70 बार

नाड़ी का स्पंदन एक मिनट में साधारण गति से 8—10 अधिक या कम है तो उस मनुष्य को कोई रोग अवश्य होता है। प्रौढ़ावस्था में एक स्वस्थ व्यक्ति का स्पंदन प्रति मिनट 70—75 बार होता है। शारीरिक गठन, खान—पान, रहन—सहन, स्त्री—पुरूष आदि के अनुसार भी नाड़ी की गति घट—बढ़ सकती है। बैठे हुए मनुष्य की नाड़ी एक मिनट में लेटे हुए मनुष्य की अपेक्षा लगभग 10 बार अधिक चलती है और खड़े हुए व्यक्ति की नाड़ी बैठे हुए की तुलना में एक मिनट में लगभग 20 बार अधिक चलती है। शरीर में ताप की अधिकता से नाड़ी की गति दुगुनी हो जाती है किन्तु सर्दी में नाड़ी की गति कम हो जाती है।

7.5.4 नाड़ी की गति गिनने की विधि (counting method of puls rote)- नाड़ी सदैव 1 मिनट तक गिनी जाती है। नाड़ी देखते समय गिनती की जाती है। नाड़ी की संख्या मालूम करने के निए सेकेण्ड की सुई लगी घड़ी का उपयोग करते हैं। नाड़ी परीक्षा में निम्न बातें देखी जाती है।

नाड़ी की गति—स्वस्थ अवस्था में नाड़ी की गति प्रगति मिनट 72—80 तक होती है।

1. गति (Rythm)- इसमें दो बातें देखते हैं—नाड़ी सम है या विषम।
    1. समयानुसारः— नाड़ी स्पंनद ठीक हो रहा है या कभी मंद और तीव्र।
    2. आवृति (Volume)- रक्त की उस मात्र को आवृति कहते हैं जो रक्त वहिनियों में संचार करती रहती है। साधारण परिभाषा में स्पंदन साधारण होता है और अधिक में अधिक प्रतीत होता है।

2. वेगानुसार—प्रत्येक स्पंदन का वेग समान है या असमान।

3. संहति (Condition of artes)- धमनी की दीवार की अवस्था को संहित कहते हैं। धमनी की दीवार मृदु है या कठोर, इसे देखने के लिए उस पर तीनों अंगुलियां धीरे—धीरे फेरते हैं।

7.5.5 नाड़ी के प्रकार (Types of pulse)

1. अन्तरगति नाड़ी (Boundung pulse)

स्वास्थ मनुष्य की नाड़ी पहले ठोकर लगती है फिर शान्त रहकर दूसरी ठोकर लगती है।

2. **ऊँची नाड़ी (cold pulse)**
इस प्रकार की नाड़ी स्वस्थ अवस्था की अपेक्षा अधिक ऊँची और उभरी हुई होती है। इस प्रकार की नाड़ी से शरीर में गर्मी की अधिकता प्रकट होती है।

3. **शीतल नाड़ी (cold pulse)**
जिस नाड़ी को छूने से सर्द प्रतीत हो, उसे शीतल नाड़ी कहते हैं। यह नाड़ी यह बताती है कि रोगी के शरीर में गर्मी की काफी कमी है।

4. **छोटी नाड़ी (Shoet pulse)**
इस प्रकार की नाड़ी स्वस्थ अवस्था से छोटी और लम्बाई में कम प्रतीत होती है। यह नाड़ी रोगों में सर्दी की अधिकता की सूचना देती है।

5. **निर्बल नाड़ी (Weak pulse)**
इस प्रकार की नाड़ी को छूने पर अँगुली पर धीमी सी ठोकर लगती है, यह नाड़ी रोगों में जीवनी–शक्ती घट जाने की सूचना देती है।

6. **परिपूर्ण नाड़ी (Frequent pulse)**
जब नाड़ी पर अंगुलियाँ रखने से उसके नीचे उछल–प्रबल प्रतीत हो, तो उसे परिपूर्ण नाड़ी कहते हैं। कठिन रोगों में ऐसे ही नाड़ी होती है।

7. **कठोर नाड़ी (Hard pulse)**
जब अंगुलियों के दबाने से नब्ज कठोर प्रतीत हो, तो कठोर नाड़ी कहते है। शरीर में तरल पदार्थ की कमी होने पर ऐसी स्थिति होती है।

8. **आन्तरिक नाड़ी (Intermittant pulse)**
जो नाड़ी चलते–चलते एक क्षण के लिए रुक जाय तथा फिर चलने लगे अर्थात् अटक–अटक कर चले, उसे आन्तरिक नाड़ी कहते है। जब हृदय में थकाव पैदा हो जाने के कारण जब थाड़ा आराम होता है तब ऐसी नाड़ी चलती है एकाएक दुर्घटना से भी ऐसी नाड़ी चलती है।

9. **लम्बी नाड़ी (Large pulse)**
इस नाड़ी में अंगुलियों के नीचे स्पंदन अधिक होता है। यह रक्त प्रकोप या विषम रोगों में चलती है।

10. **निम्न तनाव की नाड़ी (Low tension pulse)**
इस प्रकार की नाड़ी लम्बाई, चौथाई और गहराई में स्वस्थ अवस्था से कम होती है।

11. **शीघ्रगामिनी नाड़ी (Quick pulse)**
इस अवस्था में नाड़ी जल्दी–जल्दी चलती है। स्पंदन 100–120 तक हो जाता है। ऐसा तभी होता है जब शरीर में गर्मी की अधिकता होती है।

12. **मंद नाड़ी (Slow pulse)**
जब सामान्य अवस्था में नाड़ी की गति कम होती है, तो मंद नाड़ी कहते हैं। रक्त चाप की कमी से, मूर्छा अथवा सदमा आदि के समय ऐसी नाड़ी स्पंदन करती है।

विभिन्न रोगों में नाड़ी की गति– यहाँ पर कुछ प्रमुख रोगों में नाड़ी की गति का वर्णन कर रहे हैं।

(1) पाचन संस्थान के रोग– मंदाग्नि रोग में नाड़ी की गति शीतल होती है। अर्जीण में नाड़ी क्षीण और ठण्डी हो जाती है। अतिसार में नाड़ी की गति गर्मी में जोक के समान

मंद और निस्तेज होती है। खाने की अरुचि होने पर नाड़ी स्थिर, मन्द पुष्ट तथा कठिन होती है। कब्ज की अवस्था में नाड़ी प्रायः रक्त से खाली और वायु से भरी होने से ऊँची होती है। वातज शूल में नाड़ी की गति वक्र होती है। पित्तज शूल में यह ऊष्ण होती है। यकृत दोष में नाड़ी खाली तथा सख्त होती है। वमन में नाड़ी कठोर, ज्वर युक्त, लुप्तप्रायः और सविराम होती है।

(2) श्वास के रोग– फेफड़े की टी०बी० में रोगी का जिस ओर का फेफड़ा खराब होता है, उस ओर की नाड़ी की गति दूसरी ओर की अपेक्षा ऊँची होती है। निमोनिया में दोनों ओर की नाड़ियाँ लहरदार हो जाती हैं। दमा के रोगी में नाड़ी सदा तीव्र, कड़ी तथा जोक की तरह चलती है।

(3) रक्तवाहक संस्थान के रोग– उच्च रक्तचाप में नाड़ी की गति ऊँची होती है तथा अंगुलियों को जबरदस्ती हटाती हुई सी प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि नाड़ी में बहती हुई कोई चीज अंगुलियों को ढकेलकर आगे बढ़ रही हो हीन रक्तचाप में नाड़ी की गति क्षीण तथा मन्द होती है धड़कन जब बढ़ती है तब नाड़ी तीव्र तथा बड़ी होती है। धमनियों के शोध में नाड़ी बड़ी और विभिन्नतायुक्त हो जाती है। रक्तस्राव के समय नाड़ी बड़ी शक्तिशाली तथा छूने में गर्म होती है। ह्रदय में दुतगामिनि, तथा कर्कश होती है।

(4) मूत्र रोग– मूत्रघात में नाड़ी मेंढक के समान उछल–उछल कर चलती है। वृक्कशोध में नाड़ी की गति कठोर और नियमित होती है। रक्त पित्तवाहक नाड़ी उत्तेजित, बात व कफ वाहक नाड़ी पतली हो जाती है।

(5) गुप्त रोगों में नाड़ी की गति–

1. पुरुषों में–उपदंश की अवस्था में नाड़ी वक्र कुश तथा गम्भीर होती है। धातुक्षीणता में नाड़ी बहुत धीमी चलती है। नपुंसकता में रोगी के बायें हाथ की नाड़ी में टेढ़ापन पाया जाता है। प्रमेह में नाड़ी सूक्ष्म, जड़, मृदु होती है। वीर्य की कमी होने पर नाड़ी की गति निर्बल होती है तथा धीमे चलती है।

2 स्त्रियों में–गर्भावस्था में नाड़ी भारी और वायु की चाल से चला करती है। योनि रोग में नाड़ी पतली अंगुली के नीचे सख्त होती है, परन्तु धीमी चलती है। श्वेत प्रदर में नाड़ी एक चाल से परन्तु कमजोर चलती है।

(6) संक्रामक रोग–मलेरिया में नाड़ी अंगूठे की जड़ से हट जाती है और कुछ देर के बाद फिर अपने स्थान पर लौट आती है। चेचक में नाड़ी तेजी से किन्तु टेढी–मेंढी चलती है। टाइफाइड में नाड़ी की गति 100 से अधिक होती है। अंतिम दिनों में नाड़ी की गति रुक–रुककर चलती है। डिप्थीरीया में नाड़ी की गति तेज और कड़ी होती है। पेचिस में नाड़ी की गति जोंक की तरह होती है। टी०बी० में नाड़ी की गति क्षीण हो जाती है।

7.6 जिह्वा परीक्षण (Tongue Exameinahan)

1. तीव्र ज्वर, लम्बे उपवास तथा जल की कमी होन पर जीभ पर मैल की तह जम जाती है।
2. रक्त की कमी होन पर जीभ का रंग फीका हो जाता है जीभ की सतह मुलायम तथा समतल हो जाती है।
3. स्नायुरोगी में जीभ संज्ञाहीन हो जाती है।
4. पीलिया में रोगी की जीभ कुछ पीली हो जाती है।

5. हृदय के रोगों में रोगी की जीभ जरा सी बढ़ जाती है। तथा दाँत के निशान पड़े दिखायी देते हैं।
6. हृदय के रोगों में जीभ का रंग कुछ नीला हो जाता है।
7. शोधों के रोग में जीभ अस्वाभाविक रूप से लाल हो जाती है।
8. पाचनशक्ति के विकारों में जीभ लाल हो जाती है तथा उस पर छोटे–छोटे दाने पड़ जाते हैं।
9. अर्जीर्ण रोगों में जीभ मोटी हो जाती है। जीभ तथा उस पर सफेदी दिखायी देती है।
10. आमाशय के रोगों में जीभ फटी हुई होती है।
11. उदर रोगों में मुँह से दुर्गन्ध आने लगती है।
12. शरीर में जल की कमी होने पर जीभ सूखी और रूखी हो जाती है।
13. विटामिन ''बी'' की कमी से जीभ चिकनी हो जाती है।
14. क्षय रोगों में जीभ लाल रंग की तथा खुश्क हो जाती है।
15. पित्त ज्वर में जीभ की नोक और किनारे लाल पड़ जाते हैं।
16. स्वास, हृदय तथा फेफड़े के रोगों में जीभ बैगनी दिखायी देती है। और उसमें बहुत जलन होने लगती है।

7.7 दाँत व मसूढ़ों का परीक्षण (Teeth and Gums Examinahian)

1. पाइरिया में दाँतों की जड़ों एव मसूढ़ों से पीप निकलने लगता है।
2. पाण्डुरोग में रोगी के मसूढ़े भी पीले पड़ जाते हैं।
3. शरीर में चूने की कमी होने से दाँत आसानी से टूटने लगते हैं।
4. स्कर्वी (Scurvy) में रोगी के मसूढ़ों को दबाने से खून निकलने लगता है।
5. विष होने पर मसूढ़ों के ऊपर गहरी नीली धारी पड़ जाती है।
6. पेट में कीड़े होने पर रोगी अपने दाँत पीसता है।
7. पेट सम्बन्धी रोगों में दाँतों पर हरा या पीला मैल जम जाता है।
8. बुखार में भी दाँतों पर काला या भूरा मैल जम जाता है।

7.8 ओंठ परीक्षण (Lip Examinahian)

1. हृदय रोग में रोगी के ओंठ काले या नीले हो जाते है।
2. दिल की कमजोरी में होंठ नीले हो जाया करते है।
3. निमोनिया तथा मलेरिया में होठों पर दाने निकल आते है।
4. पाचन विकारों में होंठ हर समय सूखे रहते हैं तथा कभी–कभी सफेद भी हो जाते हैं।
5. रक्त की कमी होंठ पीले हो जाते हैं, कभी–कभी सफेद भी हो जाते हैं।

7.9 आँख परीक्षण (Eyes Examinatian)

1. हैजा, क्षय, कमजोरी, अतिसार, रक्तस्राव में रोगी की आँखें धँसी होती हैं।
2. उच्च रक्त चाप, नेत्रें से रक्तस्राव होने लगता है।
3. बात रोगों में नेत्र सूखे हो जाते हैं।

4. पित्त रोगों में संतापयुक्त हो जाते हैं तथा पिले दिखायी देते हैं।
5. रक्त की कमी, दिल का अधिक धड़कना, सिर चकराना, आदि अवस्था में आँखों के सामने अंधेरा आ जाता है।
6. नजला, जुकाम, पागलपन, और तीव्रज्वर में आँखें लाल हो जाती हैं।
7. हृदय विकार तथा आक्सीजन की कमी में आँखें नीली हो जाती हैं।
8. विटामिन की कमी होने पर आँखों में कैंजापन आ जाता है।
9. पेट के रोगों में आँखों के चारो ओर लाल–लाल, सोसे जैसा नीला फेरा पड़ जाता है।
10. एनीमिया में आँखों की झिल्ली सफेद हो जाती है।
11. टी०बी० तथा अन्य भयानक बीमारियों में आँखें चिन्तातुर दिखायी देती हैं।

7.10 कनीनिका निदान (Ieis Diagnosis)

क्नीनिका निदान की खोज डॉ०वान पैक जेली (Ignatz Von Pec Zely) ने 1848 में की थी। डॉ० जेली जब 11 वर्ष के थे, उन्होंने बगीचे में उल्लू को पकड़ा, लेकिन पकड़ने में उल्लू की टांग टूट गयी। उन्होंने जब उल्लू की आँखों में ध्यान से देखा तो कुछ धब्बे तथा चिन्ह उभर आये थे। उन्होंने उस उल्लू की टांग का उपचार किया। जैसे–जैसे टांग ठीक होती गयी वैसे–वैसे और आँख का धब्बा व धब्बे के रूप में थी धूमिल होकर गायब हो गयी। बड़े होकर जान जब डाक्टर हुये तो एक दिन एक रोगी जिसकी टाँग टूट गयी थी, परामर्श के लिये आया। उन्हें उल्लू की टाँग टूटने की घटना याद आयी। उन्होंने सूक्ष्म यंत्र से रोगी की आँख का निरीक्षण किया तो रोगी के उपतारा मण्डल (Iris) में एक काला धब्बा दिखायी दिया यह धब्बा भी उसी स्थान पर था, जिस स्थान पर उल्लू की आँख में था। इससे उन्होंने कनीनिका के टांगों का स्थान निश्चित किया। अपने चिकित्सीय व्यावहारिक अनुभव में उन्होंने पाया कि शरीर के आन्तरिक तथा वाह्य अंगों के रोगाग्रस्त होने पर कनीनिका (Iris) में विभिन्न प्रकार के चिन्ह उभर आते हैं। सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखकर यह पता किया जा सकता है कि शरीर के किन अवयवों में रोग बढ़ रहा है। अमरीका के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक हेनरी लिंडाहर (Henry Lindlahar) ने भी कनीनिका का गहन अध्ययन किया। उन्होंने आईरिडागनोसिल (Iridiagnosis) नामक पुस्तक की रचना की। उनके अनुसार कनीनिका (Iris) में 36 प्रतिनिधि बिम्ब होते हैं। जो शरीर के सभी अंगों का प्रतिनिधत्व करते हैं। तीव्र औषधियाँ जो रोगों में खायी जाती हैं, उनका भी प्रवाह कनीनिका में दिखायी देता है।

7.10.1 कनीनिका की रचना– यह आँख का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आँख में दो स्पष्ट भाग तथा रंगदिखायी देते हैं। कालीपुतली तथा आँख का सफेद हिस्सा काली पुतली में एक बिन्दु होता है। बिंदु को छोड़कर बिंदु के चारों ओर काले भाग को कनीनिका (Iris) कहते हैं। आँख का वर्णन एक गोले अथवा गोल्ब के रूप में किया जाता है, परन्तु वास्तव में यह अण्डाकार होता है। इसका व्यास 2.5 सेंटीमीटर होता है। यह तीन स्तरों का बना होता है।

(1) श्वेत पटल (Scleara)-यह आँख का वाहयतम स्तर है। इससे नेत्र का श्वेत भाग बना है। यह अपारदर्शी होता है तथा कनीनिका (Iris) से मिला हुआ होता है। कनीनिका

पारदर्शक होती है, इसीसे प्रकाश आँख के भीतर महुँचता है। श्वेत पटल नेत्र को कोमल अंगों की सुरक्षा करता है।

(2) मध्य पटल (Choroid)-यह आँख का मध्य स्तर है। इसकी रक्त वाहिकायें अन्तः वैरोटिड धमनी से निकलने वाली नेत्र धमनी (ophthalmic artery) की शाखायें होती हैं। यह कनीनिका का निर्माण करती हैं इस पटल का रंग कालापन लिये हुये भूरा होता है। इसके पुतली (Pupil) कहते हैं। कनीनिका के पीछे द्रव पदार्थ होता है। जिसे रक्त वाहिनियाँ होती हैं, जो आँख को पाषण देती हैं। कनीनिका के पीछे एक पिगमेन्टेशन स्तर होता जिनका कनीनिका उसका रंग प्रदान करता है। नीली, भूरी, भूसर आदि रंग की आँखें इसी कारण होती हैं।

(3) दृष्टि पटल (Retina)-यह नेत्र का भीतरी स्तर है जो अनेक परतों से बना होता है। जिसकी रचना स्नायुओं, कोशिकाओं, शलाओं (Rodes) तथा शंकुओं (Cones) से होती है। मस्तिष्क में दायें तथा बायें भाग में जहाँ से रंग नाड़ी निकल कर आँखों से मिली होती हैं। दाहिनी आँख की नाड़ी मस्तिष्क से बायें भाग से निकालती है तथा बाँयीं आँख की नाड़ी दाहिने मस्तिष्क के रंग केन्द्र से निकलती है। यही फैली हुई नाड़ी रेटिना कहलाती है। बाहरी वस्तुओं का बिम्ब कनीनिका से होकर लेन्स द्वारा रेटिना पर पड़ता है, और वहाँ से रंग नाड़ी द्वारा विम्ब मस्तिष्क के रंग केन्द्र में पहुँचता है, वहाँ पर वस्तु के आकार तथा रंग का निर्णय होता है।

7.10.2 शारीरिक अंगों तथा कनीनिका में सम्बन्ध—छोनों आँखों की कनीनिका में बहुत सी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियाँ तथा स्नायुतंत्र होते हैं। इन सभी का सम्बन्ध शरीर तथा मस्तिष्क से दो प्रकार से होता है। एक तो दृष्टि तथा रंग नाड़ी मस्तिष्क तथा कनीनिका तक फैली होती है। दूसरी नाड़ियों सुषम्ना नाड़ी के सम्पर्क में होती हैं। सुषम्ना नाड़ी का सम्बन्ध पूरे शरीर से होता है। अतः शरीर के किसी भी भाग में परिवर्तन होने से वह तुरन्त कनीनिका पर अंकित हो जाता है। कनीनिका में माँसपेशियाँ, स्नायु तथा रक्त वहिनियाँ होती हैं, जो पूरे शारीरिक तंत्र से मिली हुई होती हैं। अतः जब शरीर में किसी प्रकार का कोई बदलाव आता तो उसकी छाप स्पष्ट रूप से कनीनिका पर देखी जा सकती है। कनीनिका में काले—सफेद, तीरछे, हल्के गहरे चिन्ह तथा रेखायें रोग की स्थिति में उभर आती हैं।

7.10.3 कनीनिका के आवरण— क्नीनिका के सात आवरण बताये गये हैं। प्रथम आवरण आमाशय का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे आवरण में छोटी व बड़ी गर्दे तथा हृदय के लिए निर्धारित हैं। चौथा आवरण स्वसन संस्थान को दर्शाता है। पाँचवे आवरण में मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। छठा आवरण यकृत, जलग्रन्थियाँ तथा लसीका तंत्र का प्रतिनिधित्व करता है तथा सातवाँ आवरण त्वचा माँसपेशियों व नाड़ी संस्थान का स्थान हैं।

7.10.4 कनीनिका का वर्गीकरण—क्नीनिका को 36 भागों में विभक्त किया गया है। शरीर के दायें अंग के अवयव दायी कनीनिका में तथा बांयें अंग के अवयव काफी कनीनिका में दिखायी पड़ते हैं।

7.10.5 कनीनिका में रोग के लक्षण— डॉ० लिण्डलहार ने स्पष्ट किया है कि शरीर में जब किसी रोग के लक्षण जन्म लेते हैं, तो उसके कुछ चिन्ह कनीनिका के निश्चित स्थान पर उत्पन्न होने लगते हैं। कनीनिका में प्रत्येक अंग तथा अवयव का स्थान निश्चित है,

वहाँ पर श्वेत रंग की गहरी रेखायें दिखायी देने लगती हैं। यदि इसी अवस्था पर प्राकृतिक चिकित्सा विधि से शरीर में संचित विजातीय तत्त्व को बाहर निकाल दिया जाता है, जो रोग गम्भीर नहीं बनने पाता है। लेकिन यदि शक्तिशाली तथा तेज औषधियों से रोग को दबा दिया जाता है, तो रोग गम्भीर (Chronic) अवस्था में पहुँच जाता है।
यदि ध्यानपूर्वक कनीनिका को देखा जाय, तो पता चलता है कि जैसे–जैसे रोग की दशा बदलती जाती है, वैसे–वैसे कनीनिका में चिन्हों की उभरी हुई दशा भी बदलती हाती है। जब श्वेत रेखाओं के साथ–साथ काली रेखायें दिखने लगें तो इसका तात्पर्य होता है कि रोग की जटिलता बढ़ रही है। जैसे–जैसे काली रेखायें बढ़ती जाती है, रोग गम्भीर होता चला जाता है।

7.11 मूत्र परीक्षण (Urine Examinaton)

1. **मात्रा**

साधारण स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन 1500 सी०सी० मूत्र परित्याग करता है। शीत तथा वर्षाऋतु में यह मात्रा बढ़ जाती है तथा ग्रीष्म ऋतु में पसीने के अधिक निकलने के कारण मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। मधुमेह तथा चिरकालीन वृक्क शोध (Chroinc Nephritis) आदि में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। इसी प्रकार संक्षोभ (Shock) रक्त चाप की कमी, हैजा, दस्त आदि में मूत्र की मात्रा ही कम हो जाती है। इस रोग में मूत्र की मात्रा का बढ़ना ह्रदय में विकृति की कमी का सूचक है।
साधारणतया स्वस्थ अवस्था में व्यक्ति प्रायः दिन में 5 बार तथा रात्रि में 1बार मूत्र का परित्याग करता है। रात्रि में बार–बार मूत्र का परित्याग करना डायबिटीज का सूचक है।

2. **रंग–** प्राकृत अवस्था में मूत्र हलके पीले रंग का होता है। पीलिया में यह मूत्र अधिक पीला हो जाता है। फाइलेरिया में मूत्र में काइल (Chyluria) आने पर मूत्र दूध के समान सफेद हो सकता है। रक्त आने पर मूत्र लाल तथा हीमोग्लोबिन आने पर काला हो जाता है।
3. **पारदर्शिता–** प्राकृत अवस्था में मूत्र जल के समान निर्मल होता है। मूत्र मे फास्फेट (Phosphate) तथा (Pus) बैक्टीरिया आदि रहने पर मूत्र गंबला हो जाता है।

4- **गंध (odeur)** -

प्राकृत मूत्र की गंध एक विशिष्ट गंध होती है। एसीटोयोंन (Aceton) आने पर मूत्र की गंध सड़े फल के समान मीठी होती है।

7.11.1 मूत्र के सामान्य तत्त्व– मूत्र में 9.60 भाग जल और .40 भाग ठोस पदार्थ होता है। 24 घण्टे में लगभग 2 या 2–1/4 औंस ठोस पदार्थ मूत्र द्वारा हमारे शरीर से बाहर निकलते हैं। ठोस पदार्थों में यूरिया, यूरिक एसिड, सोडियम और क्लोराइट ही अधिक मात्रा में होते है।

7.11.2 मूत्र के असामान्य तत्त्व– विकृत अवस्था में मूत्र में कभी–कभी रक्त, पीठ पित्त, (Bile) शर्करा, एसीटोन एलबूमिन आदि तत्त्व आ जाते हैं।
सामान्य मूत्र में जल तथा अन्य तत्त्वों की मात्रा

तत्त्व	परिमाप

यूरिया	2.3 ग्राम प्रति लिटर
क्रेटिनाइन	1.5 ग्राम प्रति लिटर
यूरिक ऐसिड	0.7 ग्राम प्रति लिटर
सोडियम क्लोराइड	9.00 ग्राम प्रति लिटर
पोटेशियम क्लोराइड	2.5 ग्राम प्रति लिटर
सल्फयूरिक एसिड	1.8 ग्राम प्रति लिटर
अमोनिया	0.6 ग्राम प्रति लिटर

7.11.3 मूत्र न्यूनाधिक के कारण–मूत्र का परिमाण कारणों से न्यूनाधिक हो जाता है–

(1) मूत्र के परिमाण में वृद्धि– हृदय के बायें भाग का विस्तार, उच्च रक्तभार, वृक्क शोथ का प्रारम्भ, फेफड़ों के आवरण में जल भर जाना, जलोदर, मधुमेह, अधिक जलपान, शीतकाल, आदि कारणों से मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है।

(2) मूत्र के परिमाण में कमी– ज्वर, अतिसार, विचिका, वृक्क शोथ, मूत्रवरोध व्यायाम, अधिक रक्त स्राव, वमन, मद्यपान, रक्तभार, न्यूवता और लिवर की विकृति में मूत्र की मात्रा कम हो जाती है।

(3) मूत्र का अपेक्षित गुरुत्व तथा भार कम या अधिक हो जाना– मधुमेह, युरिया की वृद्धि, मांसाहार, आदि में मूत्र का परिमाण कम हो जाना और निमोनिया, टाइफाइड में मूत्र का अपेक्षित गुरुत्व (specif ic gravity) बढ़ जाता है। हिस्टीरिया, मूत्र नलिका का रोग, शीतल पेय पक्षापात, रक्त में गुरुत्व कम हो जाता है।

(4) यूरिया की वृद्धि या कमी– सामान्यतः यूरिया 2.3 ग्राम प्रति लीटर होती है। मांसाहार, पक्का भोजन मधुमेह गाउट (बालरक्त), निमोनिया, क्षय खट्टे पदार्थों के अधिक सेवन आदि कारणों से यूरिया बढ़ जाती है।

यूरिक एसिड में वृद्धि तथा कमी–सामान्यतः मूत्र में 0.7 ग्राम प्रति ली० यूरिक एसिड होता है। लेकिन तीव्र, ज्वर यकृत के रोग, पौष्टिक अन्न सेवन, मांसाहार, दमा के रोग, प्लीहा का रोग, बात रक्त आदि में यूरिक एसिड बढ़ जाता है। कुनैन औषधि से इसकी मात्रा कम हो जाती है।

क्लोराइड–निमोनिया, शीतज्वर, विषम ज्वर के शमन होने पर रोगी के मूत्र में क्लोराइड या नमक की मात्रा आमतौर पर बढ़ जाती है। निमोनिया में नमक की मात्र कम हो जाती है।

फास्फेट–कुछ जीर्ण रोग जिसमें मूत्र में स्नायुओं के टुकड़े आते हों तथा मधुमेह में फास्फेट की मात्र बढ़ जाती है। फेफड़े के चारों ओर वाली झिल्ली में शोथ में कम हो जाता है।

7.11.4 मूत्र का आकार प्रकार तथा रोग

1. धूमिल रंग का मूत्र होना रक्त की उपस्थिति का सूचक है।
2. लाल रंग का मूत्र होना अम्लता (Acidity) की अधिकता बताता है।
3. गहरे पीले रंग का मूत्र होना पित्त की मौजमदगी का सूचक है।
4. गंदा मूत्र होना श्लेषमा या पीव का सूचक है।
5. फीका या सफेद मूत्र होना जल की अधिकता, यूरिया या चीनी की अधिकता का सूचक है।

6. रोगी के मूत्र करने के बाद भी कुछ देर तक झाग रहना श्वेत सार (Albumin) या पित्त के उत्पादन का सूचक है।
7. मूत्र में अधिक अम्ल होना पथरी की उपस्थिति का सूचक है।
8. मूत्र प्रवाह में जलन, मूत्र का रुक–रुक कर आना, मूत्र मार्ग में तीव्र दर्द, मूत्राशय में पथरी होने की ओर इंगित करता है।
9. मूत्र में शर्करा का आना मधुमेह का सूचक है।
10. मधुमेह, पुराना वृक्क शोथ (Bright's desease) हिस्टीरिया, रक्त श्राव, आदि में मूत्रल औरषधियाँ लेने से पीला मूत्र आता है।
11. मूत्र में यूरेट्स, फासफेट आदि आने की अवस्था में रोगी के मूत्र का रंग बादल जैसा हो जाता है।

IV- रक्त भार तथा रोग–जब हृदय रक्त को धमनियों में धकेलता है, तो धमनियों के दिवारों पर एक प्रकार का दबाव पड़ता है इसी को रक्तचाप या रक्ताभार (blood Pressure) कहते हैं। यह दबाव जब तक प्राकृतिक अवस्था में रहता है तब तक रक्तचाप सम्बन्धी कोई रोग नहीं होता है। जब रक्तचाप बढ़ जाता है तो उसे उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) हाइपरटेंशन (Hypertention) कहते हैं। रक्तचाप कम हो जाने पर न्यूनरक्तचाप (Low Blood Pressure) कहते हैं।
दो विधियों द्वारा रक्तचाप देखा जाता है।

1. स्पर्शन विधि (Pulpatory method)
2. श्रवण विधि (Ausculatory method)

स्पर्शन विधि में हाथ से नाड़ी का अध्ययन करते हैं।
श्रवण विधि में नाड़ी को स्पर्श करने की अपेक्षा वी0पी0 मापन यंत्र का उपयोग करते हैं, जिसे स्फिग्मोमेनोमीटर कहते (Sphygmomenouneter) हैं।
रक्तचाप दो प्रकार का होता है।

1. प्रकुंचन रक्त चाप भार(Systolic Blood Pressure)
2. अनुशिथिलन रक्तभार (Diastolic Blood Pressure)

रक्तचाप जानने की सरल विधि–यदि 100 की संख्या में आयु की आधि संख्या जोड़ दी जाय, तो प्रकुंचन रक्त चाप मालूम हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि आयु 50 वर्ष की है, तो प्रकुंचन रक्तचाप (Systolic) (100+50/2=125mn Hg) चाप लगभग होगा।

सामान्य रक्तचाप

आयु वर्ष में	प्रकुंचन रक्तचाप	अनुशिथिलन	नाड़ी चाप
1	2	3	4
15 से 19 वर्ष	100	70	39
20 से 24 वर्ष	111	72	39
25 से 29 वर्ष	112	72	40
30 से 34 वर्ष	114	72	42
35 से 39 वर्ष	119	73	46
40 से 44 वर्ष	120	73	47

45 से 49 वर्ष	123	75	48
50 से 24 वर्ष	126	77	49
55 से 59 वर्ष	127	80	47
60 से 64 वर्ष	128	82	46
65 से 69 वर्ष	129	83	46
70 वर्ष के ऊपर	130	83	47

रक्तभार बढ़ने तथा घटने के कारण

हृदय की धड़कन की संख्या में वृद्धि होने, धड़कन की शक्ति के बढ़ जाने, रक्त का परिमाप में बढ़ जाने के कारण और धमनियों के अधिक संकुचन हो जाने से रक्त चाप बढ़ जाता है। इसकी विपरीत अवस्था में रक्तचाप घट जाता है।

प्राकृतिक दशाओं में रक्तचाप

1. प्रातः काल की अपेक्षा सायंकाल को प्रकुंचन (Sysloic) रक्तचाप बढ़ जाता है।
2. खड़े होने पर बैठने की अपेक्षा दो मिलीमीटर प्रकुंचन बढ़ जाता है। तथा अनुशिथिलन कम हो जाता है।
3. क्रोध, चिंता तथा घबराहट में प्रकुंचन रक्तचाप बढ़ जाता है।
4. खाना खाते और अधिक पानी पीने से भी प्रकुंचन भार अधिक हो जाता है।
5. व्यायाम से प्रकुंचन भार बढ़ता है।
6. नींद सोने में प्रकुंचन रक्तचाप कम हो जाता है।

7.12. वक्ष परीक्षा (Chest Examinaton)

वक्ष परीक्षा निम्न प्रकार से की जाती हैः—

(1) देखकर(Inspection)
(2) स्पर्शन। (Palpation)
(3) परिमापन। (Mensuration)
(4) हाथ से ठोक कर (Percussion)
(5) सुनकर। (Ascultatuon)

(1) देखकर परीक्षा—इससे वक्ष की गठन में विकार, सांस लेने तथा छोड़ने के समय वक्ष का तनना और उतरने की स्थिति, श्वा—प्रश्वास की प्रकृति आदि का अवलोकन करते हैं।

(2) स्पर्शन—आँख से देख लेने के बाद वक्ष की परीक्षा करते हैं। इसमें छाती या पीठ पर हथेली रखकर परीक्षा की जाती है। स्पर्शन द्वारा वक्ष की गति, स्पन्दन तथा कम्पन का पता चलता है। हथेली रखने पर रोगी को कैसा महसूस होता है इसका भी ज्ञान होता है।

(3) आघातन— इसमें अँगुली से छाती या पीठ को ठोक कर परीक्षा की जाती है। वक्ष, पीठ का या पसली परीक्षा करते समय दाहिनें हाथ की तर्जनी और मध्यमा, को या केवल मध्यमा, अंगुली को टेढ़ कर नीचे झुकाकर, उसके अगले भाग से चोट देते हैं। जब किसी स्थान पर चोट दी जाती है, तो भीतर से दो तरह की आवाज निकलती है। एक

तो धीमी थप सी आवाज आती है दूसरी तरह की आवाज किसी हवा भरी खोखली जगह पर चोट देने से होती है, जैसे ढोल पर थपकी देने से होती है।

(4) परिमापन– इसमें वक्ष की माप लेकर यह देखा जाता है कि सांस लेने और छोड़ने के समय दोनों ओर का वक्ष समान रूप से सिकुड़ा तथा फैलता है, या नहीं? वक्ष के रोगों का घटना व बढ़ना भी इससे ज्ञात होता है।

(5) सुनना–स्टेथोस्कोप के माध्यम से हृदय स्पन्दन की आवज सुनी जाती है। इससे हृदय तथा फेफड़ों की आवाज की प्रकृति का ज्ञान होता है।

7.12.1 रुग्णावस्था में वक्ष के शब्द

1. जब श्वांस की आवाज बहुत तेज हो जाती है तब उसकी वोकियल रेस्पिरेशन रोइनंची (Bonchial Respiration Roenchi) कहते हैं।
2. कभी–कभी सांस की आवाज पोली चीज के अन्दर फूंकने जैसी होती है उसे केवरनस ब्रीदिंग (cavernous Beating) कहते हैं।
3. कभी–कभी आलपीन ठोकने जैसी आवाज होती है, जिसे मैटिलिक टिन्कलिंग (Metallic Tinckng) कहते हैं।
4. कभी–कभी कारकाने तेल गरम करने जैसे शब्द सुनाये देते हैं जिसे क्रेकलिंग (Crackling)कहते हैं।
5. कभी–कभी वक्ष के अन्दर धातु के बर्तनों को मलने जैसी आवाज होती है जिसे एम्फोटिक रिजोनेन्स कहते हैं।
6. कभी–कभी हथेली घिसने या आरी चलाने जैसी आवाज आती है, जिसे फ्रिकशन साउण्ड (Friction Sound) कहते हैं।
7. कभी–कभी बुलबुला बनने जैसे आवाज आती है। जिसे बबलिंग (Bubling) कहते हैं।

7.12.2 विभिन्न रोगों में वक्ष की ध्वनि

1. दमा में सीटी देने की ध्वनि जैसी आवाज आती है।
2. प्लूरिसी में रगड़ (Friction) सी आवाज आती है।
3. टी0बी0 रोग में धातु पात्र बजने की तरह ध्वनि होती है।
4. न्यूमोनिया में कागज फाड़ने की जैसी आवाज आती है।
5. ब्रोन्काइटिस में मक्खी की भनभनाहट या घबराहट की आवाज आती है।
6. दिल की धड़कन बढ़ने की तेजी और उसके चोट सी धड़कन साफ सुनायी देती है।

अभ्यास प्रश्न–

1. आकृति से रोग की पहचान नामक पुस्तक किसने लिखी ?
   (अ) महात्मा गांधी (ब) लुई कूने (स) लिंडल्हार (द) एडोल्फ जुस्ट
2. विजातीय द्रव्य का संचय सर्वप्रथम कहाँ होता है ?
   (अ) चेहरा (ब) पेडू (स) सिर (द) गला
3. वात अधिक होने पर किस अंगुली के नीचे नाड़ी स्फुरण होता है ?
   (अ) तर्जनी (ब) मध्यमा (स) अनामिका (द) तीनों
4. कनीनिका निदान की खोज किसने की ?

(अ) लुई कूने (ब) लिंडल्हार (स) वान पैक जेली (द) एडोल्फ जुस्ट

5. सामान्य मूत्र में यूरिक एसिड की एक लीटर में कितनी मात्रा होती है ?

(अ) 2.3 ग्राम (ब) 1.5 ग्राम (स) 0.7 ग्राम (द) 0.6 ग्राम

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें

6. हृदय के रोगों में जीभ का रंग कुछ ------ हो जाता है।
7. एनीमिया में आँखों की झिल्ली ------- हो जाती है।
8. कनीनिका को -------- भागों में विभक्त किया गया है।

निम्न कथन सही है या गलत

9. पृष्ठ भाग का संचय सबसे भयंकर होता है। –
10. न्यूमोनिया में वक्ष की ध्वनि रगड़ सी आवाज आती है। –
11. दिल की कमजोरी में होंठ लाल हो जाते हैं। –

7.13 सारांश

- प्राकृतिक चिकित्सा में एकमात्र विजातीय द्रव्य को ही रोग माना जाता है। लुई कूने ने शरीर के मल व विजातीय द्रव्यों को तथा उससे संबंधित रोग की स्थिति जानने के लिए आकृति से रोग की पहचान नामक पुस्तक में इसकी विस्तृत चर्चा की है जिसमें शरीर के अग्र, पार्श्व, पीछे, मिश्रित व अंदर में विजातीय द्रव्य के संचित होने पर विभिन्न प्रकार के रोग होने का वर्णन किया है।
- पृष्ठ का संचय सबसे अधिक भयंकर होता है। उससे कम पार्श्व भाग का तथा सबसे कम अग्र भाग का होता है। अग्र भाग के संचय को प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा जल्द ठीक किया जा सकता है। मिश्रित संचय या जिनके शरीर के विभिन्न भागों में संचय होता है, उनकी अवस्था भी भयंकर होती है तथा वे स्नायुविक रोग से ग्रस्त, अशान्त और सनकी होते हैं और कभी भी भयानक रोग से ग्रस्त हो सकते हैं। चेहरे की दशा देखकर भी विभिन्न रोगों के अनुमान किये जा सकते हैं।
- नाड़ी से रोग परीक्षा आसानी से की जा सकती है। तीन प्रमुख नाड़ी इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना शरीर के बायें, दायें व मध्य में रहती है। नाड़ी परीक्षण द्वारा वात, पित्त तथा कफ का शरीर में बल तथा कार्य ज्ञात किया जाता है तथा विभिन्न रोगों में नाड़ियों की विभिन्न गतियों को देखकर रोग का निदान किया जाता है।
- शरीर के विभिन्न अंगों के परीक्षण जैसे– जिह्वा, दांत व मसूढ़ों, ओंठ, आंख, कनीनिका व वक्ष आदि के परीक्षण कर विभिन्न रोगों का निदान किया जा सकता है। मूत्र परीक्षण में मूत्र के रंग, गंध, तत्व व मात्रा आदि को देखकर विभिन्न रोगों के निदान किये जाते हैं।
- कनीनिका में रोग के लक्षण स्पष्ट रूप से दीखते हैं। शरीर के सभी अंगों का स्थान कनीनिका के स्थान विशेष में होता है तथा उन अंगों से संबंधित रोग का प्रभाव कनीनिका पर देखा जा सकता है जो काले, सफेद, तिरछे, हल्के, गहरे चिन्हों तथा रेखाओं के रूप में उभर आते हैं।

7.14 पारिभाषिक शब्दावली

- **मुखाकृति निदान–** मुख की आकृति या शरीर की आकृति देखकर शरीर में स्थित विजातीय द्रव्य को जानकर विभिन्न रोगों की पहचान की जाती है। लुई कूने ने रोग के निदान हेतु 'आकृति से रोग की पहचान' नामक पुस्तक में इसका वर्णन किया है।

- **मुखाकृति विज्ञान–** शरीर में विजातीय द्रव्यों अथवा विषैले पदार्थों का संचय तथा शरीर तंत्र पर उसके प्रभाव का अध्ययन करता है।
- **दोष संचय–** विजातीय द्रव्य या दोष, मल का शरीर के विभिन्न भागों में संचय को दोष संचय कहा जाता है।
- **अग्र भाग का संचय–** जब विजातीय द्रव्य शरीर के आगे या सामने, चेहरे, सिर, गला, पेट, छाती, घुटनों, पैर व जांघ आदि पर जमा हो जाते हैं तो उसे अग्र भाग का संचय कहते हैं।
- **पार्श्व संचय–** जब विजातीय द्रव्य शरीर के बायें या दायें भाग पर संचित हो जाए तो उसे पार्श्व संचय कहते हैं, यह अग्र संचय की अपेक्षा अधिक भयंकर होता है।
- **पृष्ठ संचय–** जब विजातीय द्रव्य शरीर के विभिन्न अंगों के पीछे संचित हो जाए तो उसे पृष्ठ संचय कहते हैं। यह अग्र तथा पार्श्व संचय से अधिक भयंकर होता है।
- **मिश्रित संचय–** जब विजातीय द्रव्य शरीर के अग्र एवं पार्श्व या पार्श्व तथा पृष्ठ या अग्र, पार्श्व व पृष्ठ भाग में संचित हो जाए तो उसे मिश्रित संचय कहते हैं।
- **नाड़ी गति–** शुद्ध रक्त संचार के समय रक्तवाहिनी नाड़ियों के अंदर के आवरण पर रक्त की तरंगें जो आघात पहुँचाती हैं उससे नाड़ी गति होती है। स्वस्थ प्रौढ़ व्यक्ति की नाड़ी गति प्रति मिनट 70–75 बार होती है। रोगावस्था में नाड़ी गति में अंतर आ जाता है।
- **कनीनिका–** यह आँख का महत्वपूर्ण हिस्सा है। काली पुतली में एक बिन्दु होता है। बिंदु को छोड़कर बिंदु के चारों ओर काले भाग को कनीनिका (Iris) कहते हैं।

7.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.–(ब), 2.–(ब), 3.–(अ), 4.–(स), 5.–(स), 6.–नीला, 7.–सफेद, 8.–36, 9.–सही, 10.–गलत, 11.–गलत

7.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- कूने, डॉ. लुई, अनुवादक महावीर पोद्दार (2009), सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन।
- मिश्र, डॉ. प्रयाग दीन व मिश्र, डॉ. वीना (1998), मधुकर द्विवेदी निदेशक, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- कूने, डॉ. लुई, अनुवादक केदारनाथ गुप्त, नवीन प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

7.17 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- शरीर क्रिया विज्ञान
- मिडलाइन मेडिकल डिक्शनरी

7.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. मुखाकृति विज्ञान क्या है ? मुखाकृति विज्ञान के आधार क्या हैं ? अग्र संचय होने पर मुखाकृति पर क्या बदलाव आते हैं ? विस्तार से लिखें।
2. दोष संचय क्या है ? ये कितने प्रकार के होते हैं ? इससे शरीर में होने वाले परिवर्तन की स्पष्ट व्याख्या करें।
3. नाड़ी से रोग परीक्षा कैसे की जाती है ? नाड़ी के प्रकार की व्याख्या करें।

इकाई– 8 जल चिकित्सा में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार की पट्टियां

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8 3 जल चिकित्सा

8.4 जल के प्रकार

8.4.1 मृदु जल

8.4.2 अस्थाई कठोर जल

8.4.3 स्थाई कठोर जल

8.5 जल के प्रयोग

8 5.1. अल्पकालीन प्रयोग

8 5 2 दीर्घकालीन प्रयोग

8.6. जल की मुख्य पट्टीयां

8.6.1. जल की ठण्डी पट्टी

8.6.2. जल की गर्म पट्टी

8.7 जल की ठण्डी पट्टी का प्रयोग

8.7.1. पेडू की गीली पट्टी

8.7.2. कमर की गीली पट्टी

8.7.3. धड़ की गीली पट्टी

8.7.4. छाती की गीली पट्टी

8.7.5. सिर की गीली पट्टी

8.7.6. गले की गीली पट्टी

8.7.7. जोड़ों की गीली पट्टी

8.7.8. पूरे शरीर की गीली चादर की लपेट

8.8 सारांश

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.10 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

आकाश वायु तथा अग्नि के बाद चौथा स्थान जल तत्व का है।जल भी अन्य तत्वो के समान हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।जल जीवन के लिए उतना ही आवश्यक

है जितना सांस लेने के लिए वायु । जल में सभी पदार्थो को अपने में घुलनशील करने का गुणो के कारण अन्य तत्वो से भिन्नता होती है। जल में कई पदार्थ घुलनशील हो जाते है तथाजल कई पदार्थो में समाहित हो जाता है जिसके कारण सभी चिकित्सा पद्वतियों में जल का प्रयोग किया जाता है क्योकि जल में घुलनशील क्षमता होती हैजिसके कारण रोगो के उपचार में सहायता मिलती है।जल के द्वारा शरीर ही नही ब्लकि किसी भी पदार्थ को स्वच्छ किया जा सकता है तथा दैनिक कार्यो में भी जल का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। जलमें अग्नि को ग्रहण करने की क्षमता होती है और जल अपना रूप परिवर्तित कर सकता है।जल गर्मी पाकर भाप के रूप में तथा ठंड के कारण बर्फ में परिवर्तित हो जाताहै जो चिकित्सा में अत्यधिक उपयोगी सिद्व होता है।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- जल चिकित्सा के बारे में जानेगें
- जल के प्रकारों का अध्ययन करेगें।
- जल की विभिन्न प्रकार की पट्टियों का अध्ययन करेंगे।

8.3 जल तत्व चिकित्सा

जल तत्व की उत्पत्ति आकाश, वायु, अग्नि के प्रादुर्भाव होने के बाद रूप तन्मात्रमय तेज के विकृत होने के बाद रस तन्मात्र से होती है जो अपने शुद्ध स्वरूप में एक ही होता है, परन्तु अन्य तत्वों के मिल जाने से यह कई प्रकार का जैसे मीठा, नमकीन कटुआ, खट्टा, गन्दला आदि हो जाता है। जल के अनेक नाम है जैसे सलिल, नीर, अम्बु, वारि, तोय, पाथ, अमृत आदि वेदों में जल का वर्णन किया गया है।

"आप इध्दा उ भेषजोशपो अर्भाव चाटनी।।
आपस सर्वस्य भेषजो स्तास्ते सुञचन्तु क्षेत्रियात्। (अथर्ववेद 317/5)

अर्थात – जल ही औषधि है जल रोगों को दूर करता है अतः यह जल तुम्हें भी कठिन रोग के पंजे से छुड़ा लें।

हमारे शरीर में लगभग 70 प्रतिषत के बल जल ही होता है, ये अलग बात है कि शरीर के किसी भाग में इसकी मात्रा अधिक होती है तो किसी में कम जैसे– मस्तिष्क में 90 प्रतिशत तथा हड्डियों में 25 प्रतिशत। रक्त में 80 प्रतिशत हृदय में 79.5 प्रतिशत फेफड़ों में 79 प्रतिशत जल होता है। इससे प्रतीत होता है कि अन्य तत्वों की अपेक्षा जल तत्व की सर्वोपरि आवश्यकता है। इसके कम हो जाने से देह सूखने लगती है, नाड़ियां जकड़ने लगती हैं, हड्डियां निकल आती हैं, खून गाढ़ा हो जाता है और प्यास व खुश्की आदि को अनेक उपद्रव होने लगते हैं जल शरीर को सींचता है। प्रतिदिन कई सेर पानी लोग पी जाते हैं ताकि शरीर में जल तत्व की स्थिरता बनी रहे ताजे फलों में रहने वाला उपयोगी रसायन हमारे शरीर का पोषण करते हैं साथ ही भीतरी अंगों में जो विकृतियां उत्पन्न होती हैं वे पसीने मूत्र तथा अन्य मलों के साथ बाहर निकलती रहती है। जैसे वर्षा से पौधे प्रफुल्ल एवं चैतन्य होते हैं और पानी के अभाव में वे कुम्हलाते एव सूखते हैं। यही हाल हमारे शरीर का भी है। पर्याप्त मात्रा में उचित विधि से यदि अंग प्रत्यंगों को जल प्राप्त होता रहे तो शरीर की दृढ़ता तथा स्वास्थ्यता ठीक प्रकार से बनी रहती है। जल द्वारा रोगों के निवारण में महत्वपूर्ण कार्य होता रहता है। जल में अग्नि को ग्रहण कर लेने की

शक्ति है जिससे रोगोपचार में बड़ी मदद मिलती है। जल अधिक गरमी पाकर भाप बन सकता है और आकाश में विलीन हो सकता है तथा पुनः वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरकर प्राणियों के जीवन रक्षा का कारण बन सकता है। जल शीतलता से अधिक होने पर पत्थर बन जाता है। जल में आग बुझाने की विशेष क्षमता होती है इस लिये जल का प्रयोग ज्वर में भी लाभप्रद होता है। मिट्टी भी आग को बुझा देती है यही वजह है जो जल और मिट्टी का संयुक्त प्रयोग गीली मिट्टी के रूप में शरीर की बढ़ी हुई गर्मी (ज्वर, फोड़े आदि रोगों में) को कम करने में जादू सा काम करता है।

8.4 जल के प्रकार

जल चिकित्सा से पूर्व हमें जल में प्रकारों के विषय में जानना भी आवश्यक है जल मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है।

8.4.1 मृदु जल :– यह वह जल है जिसमें खनिज लवणों की मात्रा या तो नहीं होती या फिर बहुत कम होती है। ऐसे जल में साबुन धुलने पर खूब झाग उत्पन्न होता है। ऐसा जल स्वास्थ्य के लिये उत्तम नहीं होता, इसमें, वर्षा जल, उथले कुओं का जल, बहते नदी या दरिया का जल आदि आते हैं।

8.4.2 अस्थाई कठोर जल :– इस प्रकार के जल को यदि उबाल लिया जाये तो इसकी कठोरता दूर हो जाती है और वह मृदु हो जाता है।

8.4.3 स्थाई कठोर जल :– जो जल हम अपने पीने के लिये प्रयोग करते है उसमें साधारण कठोरता होती है परन्तु जिस जल की कठोरता उस जल को उबालने पर भी दूर नहीं होती, तथा उसकी कठोरता को दूर करने के लिये उसमें अन्य खनिजों को मिलाने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे जल को हम स्थाई रूप से कठोर जल के नाम से जानते हैं। इस प्रकार के जल में चुना आदि खनिजों के मिल जाने से वह कठोर हो जाता हैं। यह स्वास्थ्य के लिये अच्छा होता है। इसकी पहचान यह कि इसमें साबुन मिलाने पर झाग नहीं उठता या कम उठता है। जल के प्रकारों को जानने के बाद अब हम शरीर ठण्डे जल से पड़ने वाले प्रभावों को जानेगें जिन्हें जाने बगैर हम चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

8.5 जल के प्रयोग

ठण्डे पानी का प्रयोग शरीर पर मुख्यतः दो प्रकार से होता है।

- अल्पकालीन प्रयोग
- दीर्घकालीन प्रयोग

8.5.1 अल्पकालीन प्रयोग :– शरीर पर ठण्डे जल के अल्पकालीन प्रयोग के प्रभाव कई प्रकार के होते हैं जिन्हें क्रम से नीचे बताया जा रहा है।

- रक्तचाप में वृद्धि करता है।
- शारीरिक तापमान को बढ़ाता है।
- शारीरिक नस नाड़ियों में उत्तेजना उत्पन्न करता है।
- त्वचा की कार्यशीलता को बढ़ाता है।
- शारीरिक मांस पेशियों में संकुचन पैदा करता है।
- हृदय की क्रिया शीलता में वृद्धि करता है।

- हृदय को मजबूत करता है।
- श्वास की गति को कम करता है।

8.5.2 दीर्घकालिक प्रयोग :– अल्पकालिक प्रभावों की भांति ठण्डे जल के दीर्घकालिक प्रयोग के प्रभाव भी कई प्रकार के हैं।

- दीर्घकालिक प्रयोग से शारीरिक तापमान घटता है।
- रक्तचाप को कम करता है। शरीरस्थ नाड़ियों को संकुचित करता है।
- हृदय की गति को कम करता है।
- त्वचा की कार्यशीलता को कम करता है।

ठण्डे जल से रोगों को आसानी से दूर किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये जल का उपयोग वैज्ञानिक ढंग से करना आवश्यक है।

हम जानते हैं कि इस चिकित्सा के विषय में सभी लोग नहीं जानते। इसलिये वे लोग प्रायः यह सोचते हैं कि एक साधारण जल द्वारा कोई रोग कैसे ठीक किया जा सकता है। ऐसे लोगों को यह बताना आवष्यक है कि यह जल साधारण भले की प्रतीत हो परन्तु इसके प्रभाव अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं जो रोगों को शीघ्र ही दूर कर देते है। हमें केवल इस बात का ध्यान रखना होता है कि हम जल का प्रयोग सावधानी तथा उचित विधि के साथ करें। तथा साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उपचार करते समय रोगी की अवस्था करनी है। अर्थात उसके शारीरिक बल व जीवनी शक्ति मिलनी है इस ज्ञान के अभाव में यह चिकित्सा लाभ के बजाय हानि भी कर सकती है।

ठण्डे जल से उपचार करने पर शरीर को रोगों से लड़ने की शक्ति मिलती है, या फिर ये उपचार विजातीय द्रव्यों को शरीर से बाहर निकाल फेंकने में सहायक होते है। जिससे शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ती है और शरीर रोगों को दूर करने में सफल हो जाता है।

ठण्डे जल के प्रयोग से शरीर की केवल उपरी सतह ही प्रभावित नहीं होती बल्कि इसका असर हमारे शरीर के भीतरी अंगों जैसे – रक्त शिराओ, स्नायु मण्डल, आदि पर भी पड़ता है। जिससे इन अंगों से सम्बन्धित रोग दूर हो जाते है। ठण्डे जल के उपयोग से रोग कैसे दूर हो जाते हैं इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश हम यहां कर रहे हैं।

ठण्डे जल से रोगों के दूर होने का मुख्य कारण जल की अपनी कुछ विशेषताओं का होना है जल में कई आरोग्य कारक गुण है। जो कि चिकित्सा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते है। इन गुणों में से कुछ मुख्य गुणों को यहां बतलाया जा रहा है। जिसमें पहला गुण है – जब जल किसी वस्तु के सम्पर्क में आता है। तो वह अपनी शीतलता उस वस्तु को शीघ्रता से दे देता है और उसकी उष्णता को अवषोशित कर लेता है। दूसरा गुण है – जल किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा गर्मी या ठण्डक को अपेक्षा कृत अधिक समय तक रोक सकता है। तीसरा गुण है – यह तरल पदार्थ होने के कारण चिकित्सा में आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। चौथा गुण है कि जल में अपने साथ अषुद्धियों को बहाकर ले जाने का गुण होता है इसलिये स्नान, व एनिमा आदि में प्रयुक्त होता है। पांचवा व अन्तिम गुण है। हमारे शरीर में ताप को उत्पन्न करना उसका प्रसार करना तथा उसका वहन करना इस प्रकार तीन सिस्टम है। इन्हीं के द्वारा शरीर ये उष्णता उत्पन्न होती है। उसका प्रसारण होता है तथा बहिष्करण होता है जल का प्रयोग इन सभी को प्रभावित करता है। इनमें भी सबसे अधिक प्रभाव उष्मा के बहिष्करण पर पड़ता है।

रोग निवारण हेतु ठण्डे जल का उचित प्रभाव कुछ विशेष स्थितियों में ही पड़ता है इसके लिये कुछ बातों पर ध्यान दिया जाना अनिवार्य है।

- ठण्डे जल का प्रयोग त्वचा के एक छोटे से हिस्से पर किया जाये।
- ठण्डे जल के प्रयोग के लिये चुना गया भाग शरीर के लगभग बीच में हो जैसे उदर स्नान आदि।
- ठण्डे जल की मात्रा आवश्यकता से अधिक न हो, तालाब आदि में यह संभव नहीं है।
- ठण्डे जल का दबाव व घर्षण त्वचा पर हो।
- जल का तापमान अत्यधिक कम न हो, तापमान शारीरिक ताप से थोड़ा ही कम होना चाहिये जिसे रोगी आसानी से सहन कर सके। फ्रीज या बर्फ मिला जल प्रयोग नहीं करना चाहिये।

उपरोक्त बातों को जानने के बाद हम जल से भीगी पट्टियों के विषय में जानेगें। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के स्नान हमारे शरीर से मलों को दूर करने व शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों के उपचार में सहायक होते हैं। ठीक उसी प्रकार शरीर के विभिन्न भागों में गीली पट्टियों के प्रयोग से उस स्थान विषेष या फिर पूरे शरीर में स्थित रोगों को दूर किया जा सकता है। ये गीली पट्टियां दिखने में जितनी अधिक साधारण प्रतीत होती है उतनी ही शक्तिषाली व कारगर सिद्ध होती है। जिस प्रकार अनेक स्थानों साधारण दैनिक स्नान, रीड़ स्नान, कटिस्नान, मेहन स्नान, पैर स्नान, सिर स्नान, नेत स्नान आदि का प्रयोग हम रोगों की चिकित्सा हेतु प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत करते है। ठीक उसी प्रकार पट्टियों को गीला करके उनका प्रयोग भी अनेक रोगों के उपचार के लिये किया जाता है।

8.6 जल की मुख्य पट्टियां

अब हम गीली पट्टियों के विषय में अलग–2 चर्चा करके जिससे इनके विषय में और अधिक स्पष्ट रूप से जाना जा सके। जल पट्टियां मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है 1. जल की ठण्डी पट्टी 2. जल की गर्म पट्टी।

8.6.1 जल की ठण्डी पट्टी :– ठण्डी जल पट्टी के लिये देने के लिये सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि पटटी कैसी होनी चाहिये अर्थात उसके लिये किस प्रकार के कपड़े का उपयोग करना चाहिये ? उसकी चौड़ाई कितनी रखनी चाहिये ? मोटाई कितनी रखनी चाहिये ? तथा कितने समय तक रखनी चाहिये ? आदि यहां हम पहले इन्हीं प्रष्नों के उत्तरों को जानने की कोषिष करेगें, तत्पष्चात इसके चिकित्सीय गुण की चर्चा करेगें।

हमारा पहला प्रश्न है कि जल पट्टी के लिये किस कपड़े का उपयोग किया जाये ? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि पट्टी सदैव ही खादी के कपड़े की प्रयोग की जाये इसका कारण यह है कि खादी में जल को खोखने व उसे अधिक देर तक रोके रखने की क्षमता होती है। अन्य कपड़ों में यह गुण अपेक्षाकृत कम होता है। जिससे बार–बार पट्टी बदलना या गीला करना पड़ता है। पट्टी बचाने के लिये घरेलु उपयोग की वस्तुओं जैसे खादी की धोती, पलंग की चादर आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि पट्टी की चौड़ाई इतनी होनी चाहिये कि वह रोगी अंग अलावा भी काफी स्थान घेर सके। जैसे यदि कोहनी पर पट्टी लगानी है तो कुछ हिस्सा

कोहनी से नीचे व कुछ हिस्सा कोहनी से ऊपर ही रहना चाहिये। अंग विशेष के आधार पर चौड़ाई होनी चाहिये। अब हम तीसरे प्रश्न के उत्तर पर आते हैं पट्टी की मोटाई के लिये कोई कड़ा नियम या माप नहीं है परन्तु सुविधा और उसके उचित प्रभाव के लिये पट्टी कम से कम आधा से पौन इंच तक मोटा चखना चाहिये। इसका सीधा सा लाभ यह है कि पट्टी मोटी होने के कारण जल्दी से सूखती नही हैं और लगभग आधा घण्टा तक चल जाती है। उसके बाद ही पड़ी बदली या फिर उसी को फिर से गीला किया जाता है।

पट्टी के उपयोग करने का कोई समय भी निश्चित नहीं किया जा सकता, इसका प्रयोग तब तक किया जा सकता है, जब तक कि रोग दूर न हो जाये। हालांकि यह अत्यधिक लाभकारी है। परन्तु इसका प्रयोग लगातार बहुत अधिक समय तक नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से उस स्थान में रक्त का प्रवाह कम हो सकता है। या फिर रूक भी सकता है इससे बचने के लिये बीच–2 में 5–10 मिनट के लिये पट्टी को खोलकर उस स्थान को सुखाकर और रगड़कर गर्म कर लेना चाहिये, यदि रगड़ना संभव न हो जैसा कि चोट लगने पर या हड्डी टूटने पर अधिक दर्द होने की स्थिति में होता है तो उस स्थान पर गर्म सेंक देकर गर्म करना चाहिये। तत्पश्चात पट्टी का प्रयोग दोबारा करना चाहिये।

ठण्डी पट्टी का प्रयोग (Use of cooting wet bandage) :– इस पट्टी का प्रयोग प्रत्येक दर्द, जलन, टपकन, सोथ, चोट, ज्वर जहरीले जानवरों के काटने, मधुमक्खी या ततैया के डंक मारने, हड्डी टूटने, मोच आने तथा फोड़े आदि पर इसका प्रयोग लाभ के साथ किया जा सकता है। दर्द जितना ही अधिक हो पट्टी की मोटाई भी उतनी ही अधिक होनी चाहिये। जैसे हड्डी के टूटने पर जो पीड़ा होती है। वह असहाय होती है। इस अवस्था में इस पट्टी का उपयोग करके पहले पीड़ा को दूर करना चाहिये तदोपरान्त टूटी हड्डी को ठीक से बैठाकर उस पर लकड़ी की खपच्ची बांधकर फिर से इस ठण्डी जल पट्टी को बांध देना चाहिये। यदि दर्द अत्यधिक हो तो पट्टी लगे स्थान को जल से भरे एक बर्तन में डुबो देना चाहिये साथ ही बीच–बीच में हाथ से दबा–दबा कर उसे निचोड़ते भी रहना चाहिये। ताकि पट्टी में निरन्तर ठण्डे जल का प्रवाह बना रहे और त्वचा के सम्पर्क में आकर गर्म हुए जल को त्वचा से दूर किया जा सके। जिससे दर्द को जल्दी दूर करने में सहायता मिल सके। जब दर्द बहुत अधिक हो तो अधिक ठण्डा जल प्रयोग में लाना चाहिये। परन्तु कभी–कभी ठण्डे से ठण्डा जल प्रयोग करने पर करने पर भी दर्द में कमी नहीं आती तो ऐसी स्थिति में पट्टी को निकालकर पुनः पूरे अंग पर लगाना चाहिये। कभी–2 पट्टी के अधिक कसते रहने से भी पीड़ा होती है अतः ऐसी स्थिति में पट्टी को ढीला कर लेना चाहिये अन्यथा पीड़ा बढ़ती जायेगी। इस प्रकार पट्टी बांधकर हर आधे घण्टे में उसे तर करते रहना चाहिये यदि तब भी दर्द कम न होने पाये तो पट्टी लगे समूचे अंग में पानी की धार लगातार डालनी चाहिये और यह प्रक्रिया तब तक दोहरानी चाहिये जब तक कि दर्द कम न हो जाये। ऐसे करने से निश्चय ही दर्द ठीक हो जाता है बस इस बात का ध्यान रहे कि जल की धार केबल दर्द वाले स्थान पर ही न पड़कर पूरे अंग पर पड़े। यदि तब भी किसी कारणवश दर्द कम न हो तो गर्म तथा ठण्डा जल बारी–बारी से प्रयोग करने पर दर्द अवश्य चला जायेगा। यद्यपि ठण्डी जल पट्टी अत्यधिक लाभकारी है परन्तु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि इसका प्रयोग लम्बे समय तक लगातार नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे रक्त प्रवाह के रूकने से अंग सुन्न पड़ सकता है।

ठण्डी जल पट्टी का प्रयोग खुले जख्म पर भी किया जा सकता है। किन्तु इसमें थोड़ी सावधानी अपेक्षित है इसके लिये पहले जख्म पर नारियल या अन्य मीठे तेल से भीगा साफ सूती वस्त्र का टुकड़ा रख देना चाहिये। चोट लगने की अवस्था में यदि रक्त बहना बन्द न हो रहा हो तो भी इसका प्रयोग लाभ के साथ किया जा सकता है। इससे रक्त का टपकना शीघ्र ही बन्द हो जाता है। इन सभी के अतिरिक्त ठण्डी जल पट्टी का प्रयोग वृहद रूप से किया जा सकता है और स्वास्थ्य लाभ लिया जा सकता है। अब हम आगे जल की गर्म पट्टी की चर्चा करेंगे जो ठण्डी जल पट्टी जैसी ही होती है इनमें मामूली सा फर्क होता है।

8.6.3 जल की गर्म पट्टी :–जल की ठण्डी पट्टी लगाने के बाद यदि हम उसके ऊपर कोई गर्म कपड़ों की पट्टी को लपेट देने से वह जल की गर्म पट्टी कहलाती है। यदि हम यह आने की ऊपर गर्म कपड़ा लपेटने से ही अन्दर की ठण्डी जलपट्टी गर्म होती है तो यह धारणा मिथ्या है। वास्तव में अन्दर की ठण्डी जल पट्टी के गर्म होने का शरीर का ताप है इसी के कारण यह गर्म होती है और सूखती है।

इस पट्टी में एक अन्तर यह भी है कि इसे ठण्डी जल पट्टी जितना नहीं भिगोया जाता कि इससे जल टपकता रहे। बल्कि इसे भिगोकर फिर निचोड़कर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार निचोड़कर लगाई हुए ठण्डी जल पट्टी के उपर फलालैन या किसी ऊनी कपड़े की पट्टी को 2 या 3 तह करके इस प्रकार लगाया जाता है कि यह सूखी गर्म पट्टी ठण्डी जल पट्टी से 2–1–1 इंच चारों तरफ बढ़ी रहे। इस प्रकार लगी अन्दर की ठण्डी पट्टी जब गर्म हो जाती है और उसका जल सूख जाता है। तब ऊपरी सूखी पट्टी को हटाकर अन्दर की पट्टी को फिर से भिगो दिया जाता है और पुनः ऊपर से गर्म पट्टी लगा दी जाती है। यह पट्टी लगभग 45 मिनट से डेढ़ घण्टे तक रखी जाती है तत्पष्चात इसे हटाकर बदल दिया जाता है।

रोगी की दशा को देखते हुए और देश काल का ध्यान रखते हुए पट्टी मोटी या पतली लगाई जाती है यदि रोगी सबल हो तथा ज्वर अधिक हो तो गीमी पट्टी की आवश्यकता उतनी ही अधिक होती है। इसके ऊपर सूखी पट्टी की मोटाई कम होनी चाहिये। यदि किसी ऐसे रोगी का उपचार करना जो निर्बल हो या रोगी को नींद लाना हो या दबे रागों को उभारना हो तो केवल एक तह की ठण्डी जल पट्टी के ऊपर दो तीन तह गर्म सूखी पट्टी की लगाने से भी काम चल जाता है क्योंकि यह शारीरिक प्रतिक्रिया के लिये काफी होती है।

इसके अलावा यदि चेचक तथा तेज ज्वर आदि अधिक ताप वाले रोगों में पट्टी को जल्दी बदलने की आवश्यकता होती है क्योंकि शारीरिक ताप अधिक होने के कारण पट्टी पर उपस्थित जल तेजी से वाष्पित हो जाता है। इस अवस्था में पट्टी को जल्दी तो बदलना पड़ता ही है साथ एक बार तभी पट्टी को साफ करके धूप में सूखाने के बाद ही प्रयोग करना चाहिये इसके लिये एक ही नहीं बल्कि काफी ठण्डी जल पट्टीयों की व्यवस्था पहले से ही कर लेनी चाहिये।

जब भी पट्टी बदली जाये तो पट्टी वाले स्थान को गीले निचोड़े हुए तौलिये से रगड़–रगड़ कर साफ करना चाहिये। ऐसा करने से त्वचा से सतह पर आये हुए विजातीय द्रव्य या मल आदि अच्छी तरह से साफ हो जाते हैं। शरीर की जीवनी शक्ति व चुम्बकीय शक्ति बढ़ जाती है। जिससे शरीर की स्वाभाविक क्रिया सुचारू रूप से चलने लगती है।

इस पट्टी का प्रयोग विषेष रूप से बिना दर्द की अवस्था में तथा पुराने रोगों में लाभ करता है।

ठण्डी जल की पट्टी हो या गर्म जल की पट्टी दोनों में ही शारीरिक गर्मी को शान्त करने की अत्यधिक क्षमता होती है बढ़ी हुई शारीरिक गर्मी के साथ ही यह जकड़न के स्थानों की रूकावटों को भी दूर करती है दर्द व ज्वर को कम करके रोगी की घबराहट को दूर करने के लिये ये पट्टीयां अद्वितीय है।

8.7 जल की पट्टियों का प्रयोग

इन दो प्रमुख प्रकार की पट्टीयों के विषय के जानने के बाद अब हम विभिन्न प्रकार की गीली पट्टीयों के विषय में जानेगें। इन पट्टीयों के प्रमुख प्रकार नीचे दिये जा रहे हैं। जिनका हम क्रमिक अध्ययन करेगें तथा इनके लाभों को भी जानेगें।

- पेडू की गीली पट्टी
- कमर की गीली पट्टी
- धड़ की गीली पट्टी
- छाती की गीली पट्टी
- सिर की गीली पट्टी
- गले की गीली पट्टी
- जोड़ों की गीली पट्टी
- पूरे शरीर की गीली चादर की लपेट

8.7.1 पेडू की गीली पट्टी :– सम्पूर्ण पेडू क्षेत्र व नाभी के एक इंच ऊपर तक सूती कपड़े की गीली पट्टी को बांधकर फिर उसके ऊपर ऊनी कपड़ा लपेटने को पेडू की गीली पट्टी कहा जाता है। डॉ0 विल्ज जो कि जर्मनी के प्रसिद्ध प्राकृति चिकित्सक थे ने कहा था कि पेडू की गीली पट्टी लगभग सभी रोगों की एक राम बाण दवा है। क्योंकि यह स्थान ही मुख्य रूप से मलोत्सर्जन के लिये उदरर्यान है। यदि हमारी आंते व वृक्क स्वस्थ हों तो मल का उत्सर्जन भली भांति होगा जिससे शरीर में विषों का जमाव नहीं हो पायेगा जो कि लगभग सभी रोगों का कारण बनता है।

- **पेडू की गीली पट्टी के लाभ :–**

ज्वर की अवस्था में यह पट्टी काफी उपयोगी है ज्वर की दषा में दिन में 4–5 बार तक इस पट्टी का प्रयोग किया जा सकता है। तथा यह क्रिया ज्वर के ठीक होने तक दोहरानी चाहिये, इसके अलावा पेट सम्बन्धी सभी प्रकार की खराबियां, स्त्रियों के गुप्त रोग, पेट के भीतर की नमी या पुरानी सूजन, अर्जीर्ण, अनिद्रा तथा अतिसार या पुरानी पेचिष में भी इससे आशातीत लाभ होता है।

सावधानी :–यदि पट्टी देने से पूर्व पेडू गर्म न हो तो उस स्थान को रगड़–रगड़ कर अवश्य गर्म कर लेना चाहिये, तभी गीली पट्टी का प्रयोग करना चाहिये।

8.7.2 कमर की गीली पट्टी :–कमर की गीली पट्टी के लिये सर्वप्रथम आवश्यकतानुसार 8 से 10 इंच (शरीर की लम्बाई के हिसाब से घटाया बढ़ाया जा सकता है) चौड़े और आवश्यकता अनुसार लम्बे एक सूती कपड़े की पट्टी को ठण्डे पानी में भिगो कर और फिर निचोड़कर नाभी से पांच अंगुल ऊपर से लेकर सारे पेडू प्रदेश व कमर पर लपेट देना

चाहिये। रोगी के शरीर का ताप मान जितना अधिक हो पट्टी की मोटाई भी उतनी अधिक रखनी चाहिये। यह एक नियम है परन्तु साधारण अवस्था में पट्टी को 3–4 बार घुमाकर बांधना काफी होता है। इसके बाद इसके ऊपर ऊनी कपड़ा लपेट देना चाहिये। जिससे बाहर की वायु अन्दर पट्टी में प्रवेश न कर पाये। इस ऊनी पट्टी को इस प्रकार लगायें कि यह अन्दर की पट्टी को पूरी तरह ढककर रखे तथा सरकने न पाये इसे सरकने से रोकने के लिये सेफ्टी पिन या फिर किसी अन्य डोरी आदि से बांधा जा सकता है।

कमर की गीली पट्टी से लाभ :–यह पट्टी विशेष रूप से पुरानी कब्ज, दस्त आदि पेट से सम्बन्धित बिमारियों में प्रयुक्त होती है। इस पट्टी को खाली पेट या खाने के 2–3 घण्टे बाद लगाया जा सकता है। यदि आवृत्ति की बात करें तो दिन में दो बार सुबह और शाम को इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसके अलावा रात को सोते समय भी इसका प्रयोग लाभकारी सिद्ध होता है। इसे रात भर लगे रहने देना चाहिये तथा सुबह ही हटाना चाहिये, तथा उस स्थान को रगड़कर गर्म अवश्य कर लेना चाहिये। पेडू से ऊपर से नीचे के अवयवों के रोगों में इसे आवश्यकतानुसार ऊपर या नीचे बांधना चाहिये यदि रोग पाकस्थली तथा लीवर में है तो पट्टी से इन दोनों स्थानों को ढककर कुछ और ऊपर देना चाहिये, स्त्रियों में होने वाले जरायु आदि रोगों में नाभी से नीचे पूरे पेडू प्रदेष में यह पट्टी बांधनी चाहिये। कभी–कभी कुछ रोगी कटि स्नान लेने में समर्थ नहीं होते तो ऐसे रोगियों के लिये कटि स्नान के स्थान पर यह पट्टी दी जा सकती है। यह भी कटि स्नान के ही समान लाभ पहुंचाती है।

यदि पाकस्थली बढ़ गयी हो या झूलने लगी हो, अजीर्ण हो आंत में घाव हो, या सूरज हो, तथा मेरूदण्ड में दर्द हो तो इस पट्टी का प्रयोग लाभ के साथ किया जा सकता है। ज्वर की स्थिति में इस पट्टी का प्रयोग नहीं किया जाता उसमें पेडू की पट्टी ही उत्तम रहती है। इसका एक विशेष लाभ यह भी है कि इसमें पट्टी लगाकर ऊपर से कपड़े पहनकर अपने दैनिक कार्यो को किया जा सकता है। जिससे इसमें लगने वाले समय की भी बचत हो जाती है।

8.7.3 धड़ की गीली पट्टी :– यह पट्टी छाती से हंसुली तक दी जाती है जिससे छाती से लेकर पूरा पेडू प्रदेश भी ढक जाता है। तो इसे धड़ की गीली पट्टी कहते हैं।

धड़ की गीली पट्टी से लाभ :– पेडू का पेट में पीड़ा अथवा सूजन होने पर, योनि में सूजन होने पर तथा प्लीहा आमाशय व यकृत से सम्बन्धित रोगों में यह पट्टी लाभ के साथ दी जाती है। पट्टी के सूखने पर उसे बदल देना चाहिये। तथा साथ ही इस पट्टी को लगाने के बाद किसी कम्बल या गर्म ऊनी वस्त्र से शरीर को ढकना आवष्यक होता है। यह कम्बल शरीर के चारों ओर समान रूप से लिपटा होना चाहिये।

8.7.4 छाती की गीली पट्टी :–छाती की गीली पट्टी लगाने के लिये सर्वप्रथम एक मोटा सूती वस्त्र लेना चाहिये जिसकी चौड़ाई छाती की चौड़ाई के बराबर हो तथा लम्बाई इतनी होनी चाहिये कि वह छाती में इर्द–गिर्द लपेटी जा सके। इस पट्टी को ठण्डे जल से भिगोकर तथा फिर निचोड़कर पूरी छाती पर पसलियों को अच्छादित करते हुए थोड़ा नीचे तक उसे 3–4 तह करके लपेटा जाता है। तथा इसके बाद एक ऊनी कपड़ा इसके ऊपर लपेट दिया जाता है। इस पट्टी को इसी अवस्था में 3–4 घण्टे तक रखा जा सकता है।

छाती की गीली पट्टी से लाभ :–यह छाती से सम्बन्धित लगभग सभी रोगों में जैसे तेज व पुरानी खांसी, निमोनिया, फेफड़ों का भक्ष्मा आदि में लाभकारी सिद्ध होती है। इस पट्टी को

लगाने से छाती में दीर्घकाल से जमा हुआ कफ ढीला होकर उखड़ने लगता है, जिससे यह पुरानी से पुरानी खांसी और दमा के स्थिति में काफी लाभकारी सिद्ध होती है।

इस पट्टी का प्रयोग करते समय रोगी की स्थिति का भी ध्यान रखना चाहिये यदि रोगी सामान्य दे तो इस पट्टी का प्रयोग सीधे किया जा सकता है। परन्तु यदि रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तो पट्टी लगाने से पहले उसके हृदय को बचाकर अन्य स्थान पर गर्म जल से हल्की सेंक देनी चाहिये या फिर पट्टी लगाने में ठण्डे जल के बजाये गुनगुने जल का प्रयोग करना चाहिये ऐसा करने से रोगी को ठण्ड लगने का खतरा नहीं रहता है। यह पट्टी अन्य दशाओं जैसे फेफड़ों से रक्त गिरने तथा कैबिटी भरने में भी उपयोगी है। रक्त गिरने की दषा में इस पट्टी का प्रयोग अधिक समय तक नहीं करना चाहिये। परन्तु कैबिटी होने की दशा में इस पट्टी का प्रयोग अधिक समय तक किया जाना चाहिये।

8.7.5 सिर की गीली पट्टी :– सिर की पट्टी को लगाने के लिये सबसे पहले खद्दर का एक तह का कपड़ा लिया जाता है। जो पूरे सिर को ढक सके। अब उस कपड़े को ठण्डे जल में भिगोकर तथा धीरे से निचोड़कर सिर के पीछे गर्द तथा कानों को ढकते हुए आगे लाकर आंखों के ऊपर भी लपेट देते हैं। इसमें पूरा सिर कपड़े से लिपटा होना चाहिये फिर इस पूरी पट्टी को एक गर्म ऊनी कपड़े से ढक दिया जाता है। ढकने के लिये ठण्डी पट्टी की ही भांति इसे भी उसके ऊपर से लपेटा जाता है। जिससे बाहरी वायु अन्दर प्रवेश न कर पायें, यही सिर की गीली पट्टी कहलाती है।

सिर की गीली पट्टी के लाभ :–इस पट्टी के प्रयोग से सिर दर्द सिर में जकड़न तथा कर्णशूल (कान का दर्द) आदि शांत होते हैं, मानसिक तनाव व अनिन्द्रा आदि की स्थिति में भी इस पट्टी का प्रयोग किया जा सकता है।

8.7.6 गले की गीली पट्टी :– इस पट्टी के लिये अन्य पट्टीयों के समान ही कपड़ा प्रयोग किया जाता है तथा इसकी चौड़ाई लगभग 4 से 4.5 इंच व लम्बाई लगभग 32 इंच रखी जाती है। इसे लगाने की विधि की अन्य पट्टीयों की ही भांति हैं। इसमें कपड़े भिगोकर फिर निचोड़कर गले के चारों ओर कई तहों में लपेटा जाता है तथा ऊपर से कोई गर्म कपड़ा आदि लपेट दिया जाता है। इस पट्टी का प्रयोग आधे से एक घण्टे तक किया जा सकता है। फिर आवश्यकतानुसार इसे बदला जा सकता है।

गले की गीली पट्टी से लाभ :– इस पट्टी का प्रभाव लगभग पूरे शरीर पर पड़ता है। यह पट्टी गले से ऊपर के भाग तथा नीचे के भाग की अनावश्यक गर्मी को आसानी से खींच लेती है।

इस पट्टी के प्रयोग से कई रोग जैसे– सर्दी जुकाम, साधारण खांसी, टॉसिल्स, गले की या गले के आस–पास की सूजन, कुकर खांसी, सिर दर्द तथा बैचेनी आदि की दशा में इस पट्टी का उपयोग बड़ा लाभकारी होता है। यह गीली चादर की लपेट के साथ भी प्रयोग की जा सकती है।

8 7.7 जोड़ों की गीली पट्टी :–जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस पट्टी का प्रयोग शरीरस्थ जोड़ों पर किया जाता है। शरीर के जिस भी जोड़ में दर्द या सूजन आदि हो, उस जोड़ पर एक सूती कपड़े को भिगोकर निचोड़कर तथा इस कपड़े की कई तहें बनाकर रख दें तथा ऊपर से कोई गर्म ऊनी वस्त्र लपेट दें जैसा अन्य सभी पट्टीयों में किया जाता है।

जोड़ों की गीली पट्टी से लाभ :– इस पट्टी को लगाने से जोड़ों में उपस्थित सूजन व जोड़ों में उपस्थित सूजन व जोड़ों में होने वाला दर्द तथा गठियां आदि शीघ्र दूर हो जाते है। सूजन में यह पट्टी विशेष लाभ देती है। उपरोक्त की ही भांति में सभी गीली पट्टीयां सभी प्रकार के स्थानीय विकारों में जैसे – हाथ, पैर, सिर, आंख आदि में अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होती है। इन पट्टीयों में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि इसके ऊपर गर्म ऊनी कपड़ा अवश्य ही लपेटा जाय तथा पट्टी निकालने के बाद उस स्थान को रगड़कर या गर्म। सेंक देकर गर्म करना भी आवश्यक होता है।

8.7.8 पूरे शरीर की गीली चादर की लपेट :– गीली चादर की लपेट कोई नयी तकनीक या विधि है यह प्राचीन काल से ही प्रयोग की जाती रही है। क्योंकि पहले प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचलन अधिक नहीं था लोग इसके विषय में अधिक नहीं जानते थे इसलिये यह समय के साथ–साथ धीरे प्रचलन में आने पर प्रसिद्ध हुए और आज काफी अधिक संख्या में लोग प्राकृतिक चिकित्सालयों में इस लपेट से लाभ प्राप्त कर रहे हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि यह लपेट नयी नहीं हैं। इस लपेट का सर्वप्रथम प्रयोग लूकरन नामक एक डाक्टर ने अठारहवी शताब्दी के मध्य में किया था। इनके इस प्रयोग के बाद इसके प्रभाव को देखते हुए डॉ0 प्रिस्नेज ने भी इसका प्रयोग करते हुए अनेक रोगियों को रोग मुक्त किया।

इसी कड़ी में गीली चादर की लपेट की उपचारिक प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिये शुल्लेर नामक एक वैज्ञानिक ने इस गीली चादर की लपेट का प्रयोग चूहों पर किया और उससे पाया कि ज्यों ही गीली चादर की ठण्डक की प्रतिक्रिया उन चूहों पर प्रारम्भ हुए उन चूहों के मस्तिष्क के फैली हुई रक्त नालिकाएं धीरे–धीरे सिकुड़ने लगी और कुछ ही समय में मस्तिष्क में सिकुड़ने पड़ गयी यह स्थिति समान्यतः निन्द्रावस्था में आती है। अतः उन्होंने पाया कि गीली चादर जी लपेट द्वारा रोगी के मस्तिष्क के ढांचे की खराबी और उसमें उत्पन्न विकृति को दूर हो सकती है। यदि हम और आधुनिक युग की ओर बढ़े तो इसमें महात्मा गांधी इस लपेट के बहुत बड़े प्रशंसक माने जाते हैं। उन्होंने एक बार यंग इण्डिया में लिखा था कि कैसे उन्होंने इस लपेट की सहायता से अपने बड़े पुत्र मणिलाल के कालाबाजार नामक जानलेवा रोग को दूर किया था।

पूरे शरीर की लपेट लेने के लिये एक साफ सुथरी जगह पर बड़ा हवादार कमरा चुनना चाहिये। यहां पर हवादार से तात्पर्य तेज हवा के बहने से नहीं है बल्कि साधारणतः जो हवा हमारे आसन्यास मौजूद रहती है उसी के मन्दिम बहाव से हैं जिसका साधारणतः हमें अनुभव नहीं होता साधारण भाषा में कहें तो कमरा ऐसा हो जिसमें घुटन का अनुभव नहीं दोपहर के खाने के 2–3 घण्टे बाद यह लपेट ली जा सकती है। इसकी विधि क्या है इसकी चर्चा हम आगे करेगें।

पूरे शरीर की गीली चादर लपटने की विधि :– इस लपेट के लिये एक साफ सुथरा हवादार कमरा चाहिये जैसा पहले कहा जा चुका है। कमरे के चुनाव के बाद एक लगभग 6 फुट लम्बी व लगभग 2 फुट चौड़ी लड़की की बेंच या टेबल होनी चाहिये। अब इस बेंच या टेबल पर एक 6 फुट लम्बी (रोगी की लम्बाई के अनुसार बढ़ाई घटाई जा सकती है) साफ सूति चादर को इस प्रकार बिछाया जाय कि टेबल पर सिर की तरफ रख पतला तकिया लगभग एक तिहाई ढक जाये, अब इस सूती चादर के ऊपर रोगी को ओढ़ाने के लिये दो तीन कम्बल (आवष्यकतानुसार बढ़ाये जा सकते हैं) बिछा दिये जाते हैं। ये कम्बल

इस प्रकार बिछाये जाते हैं कि में कम्बल टेबल तीन तरफ दांये, बांये और पैरों की ओर लगभग 2–2 फुट लटकते रहे। तथा तकिये की तरफ रखी चादर से 2–3 इंच नीचे खिसकाकर रखे जायेगें। अर्थात जो चादर कम्बलों के नीचे बिछी है वह सिर की तरफ 2–3 इंच दिखाई देगी।

इन सबके पश्चात एक सूती चादर जो 6 फुट लम्बी तथा 3 फुट चौड़ी हो को भिगोकर निचोड़कर सावधानी से इन कम्बलों के ऊपर बिछा दें ध्यान रहे सिर की ओर का किनारा कम्बलों से 1–2 इंच नीचे रहे कभी–कभी आवश्यतानुसार एक और पतली चादर का टुकड़ा भिगोकर तथा निचोड़कर इस चादर के ऊपर बिछा देना चाहिये। इस छोटी चादर को सर्वप्रथम छाती पर डाला जाता है। इस चादर से गले से लेकर पैरों तक का भाग ढका जाता है।

इस प्रकार चादर बिछा देने के बाद रोगी को इसके ऊपर इस प्रकार नग्न अवस्था में लिटाया जाता है। कि गीली चादर का 2 या 3 इंच हिस्सा रोगी के कंधों से ऊपर रहे। चादर को लपेटने से पूर्व रोगी के हाथों को ऊपर करवा लें तथा चादर को एक ओर से उठाकर रोगी के बगल से ले जाते हुए उसके शरीर को अच्छी तरह से ढक दें। ढकते समय चादर को भली भांति छाती, बगल तथा पेट पर चिपका देना चाहिये इसी से नीचे एक पैर को भी अच्छी तरह से चादर को पैर से चिपकाते हुए ढक देना चाहिये। इस बात का विषेष ध्यान रखना चाहिये कि चादर शरीर पर अच्छी तरह बिल्कुल चुस्त बस्त की भांति चिपकी हो तथा पैंरो के तलवों पर भी यह इसी प्रकार चिपकी रहनी चाहिये।

इस अवस्था में अभी दूसरा पैर खुला रहेगा, अब रोगी के दूसरी तरफ से जाकर रोगी दोनों हाथ बगल से सटा दें और पहले की तरह पैर को ढकते हुए छाती, बगल, पेट आदि को चादर से चिपकाते हुए अच्छी तरह ढक दें गले की तरफ चादर को इस प्रकार लगायें जैसा कि नाई लोगों के बाल काटते समय लगाता है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि जिससे चादर के ऊपर से खुले होने के कारण बाहरी वायु भीतर प्रवेश न कर पाये। इस प्रकार लपेटी हुई भीगी चादर रोगी के सम्पूर्ण शरीर पर अच्छी तरह से चिपक जाती है। तथा किसी भी भाग से बाहरी वायु भीतर नहीं जाने पाती है।

अब बारी आती है कम्बलों को लपेटने की रोगी के गीली चादर से पूरी तरह लिपट जाने के बाद कम्बलों को बारी–बारी से दोनों ओर से रोगी के शरीर पर कस कर ओढ़ा देते है। इसी प्रकार दूसरे तीसरे कम्बल को भी ओढ़ा दिया जाता है। तथा के साथ दवा दिया जाता है। कंधे को ढकते समय यह देख लेना चाहिये कि गले पर लिपटी चादर अच्छी तरह से ढकी रहे। अन्त में कम्बल का जो सिरा पैरों की तरफ लटक रहा है। उसे उठाकर रोगी पैरों पर डाला है।

जब रोगी को गीली चादर कर लिटाया जाये इससे पहले रोगी का सिर, गर्दन और उसका चेहरा ठण्डे पानी से अच्छी तरह धो देना चाहिये तथा साथ ही थोड़ा गुनगुने पानी में 10–12 बूंदे नींबू को मिलाकर रोगी को पिला देना चाहिये। यदि रोग ऐसा हो जिसमें पसीना अधिक निकालना हो तो हर आधे घण्टे के अन्तराल में रोगी को आधा गिलास हल्का गरम पानी पिलाते रहना चाहिये लपेट पूरी कर लेने के बाद रोगी के लिये पर एक भीगा तौलिया रख देना चाहिये। तथा उसे ऐसे ही रखा रहने देना चाहिये तथा बार–बार इसमें ठण्डा जल डालते रहना चाहिये। रोगी को शीघ्र पसीना निकालने के लिये गर्म पानी की बोतलों का प्रयोग किया जा सकता है। ये बोतलें रोगी की चादर के नीचे तथा उसके

पैरों रखी जाती है। इस प्रकार बोतलों के प्रयोग से जाड़ों के दिनों में भी शीघ्र ही पसीना निकलने लगता है। आवश्यकतानुसार कम्बलों की संख्या को भी बढ़ाया जा सकता है।
उपरोक्त विधि से रोगी को गीली चादर की लपेट देने के बाद 5–10 मिनट में ही रोगी को पसीना होना शुरू हो जाता है। तथा लपेट के भीतर ही रोगी को एक हल्की सुखदायक गर्मी का अनुभव होना शुरू हो जाता है और इसी हल्की गर्माहट के कारण प्रायः रोगी को नींद आने लगती है। यदि काफी देर तक लपेट के भीतर पड़े रहने पर भी रोगी को पसीना नहीं आता तो इसका मतलब यह है कि गीली पट्टी कहीं पर शरीर से चिपकने से रह गयी है। ठण्डी चादर के शरीर पर चिपककर रहने के कारण शरीर की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप चादर के भीतर तेज गर्मी उत्पन्न होनी चाहिये थी। परन्तु इसके विपरीत शरीर की गर्मी के कारण चादर की नमी आप में बदलकर शरीर के उस हिस्से को गर्म करने के बजाये ठण्डा कर रही है। इस कारण शरीर के एक हिस्से में उत्पन्न हुई ठण्डक पूरे शरीर में फैलकर शरीर को ठण्डा कर देती है। जिससे रोगी सुख के बदले कष्ट का अनुभव होता है। ऐसी अवस्था में आवष्यकतानुसार रोगी के बवाल में पानी की गर्म बोतलें रख देनी चाहिये। तथा एक दो और कम्बल ओढ़ा देना चाहिये।
इस लपेट को रोगी की शारीरिक क्षमता के हिसाब से दिया जाता हैं यदि रोगी सामान्य है तब तो साधारण नियम ही अपनायें जाते हें परन्तु यदि रोगी अत्यधिक दुर्बल हो तथा स्नायुदोर्बल्य के कठिन रोग से उसे अधिक परेषानी हो तो उस रोगी के हाथ चादर की लपेट के बाहर रखे जा सकते हैं। परन्तु उस अवस्था में भी उसके हाथों के कम्बलों के अन्दर ही रखना होता है। जिससे उसे ठण्ड न लगने पाये। तथा इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि ऐसे रोगी को यह लपेट अधिक देर तक न दी जाये। जिससे उसके शरीर से अधिक देर तक पसीना न निकलता रहे।इस लपेट का कोई विशेष समय निर्षिचत नहीं है। यह रोगी की दषा पर निर्भर करता है जब तक रोगी को सुख का अनुभव होता रहे तब तक इसे रखा जा सकता है। या फिर 15 मिनट से आधा घण्टा या फिर एक घण्टे तक भी रख सकते है।
इस प्रकार जब रोगी असहज महसूस करे या फिर उसके शरीर से पर्याप्त पसीना निकल चुका हो तो इस लपेट को हटाकर रोगी के शरीर को गीले निचोड़े हुए तौलिये से पोंछ देना चाहिये जिस आम तौर पर स्पंजबाथ भी कहते हैं। यदि रोगी ठीक अवस्था में है तो उसे ठण्डे पानी से पूरा स्नान कराना चाहिये अथवा रोगी के पेडू मे भीगा तौलिया रखकर उसे बीच–बीच में बदलते रहना चाहिये। इस प्रक्रिया के दौरान इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये की रोगी को ठण्ड न लगने पाये जहां पर यह स्नान दिया जा रहा हो वहां पर हवा के झोंके न आ रहे हों।
स्पंजबाथ या फिर पूर्ण स्नान देने के बाद रोगी के शरीर को अच्छी तरह से पोंछ कर सूखा कर उसे कम्बल या रजाई के अन्दर लगभग एक घण्टे तक रखना चाहिये ताकि उसका शरीर गर्म हो जाये। इसकी आवष्यकता इसलिये पड़ती है क्योंकि रोगी के शरीर से पर्याप्त पसीना निकलने के बाद यदि उस पर उपरोक्त ठण्डे प्रयोग (स्पंजवाथ, पूर्ण स्नान, पेडू की पट्टी) किये जाते हैं तो रोगी को चक्कर आने की संभावना रहती है और उसकी कमजोरी और अधिक बढ़ जाती है। इस दषा में यदि रोगी सबल है और तो वह बैठकर अपने हाथों से अपने शरीर को रगड़–रगड़ कर गर्म कर सकता है या फिर कुछ देर हल्की धूप में टहल भी सकता है। जिससे इसका शरीर अपने आप ही गर्म हो जाता है।

पूरे शरीर की गीली चादर की लपेट से लाभ :– यह लपेट शरीर से रोग विष को तो निकालती है साथ ही स्नायुओं के केन्द्र को भी शीतल करती है और जीवनी शक्ति को भी बढ़ाती है। इस लपेट के द्वारा निमोनिया तथा हृदय गति रूकने जैसे रोग दूर हो जाते है। ठण्डे जल के स्नानों से भी यह लपेट अधिक लाभकारी है। ज्वर आदि में ठण्डे स्नानों की तुलना में इसका असर अधिक देर तक रहता है।

इस लपेट को ठण्डी लपेट के बजाये गर्म लपेट कहा जाये तो गलत नहीं होगा। क्योंकि शरीर से लिपटने के कुछ ही समय तक यह ठण्डी रहती है तथा कुछ ही समय में शरीर के ताप से गर्म हो उठती है और रोगी को पसीना आने लगता है। जिस प्रकार भाप स्नान में पसीना निकाला जाता है। उसी तरह इसमें भी पसीना निकालकर ही उपचार किया जाता है। परन्तु भाप स्नान की तरह इसमें शरीर में अत्यधिक गर्म नहीं किया जाता बल्कि ठण्डी लपेट देकर ही पसीना निकाला जाता है। इसलिये इस लपेट को भाप स्नान से उत्तम समझा जाता है। क्योंकि भाप स्नान निर्बल रोगियों के लिये कठिन होता है। परन्तु गीली चादर की लपेट सबल और निर्बल दोनों प्रकार के रोगियों को समान रूप से दी जा सकती है। और सभी इसका लाभ उठा सकते है।

कई ऐसे रोग है। जिसमें इस लपेट का प्रयोग अत्यन्त लाभ के साथ किया जाता है। इनमें अनिन्द्रा, चर्म रोग, तेज बुखार, कब्ज, दमा, सर्दी जुकाम, ऐसीडिटी, घबराहट, मोटापा, जलन, चेचक, स्वप्न दोष, स्नायु की दुर्बलता, पेट के लगभग सभी रोग, लगभग सभी नयी या पुरानी बिमारियां इसके प्रयोग द्वारा आसानी से ठीक किये जा सकते हैं।

गीली लपेट के ध्यान रखने योग्य बातें :–

1. रोगी का शरीर लपेट लगाने से पहले गर्म होना चाहिये, या फिर उसे किसी तरह गर्म कर लेना चाहिये।
2. यदि रोगी के किसी स्थान में सूजन आदि है। तो उस स्थान पर लपेट के नीचे एक गीली पट्टी अवश्य देनी चाहिये।
3. यदि रोगी के शरीर पर अत्यधिक फोड़े फुंसी हो तो यह लपेट नहीं देनी चाहिये।
4. दमें के रोगी को यह लपेट देते समय उसकी छाती में एक गर्म कपड़ा रखने के बाद ऊपर से लपेट लगानी चाहिये।
5. लपेट रोगी की जीवनी शक्ति के अनुसार देनी चाहिये। यदि रोगी सबल है तो गीली चादर का परिमाण अधिक तथा कम्बलों की संख्या कम होनी चाहिये विपरीत स्थिति में इसका उल्टा होना चाहिये।

अभ्यास प्रश्न–

प्रश्न –1 शरीर पर जल का प्रयोग कितने प्रकार से होता है।

क– एक ख–दो

ग–तीन घ–चार

प्रश्न –2 जल की पटिटयां कितने प्रकार की होती है।

क– एक ख–दो

ग–तीन घ–चार

प्रश्न –3 पेडू की पटटी किस रोग में लाभदायक है। ।

क– कब्ज ख–खांसी

ग–तीर्व रोग घ त्वचा रोग

प्रश्न –4 छाती की पटटी किस रोग में देनी चहिए है
क– दबे रोग ख– त्वचारोग
ग– मानसिक रोग घ–कफ सम्बन्धि रोग

8.8 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सामान्य लगने वाला जल हमारे जीवन में कितना महत्वपूर्ण है। जल को प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत एक औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। जल के माध्यम से प्रयोग की जाने वाली विभिन्न प्रकार की पट्टियां बहुत ही उपयोगी होती है केवल जल की पट्टियों के प्रयोग से कई प्रकार के रोगों में लाभ प्राप्त किया जा सकता है उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है। अतः आप जान गये होगें कि जल की ठंडी पट्टियां कितनी उपयोगी होती है।

8.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1–ख 2–ख 3–क 4– घ

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–जल चिकित्सा –फादर नीफ
2–रोगो की नई चिकित्सा –लूई कूने
3– योग एंव प्राकृतिक चिकित्सा – ब्रहमवर्चस

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.जल के प्रकारों का वर्णन करें।
2.जल के अल्पकालीन प्रयोग से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है।
3.पट्टियों के प्रकार बतलाइये।
4.सम्पूर्ण शरीर की गीली चादर लपेट के लाभ बताइए।

इकाई –9 अग्नि तत्व की विभिन्न रोगो में प्रयुक्त विधियां

9.1 प्रस्तावना
9. 2 उद्देश्य
9. 3 सूर्य किरण चिकित्सा की विधियां
9.3.1 खाध्य पदार्थो के माध्यम से
जल में समाहित करके
तेल में समाहित करके
मिश्री एंव चीनी में समाहित करके
9.3.2 वाह्य प्रयोग के द्वारा
धूप स्नान के माध्यम से
रंगीन कांच के माध्यम से
9. 4 अग्नि तत्व की विभिन्न रोगो में प्रयुक्त विधि
9.4.1 अग्निमांध
9.4.2 कब्ज
9.4.3 अस्थमा
9.4.4 उच्चरक्तचाप
9.4.5 निम्नरक्तचाप
9.4.6 आमवात
9.4.7 वातरक्त
9.4.8 जुकाम
9.4.9 मधुमेह
9.4.10 सरवाइकल स्पोडलाइटिस
9.5 सांराश
9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
9.8 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना–

सूर्य चिकित्सा अर्थात् रंग चिकित्सा शरीर के रोग मिटाने में जितनी प्रभावशाली है उतनी ही मानसिक व भावानात्मक रोगों में आराम पहुॅचाने में लाभकारी है। सात रंगों से बनी सूर्य किरणों के अलग अलग चिकित्सकीय महत्व है। उसके रंग निम्नवत् हैं– बैंगनी, आसमानी, नीला, पीला, हरा, नारंगी तथा लाल। सूर्य की सप्त किरणें अल्ट्रावायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिये बड़ी उपयोगी साबित हुई हैं वे जल के साथ धूप का मिश्रण होने से खिंच आती हैं। धूप में रखकर रंगीन कॉच से संपूर्ण रोगों की चिकित्सा करने तथा अग्नि और जल के सम्मिश्रण से भाप बन जाने पर उसके द्वारा अनेकों रोगों का उपचार किया जाता है। **प्रो0 ऐप्टिम** आकर ने कहा है कि ''कॉच के अथवा अन्य पारदर्शी चीज के बर्तन में यदि दूषित पानी को धूप में रखा जाए तो एक घण्टे के अंदर पानी

बैक्टीरिया विहीन हो जायेगा यदि क्लोरिन युक्त पानी को धूप में रखा जाय तो कुछ समय पश्चात् क्लोरिन की अप्रिय गंध तथा स्वाद दोनों ही गायब हो जायेगी।''

स्वस्थ रहने के लिये व विभिन्न रोगों के उपचार के लिये इन रंगों का महत्वपूर्ण योगदान है। रंगीन बोतलो में पानी तथा तेल भरकर निश्चित अवधि के लिये सूर्य की किरणों के समक्ष रखकर अथवा रंगीन शीशों को सूर्य किरण चिकित्सा के साधनों के रूप में विभिन्न रोगों के उपचार में लाया जाता है। सूर्य किरण चिकित्सा की सरल विधियॉ स्वास्थ्य सुधार की प्रक्रिया में प्रभावी तरीके से मदद करती हैं। डॉ0 सोले के अनुसार ''कैंसर, नासूर जैसे असाध्य रोग जो बिजली और रेडियम के प्रयोग से अच्छे नहीं किये जा सकते हैं वे सूर्य किरण से ठीक ढंग से प्रयोग करने पर अच्छे हो गये हैं।''[1] जितना लाभ सीधे सूर्य से आने वाली किरणों से होता है उतना मषीन द्वारा निर्मित किरणों से नहीं होता है। सूर्य की किरणों से निरोग और रोगी सभी को समान रूप से फायदा होता है। नियमित रूप से सूर्य स्नान किया जा सके तो निश्चित ही स्वास्थ्य सुधार में आश्चर्य जनक लाभ मिल सकता है। सूर्य किरण चिकित्सा एक वरदान है इसके द्वारा किसी प्रकार के असाध्य रोगों को ठीक किया जा सकता है

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

अग्नि तत्व चिकित्सा के बारे में जानेगें।

अग्नि तत्व को प्राप्त करने की विधियों का अध्ययन करेगें।

विभिन्न प्रकार के रोगो में अग्नितत्व चिकित्सा के प्रयोग का अध्ययन।

9.3 सूर्य किरण चिकित्सा की विधियां

अग्नि तत्व को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन सूर्य है । सूर्य के माध्यम से ही अग्नि तत्व चिकित्सा की जाती हैं जिसके निम्नलिखित माध्यम है।

9.3.1.खाध्यपदार्थो के माध्यम से

जल में समाहित करके–सर्वप्रथम कांच की बोतल को रंगीन सेलोफिन पेपर से चारो तरफ से अच्छे से लपेट लें उसके बाद बोतल में एक तिहाइ पानी भरें और उसे कमसे कम 8 घण्टे धूप में रख दे औरउसके बाद उस पानी का प्रयोग करें जिस रंग का जल तैयार करना है उस रंग के सेलोफिन पेपर का प्रयोग किया जाना चाहिए । जैसे लाल रंग का प्रयोग करना है तो लाल सेलोफिन पेपर का प्रयोग करें । जल का प्रयोग दवा के रूप में करना चाहिए । बताई गयी मात्रा से ज्यादा एक बार में प्रयोग न करें।

पानी की मात्रा–

1दिन से 1माह तक के बच्चे को	1 छोटा चम्मच
1 माह से 3 माह तक के बच्चे को	2 छोटा चम्मच
3 माह से 1वर्ष तक के बच्चे को	3 छोटा चम्मच
1वर्ष से 5 वर्ष तक के बच्चे को	4 छोटा चम्मच
5 वर्ष से 10 वर्ष तक के बच्चे को	5 छोटा चम्मच

10 वर्ष से 15 वर्ष तक के बच्चे को 2 5 ग्राम
15 वर्ष से उपर सभी को 50 ग्राम

तेल में समाहित करके– जिस प्रकार से जल के लिए बोतल तैयार की गयी उसी प्रकार बोतल तैयार करके उसमें तेल डाल कर घूप में रखना है तेल एक दिन तें तैयार नही हो पाता इसलिए तेल को 30 दिन प्रतिदिन 8 घण्टे के लिए घूप में रखना है। उसके बाद इस तेल का प्रयोग किया जा सकता हैं तेल का प्रयोग मालिस के लिए किया जाता हैं।विभिन्न प्रकार के तेल तैयार करके रखे जा सकते हैऔर आवश्यकतानुसार प्रयोग में लायाजा सकताहै।

मिश्री, चीनी आदि में समाहित करके– मिश्री और चीनी में समाहित करके भी प्रयोग किया जा सकता है। सेलोफिन पेपर से तैयार बोतल में मिश्री या चीनी भरकर घूप में 20से 30 दिन रखना है। उसके बाद प्रयोग करें ।

रंगीन कॉच के द्वारा–रंग विशेष के सीसे के माध्यम से सूर्य की किरणो या प्रकाश को गुजार कर सीधे रोग ग्रस्त स्थान पर डालना जिसे प्राकृतिक चिकित्सा में थर्मोलोब के माध्यम से किया जाता है।

विभिन्न प्रकार के रंगो का प्रयोग– लाल रंग :–सूर्य के प्रकाष के 80 प्रतिशत केवल लाल किरणें और इन्फ्रा रेड किरणें होती है। स्नायु मण्डल को उत्तेजित करना इनका मुख्य कार्य है। लाल रंग गर्मी को बढ़ाता है। रक्तहीनता व गठियां जैसे रोगों में लाल रंग के वस्त्र धारण करना अच्छा रहता है।

नारंगी रंग :– यह रंग गर्मी को बढ़ाता है। इसका उपयोग जीर्ण रोग में में किया जाता है। यह रंग दमा, नसों की बीमारी और लकवा आदि व्याधियों की एक उत्तम औषधि है। तिल्ली बढ़ने, मूत्राषय, व आंतों की शिथिलता, उपदंश आदि में नारंगी रंग किरण तप्त जल का प्रयोग किया जाता है।

पीलारंग :–यह रंग बुद्धि विवेक एवं ज्ञान की वृद्धि करने वाला होता है तथा पाचन क्रिया को बढ़ता है।पेट सम्बधी रोगो में लाभदायक है।

हरा रंगः–यह रंग आंखों तथा त्वचा से सम्बन्धित रोगों में बहुत लाभकारी है, यह भूख को बढ़ाता है जिन लोगों में खुजली या नासूर, चेचक आदि चर्म रोग हों उन्हें हरे रंग का वस्त्र पहनना चाहिये।

आसमानी रंग–यह रंग ठण्डक और शांति दायक है। इसमें विद्युत शक्ति होती है। जब शरीर में गर्मी की अधिकता हो उस समय इस रंग का प्रयोग करना चाहिये। गर्मी की अधिकता से होने वाले रोग जैसे–पेचिष, ज्वर, श्वास, कास, सिरदर्द अतिसार, संग्रहणी, मस्तिष्क के रोग, प्रमेह, पथरी व मूत्र विकार आदि सभी रोग इस रंग के प्रयोग से अच्छे हो जाते है। यह सभी रंगों में श्रेष्ठ है।

नीली रंग :–नीला रंग शांतिदायक व ठंडा होता है शरीर की गर्मी को दूर करने के लिये इसका प्रयोग होता है। नीले रंग की कमी होने पर तथा लाल रंग के बढ़ जाने पर मनुष्य में ज्वर, अतिसार एवं पेट में मरोड़ आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

9.3.2 वाहय प्रयोग के द्वारा

धूप स्नान–

साधारण धूप स्नान।
पसीना लाने के लिये धूप स्नान।

रिकली का धूप स्नान।
कूने का धूप स्नान।

साधारण धूप स्नान–जमीन या तख्त पर कंबल या चटाई बिछाकर ऐसे स्थान पर लेटते हैं जहॉ पर धूप तो काफी होती है परन्तु हवा तेज नही लगती है। सिर को छतरी या कपड़े से ढक लेते हैं और इच्छानुसार धूप सेवन करते हैं पसीना निकल जाये तो अच्छा है। इस प्रकार से पसीने द्वारा शरीर के अन्दर के विकार बाहर निकलते हैं। इस धूप स्नान से निरोग शरीर रोगों से बचा रहता है।

पसीना लाने के लिये धूप स्नान–पसीना निकालने के लिये सबसे पहले गरम पानी पीते हैं फिर 20 से 30 मिनट तक धूप में लेटते हैं। पसीना निकलने लगता है परन्तु इतने समय तक धूप सेवन करने पर पसीना आये या न आये दोनों परिस्थितियों में आधे घण्टे बाद ठण्डे जल से स्नान करना आवश्यक होता है। धूप स्नान लेते समय सिर पर ठण्डे पानी से भीगी तौलिया रखना तथा बीच बीच में गरम पानी पीते रहना चाहिये।

रिकली का धूप स्नान– डॉ0 रिकली के अनुसार धूप स्नान विधि शरीर पूर्णतः निर्वस्त्र होता है सूर्योदय के बाद यह स्नान लिया जाता है। पहले दिन रोगी के पैरों की फिल्ली, ओर दूसरे दिन पूरे पैर की, तीसरे दिन जॅघा पर समूचे पैर को। चौथे दिन नाभि तक और और उसके नीचे सारे अंग तक तथा पांचवें दिन से दसवे दिन के भीतर गले तक सारे शरीर को धूप स्नान कराया जाता है। इस प्रकार थोड़ा – थोड़ा करते हुये दसवें दिन रोगी के पूरे शरीर को धूप में लाते हैं। रोगी के धूप स्नान का समय धीर धीरे बढ़ाते हैं। पहले दिन रोगी को 5–5 मिनट के बाद 3–3 मिनट के हिसाब से कुल 9 मिनट तक रखते हैं, दूसरे दिन 5 मिनट के बाद 6 मिनट, तीसरे दिन 9 मिनट इसी प्रकार 3–3 मिनट बढ़ाते जाते हैं। दसवे दिन 3 बार आधे आधे घण्टे का धूप स्नान कराते हैं। इसके बाद 5 मिनट तक छाया में रखते हैं। धूप लगे स्नान विशेष को या पसीना होने पर सारे शरीर को ठण्डे या हल्के जल से भीगी तौलिया से पोंछ कर साफ कर देते है, और पुनः धूप स्नान करते हैं।

लाभ– एक्जिमा, घाव, कोढ़, अजीर्ण, टी.बी. (क्षयरोग) बच्चों का सूखा रोग, रक्तहीनता, बच्चों का चिड़चिड़ापन आदि में यह स्नान बड़ा लाभकारी सिद्ध होता है।

कूने का धूप स्नान– धूप में ऐसी जगह रोगी को लंगोटी पहनकर लिटाते हैं जहॉ पर हवा तेज न हो। चेहरा सिर और नाभि को धूप से बचाने के लिये केले या अन्य पत्तियों से ढक देते हैं। पत्ती न मिलने पर गीला कपड़ा भी ढकने के काम में लाते हैं। धूप स्नान आधे घण्टे से डेढ़ घण्टे तक चलता है। पसीना निकलने पर रोगी को कुछ समय और धूप में स्नान करना चाहिये, धूप बहुत तेज होने पर स्नान का समय कम कर देना चाहिये। यदि सिर दर्द हो या चक्कर आने लगते हैं तो प्रारम्भ में कम समय की धूप स्नान करते हैं। ऐसा प्रायः उन्हीं रोगियों को होता है जिसके पसीना नही निकलता है या देर से निकलता है। धूप स्नान के बाद ठण्डे पानी से सिर से नहाकर शरीर को तौलिये से पोछते हैं। तत्पश्चात् कटि स्नान या मेहन बॉथ के बाद भी शरीर में गर्मी न आये तो पुनः धूप स्नान करते हैं। धूप में टहल भी सकते है और कसरत भी कर सकते हैं।

इस क्रिया से शरीर के छिद्र खुल जाते हैं, गर्मी आती है और पसीना निकलने लगता है जिससे शरीर के विकार निकलते हैं। गर्मी शान्त करने के लिये तथा विकारों को पेडू में लाकर पेशाब व पाखाने द्वारा बाहर निकाल देने के लिये धूप स्नान के बाद ठण्डे पानी से

स्नान करते हैं। रोगी यदि कमजोर हो तो गीली तौलिया से सारा बदन पोंछ देते हैं। यदि कटि स्नान संभव न हो तो गीले कपड़े की ठण्डी पट्टी पेडू पर 25 मिनट तक रखते हैं।

लाभ–जीर्ण रोगों में सूर्य स्नान विशेष लाभकारी है क्योंकि इसमें विजातीय द्रव्य आसानी से बाहर निकल जाते हैं। घाव, गांठ, जोड़ों का दर्द, टी.बी., गठिया, पीलिया, रक्तहीनता आदि में विशेष लाभकारी है।

सावधानी–

- सूर्य स्नान करते समय सिर को धूप से बचाना आवश्यक है। कड़ी धूप में धूप स्नान न लें
- धूप स्नान का समय रोज धीरे धीरे बढ़ायें ओर एक घण्टे से ज्यादा न लें।
- धूप स्नान जितनी देर का हो उसे चार भागों में लें। पीठ के बल, पेट के बल बायीं करवट दायीं करवट।
- शरीर पर कम से कम वस्त्र हों। भोजन के चार घण्टे बाद लें।
- ज्वर में धूप स्नान न लें।

रंगीन कॉच के द्वारा– रंगीन कांच के द्वारा चिकित्सा देने के लिए थर्मोलोब का प्रयोग किया जाता है रंग विशेष के सीसे को सूर्य की किरणो या प्रकाश से गुजार कर सीधे रोग ग्रस्त स्थान पर डालना।

9.4 विभिन्न रोगो मे अग्नि तत्व चिकित्सा –

9.4.1 अग्निमांध– शरीर में वात पित्त और कफ की साम्यावस्था को बिगाडने के पीछे अग्नियों की मंदता को जिम्मेदार माना गया है। शरीर में जठराग्नि तथा रक्ताग्नि आदि के रूप में विभिन्न प्रकार की अग्नियां उपस्थित रहती है। शरीर में इन अग्नियों के प्रमुख कार्य है आहार का समुचित रूप से पाचन करना । पाचन के फलस्वरूप पैदा होने वाले रस 'पदार्थो ' का शरीर के उपयोग में आने वाले पदार्थो में परिवर्तित करना तथा उन उपयोगी पदार्थो के द्वारा शारीरिक अगों का निमार्ण करके शरीर का विकास करते रहना । जब व्यक्ति की आमाश्य और ऑत सम्बन्धी पाचन कार्य करने वाली अग्नियॉ मन्द पड जाती है तब उसे उदर सम्बन्धी अग्निमॉधता नाम दिया जाता है।

लक्षण –

–भूखकम लगती है क्योंकि आहार का पाचन ठीक प्रकार न होने से वह आमाश्य में ही पडा रहता है।

–बिना खाए भी पेट भरा भरा लगता है

–रोगी को आहार में अरूची होने लगती है।

–जी मचलाना तथा वमन होना

–रोगी की जीभ पर मैल की परत जम जाती है।

–ऑतो में ही मल के संचित होने से और वहॅ पडे पडे सडने से उत्पन्न गैस ऑत की भित्तियों पर दबाव डाल कर आमाश्य व ऑतो में दर्द का अनुभव देती है।

–रोगी के संचित भन्डार समाप्त होने लगते है। वह कमजोरी महसूस करने लगता है।

कारण –

–पाचन तंत्र की प्रकिया का अस्त व्यस्त हो जाना ।

–अत्यधिक भोजन करना ।

—गरिष्ठ आहार का सेवन करना ।
—भोजन चबा चबा कर न करना ।
—पाचक रसो का सही मात्रा में उत्पन्न न होना ।
—मानसिक तनाव बैचेनी चिन्ता ।
—यकृत के सही ढग से कार्य न करने पर

अग्नि तत्व चिकित्सा –

—पेट पर पीले रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता है जिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है और कब्ज दूर होता है।
— नारंगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।
— सूर्य स्नान लेना चाहिए।

9.4.2— कब्ज

लक्षण—

—मल त्याग ठीक प्रकार से न होना ।
—अनियमित मल त्याग होना ।
—मल त्याग में कठिनाई होना ।
—सिर दर्द बैचेनी ।
—भूख की कमी ।
—मिचली आना ।
—श्वास में दुर्गन्ध आना ।
—पेट में भारीपन होना ।
—मॅुह में छाले पडना अनिद्रा ,चिडचिडापन ।

कारण—

—आमाशय,ऑत एवं यकृत व अग्न्याश्य ग्रन्थियों के स्राव में असन्तुलन ।
—आहार में रेसे युक्त खाध्यपदाथों की कमी , ब्रेड बिस्कुट केक ,चाय,कॉफी ,मॉस मछली ,का अधिक सेवन करना ।
—आहार में चोकर आटे की रोटीयॉ ,मेदे का अधिक सेवन ।
—अधिक मिर्च मसाले दार भोजन ।
—मलाश्य की मॉसपेशियों का कमजोर पडना ।
—अत्यधिक मानसिक तनाव ।
—अनियमित दिनचर्या ।

अग्नि तत्व चिकित्सा –पेट पर पीले रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है और कब्ज दूर होता है।
— हरे रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।हरा रंग विजातीय द्रव्य को बाहर निकालने का कार्य करता है।
— सूर्य स्नान लेना चाहिए। विषेश कर पेट वाले भाग पर

9.4.3 अस्थमा—दमा एक महाव्याधि है। दमे का दौरा सामान्यतयह अचानक आरम्भ होता है। परन्तु प्रायः चेतावनी के रूप में उदासी आलस्य, निद्रा, अपच अत्यधिक मात्रा में नाक से कफ निकलना श्वास कस्ट पसीना छूटता है। दमे का आक्रमण दम (श्वास) फूलने के रूप में परिलक्षित होता है। इसमें श्वास लेने वाली नलिकाओं के संकुचित होने और उसमें कफ

जम जाने से रोगी को श्वास लेने में कठिनाई होने लगती है और जब सीने की असंख्य नलियॉ कफ से भर जाती है तो दमे क दौरा पडता है। जो आधे से एक घण्टे तक चल सकता है। जब कफ ढीला होकर पिघलने लगता है। तो दमे का दौरा शान्त हो जाता है। प्रकोप के दौरान श्वास नलिकाओं कीी अनैचछिक मांसपेशियों में संकुंचन होने लगता है फलस्वरूप आने जाने वाली वायु की मात्रा कम हो जाती है श्वसन को सामान्य करने के लिए रोगी को सहायक मांसपेशियों की सहायता लेनी पड़ती है। रोगी गली की मांसपेशियों पर दबाव डालता है तथा वायु रेचन के लिए छाती की समस्त मांसपेशीयों का उपयोग करता है। (सामान्य श्वसन में इसका प्रयोग नहीं होता है)

असामान्य श्वसन में रोगी जल्द ही थकान का अनुभव करने लगता है।

लक्षण :–

श्वास लेन में कठिनाई

अत्यधिक मात्रा में नाक से कफ निकलना

श्वास कष्ट के समय पसीना आना

दम घुटने की अनुभूति होना

श्वास लेते हुए सीटी के समान आवाज होना

अवसाद बैचेनी खांसी होना

रोगी झुककर चलता है।

थोड़े सेपरिश्रम से श्वास अत्यधिक फूलने लगता है।

रोगी सीधा लेट नहीं पाता

कारण –:

फेंफड़ों की दुर्बलता

अत्यधिक कब्ज के कारण

हृदय की दुर्बलता

गुर्दों की दुर्बलता

आंतों की दुर्बलता

स्नायु मण्डल की दुर्बलता

नाक रोगों के फलस्वरूप

श्वास नली में सूजन आने के कारण

पैत्रिक या वंशानुगत

एलर्जी एवं उत्तेजना –: श्वसनियाों की दीवालों में वर्तुलाकार पेशीतन्तु होते हैं जिनके संकुचन से श्वसनियॉ संकीर्ण हो जाती हैं ये तनतु श्वसन क्षेत्र में उत्तेजना या संक्रमण (एलर्जी) आदि के कारण या स्वचालित तंत्रिका तत्र के द्वारा या तनाव के कारण उत्तेजित हो जाते हैं। श्वसनियों का संकीर्ण होना इसका मुख्य कारण माना जाता है।

आनुवांश्कि कारण

मनोवैज्ञानिक कारण – ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, अकेलापन, भावनात्मकता अति संवेदनशीलता

अग्नि तत्व चिकित्सा –छाती पर व पीठ पर नारंगी रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग पेट पर प्रयोग करना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रिर्याशीलता बढती है और विजातीय द्रव्य दूर होता है।

– नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी

रंग कफ को पिघलाकर बाहर निकालने का कार्य करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। पीठ पर गर्म पानी की सिकाई करनी चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा छाती पर लाल रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.4 उच्च रक्त चाप–हमें जीवित रखने के लिए रक्त हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में धमनियों द्वारा निरन्तर पहुंचकर उसे पोषण देता रहता है। यह अत्यन्त आवश्यक कार्य हमारे हृदय द्वारा अनवरत सम्पन्न होता रहता है। वह पम्प की तरह खुलता दबता रहता है रक्त को रक्त वाहिनी धमनियों और नलिकाओं में आगे बढ़ता रहता है रक्त की धमनियों में आगे बढ़ने की क्रिया को रक्त चाप कहते हैं या ;ठसववक च्तमेनतमद्ध कहते हैं ।
यह एक स्वाभाविक क्रिया है सामान्य अवस्था में युवा पुरूष का रक्त चाप सिस्टोलिक 120 और डायस्टोलिक 80 होता हैं यदि यह रक्तचाप 140 –90 हो यह उच्चरक्त चाप समझा जाता है।

लक्षण –

चक्कर आना
सिर दर्द
उल्टी होना थकावट
नींद न आना
श्वास कस्ट
चिड़चिड़ापन
सीने में दर्द
कभी–कभी नाक से खून निकलना
जरा सा कार्य करने पर हॉफना
किसी भी काम में मन न लगना आदि
नाक से खून निकलना
दिल का जोर–जोर से धड़कना

कारण –ः

धमनी काठिन्य
मोटापा
शारीरिक श्रम का अभाव
मदक द्रव्यों का सेवन
मानसिक तनाव
रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ जाना
अत्यधिक खुशी में
घबराहट में
क्रोध में
आनुवांशिक – किसी व्यक्ति के माता–पिता दोनों को रक्तचाप है तो उसको रक्तचाप होने की सम्भावना 50ः होती है।

अग्नि तत्व चिकित्सा–सर्वप्रथम कब्ज को दूर करने के लिए पेट पर पीले रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता

बढती है और विजातीय द्रव्य दूर होता है।
– आसमानी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।आसमानी रंग शीतलता प्रदान करता है जो उच्चरक्त चाप को दूर करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.5 निम्न रक्त चाप–

लक्षण –
चक्कर आना – हाथ पैरों में झुनझुनाहट होना
शरीर ठंडा पड़ना – तापमान का सामान्य से कम रहाना
घबराहट होना
अत्यधिक थकान लगना व आलस्य
बेहोशी आना
खड़े होन पर आंखों के सामने अंधेरा आना
ठंडा पसीना आना

कारण –
यकृत का ठीक से कार्य न करना
पाचन क्रिया ठीक न होने के कारण मानसिक तनाव
कम खाना
भोजन संतुलित न होना
रक्त में लोहा, फास्फोरस की कमी
लम्बे समय से रोग रहने पर जैसे क्षय रोग, टायफाइड, खून की कमी होना – एनीमिया रोग

अग्नि तत्व चिकित्सा– पीठ पर नारंगी रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग पेट पर प्रयोग करना चाहिए पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है और कब्ज दूर होता है।
– नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। पीठ पर गर्म पानी की सिकाई करनी चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा पूरे शरीर पर लाल रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.6– आमवात –जोड़ो में विशेषकर श्लेषक जोड़ों (सायनोवियल जाइंट) में (इन्फलेमेशन) या सूजन दर्द हो जाने को आर्थाइटिस कहते हैं। जोड़ों को लचीला बनाने के लिए दो चीजें जरूरी हैं – जोड़ों की हड्डयों के किनारे चिकने हों (यह कार्य उनके सिरों पर चिपकी उपास्थियों अथवा कार्टिलेज द्वारा होता है) जोड़ो के बीच चिकनाहट हो – (यह कार्य श्लेषक तेल करता है) इन दोनों में किसी की भी कमी से जोड़ों की क्रियाशीलता में बाधा पड़ती है।

जोड़ों की आन्तरिक सतह पर एक पतली झिल्ली (श्लेषक झिल्ली) रहती है। जो लगातार श्लेषक तेल बनाती एवं साोखती है। जोड़ इस तैलीय पदार्थ में हमेशा चिकने बने रहते हैं। श्लेषक तेल श्लेषक झिल्ली द्वारा रक्त से बनाता है ओर शिराओं एवं लसिकाओं द्वारा सोख

लिया जाता है इस प्रकार इसका संचाार जोड़ों और उपास्थियों में रक्त से पोषक तत्व पहुंचाता है। तथा उनके द्वारा उत्सर्जित पदार्थों को बहा ले जाता है।
यदि इन जोड़ों में प्रवाहित होने वाली प्राणशक्ति में किसी प्रकार की रूकावट अथवा कमी आ जाय और अधिक दिनों तक बनी रहे तो रक्त या लसीका का प्रवाह धीमा पड़ जायेगा तथाा श्लेष कतल के संचरण में कमी आ जायेगी। जिससे चिकनाई कम होने से कोमल उपास्थियों का क्षय होने लगता है और जोड़ों में कैल्शियम आदि पदार्थ एकत्र होने लगते हैं। जिससे पैरों में जकड़न आदि होता है।
लक्षण –दूषित जोड़ों में सूजन ओ तीव्र वेदना
जकड़ाहट, जलन, भारीपन अरूचि, भारीपन, ज्वर, मुख की विरसता, मूत्र की अधिकता, उदर में गुड़गुड़ाहट, शूल (दर्द) आदि।सन्धि पीड़ा व विकृति अस्थाई, पेट में कठोरता, दर्द, दिन में नींद आना, रात में नहीं आना।इसमें अगली कलाई, कोहनी, गुल्फ, घुटने आदि की संधियॉ जल्दी आक्रान्त होती हैं। तथा ज्वर भी रहता है त्वचा लाल हो जाती है तथा खुजली होती है।
कारण –ः
व्यक्ति के मानसिक एवं भावनात्मक तनाव
जठराग्नि की मन्दता
भोजन – अधिक भोजन करने तथा घी, मॉस, प्शुओं की चर्बी तले भोजन, कृत्रिम रूप से बने पदार्थ, चीनी नमक की अधिकता रोग की शुरूआत में उसे बढ़ा देती है।
व्यायाम न करना
कब्ज, अपच, अजीर्ण
अत्यधिक औषधियों के सेवन करने से
अग्नि तत्व चिकित्सा–पूरे शरीर पर लाल रंग का प्रकाश डालना चाहिए खासकर दर्दवाले स्थान पर ।पीला रंग पेट पर प्रयोग करना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है और कब्ज दूर होता है।
– नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। दर्द वाले स्थानो पर पर गर्म पानी की सिकाई करनी चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा पूरे शरीर पर लाल रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।
9'4.7 वातरक्त–वातरक्त तीक्ष्ण गठिया का विशेष रूप है। जो भोजन की गड़बड़ी से उत्पन्न होता है यह रोग अधिक मात्रा में प्रोटीन लेने से अधिक होता है। क्योंकि प्रोटीन के पाचन के पश्चात् एक विषोन्माद यूरिक ऐसिड पैदा होता है। सामान्यतः यह मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। परन्तु जब यह सन्धियों तथा कोमल अस्थियों में सोडियम बाई यूरेट के रूप में संचित हो जाता है और गाउट उत्पन्न करता है।
लक्षण –
म्ैण्त्ण (इन्र्थोसाइड स्डेयैनटेसन रेट) बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यूरिक ऐसिड बढ़ जाता है और जोड़ों में जमने लगता है।
जॉघ घुटने कमर कन्धे हाथ पैर आदि अंगों की सन्धियों में चुभर, भारीपन, खुजलाहट,

संज्ञाहीनता, बार–बार पीड़ा होना और शानत होना वातरक्त के पूर्व लक्षण हैं।
रोग के बढ़ने पर उंगलियों की सन्धियों की धमनियों का सुकुड़ जाना अंग का निष्कर्म हो जाना तथा अत्यधिक पीड़ा होना ठंड में पीड़ा बढ़ जाना ।
पैरों के मूल तथा कभी–कभी हाथों में स्थित होकर वह पूरे शरीर में फैल जाता है।
त्वचा का लाल हो जाना।

कारण –

यूरिक ऐसिड बढ़ कर रक्त में मिल जाता है और रक्त के साथ शरीर में बहने लगता है और जोड़ों में एकत्रित होने लगता जिससे जोड़ों में दर्द और चुभन होती है।
भोजन में अधिक मात्रा में प्रोटीन लेने से
पाचन क्षमता के ठीक से कार्य न करने के कारण
नशीली पदार्थों के अत्यधिक सेवन से
गरिष्ठ भोजन

अग्नि तत्व चिकित्सा–पूरे शरीर पर लाल रंग का प्रकाश डालना चाहिए खासकर दर्दवाले स्थान पर ।पीला रंग पेट पर प्रयोग करना चाहिए ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है और कब्ज दूर होता है।
– नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। दर्द वाले स्थानो पर पर गर्म पानी की सिकाई करनी चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा पूरे शरीर पर लाल रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.8 जुकाम–नाक के रास्ते पतले कफ निकलने को नजला–जुकाम कहते हैं चिकित्सा विज्ञान में सामान्य जुकाम को अनेक नामों से जाना जाता है। यह एक हल्की सामान्य शारीरिक गड़बड़ी है, जो अल्पकाल के लिए होती है। किन्तु जब यह गम्भीर रूप धारण करती है तो इसे फ्लू या इन्फ्लूएंजा कहते हैं। जो संसर्गजनित रोग है। तथा जिनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। वहीं इसके प्रबल आक्रमण के शिकार होते है।

लक्षण –:

प्रारम्भ में नाक के अन्दर तथा गले में उत्तेजना अथवा झुनझुनी के साथ छींके आती हैं।
आंखें लाल होन तथा पानी निकलना
गले में खरास तथा दर्द
सिर में भारी पन
नाक से अत्यधिक कफ निकलना य फिर पानी निकलना
किसी–किसी को ठंड से बुखार भी आता है त्वचा गर्म और सूखी होती है तथा प्यास के साथ में जीभ में सूखापन एवं भूख न लगना जैसे लक्षण दिखते हैं इसके साथ ही शरीर में जकड़ाहट और दर्द होता है।
नाक की झिल्लियों में सूजन आ जाती है और नाक से श्वास लेने में परेशानी होती है
कानों से सुनाई देना काम होता है

कारण –

अनुपयुक्त आहार

मन्द जठराग्नि
अधिक समय तक बैठकर काम करना
रक्त परिसंचरण का मन्द होना
शुद्व वायु का अभाव
सर्दी लगना
ऋतु परिवर्तन (सन्धि काल) (विशेष रूप से शीतकाल के अन्त और बसन्त का प्रारम्भ काल) में जब शरीर का आन्तरिक तापमान बाह्य तापमान से तालमेल बैठाने का प्रयास करता है। तभी वह जुकाम के हमले का शिकार हो जाता है।

अग्नि तत्व चिकित्सा—पूरे शरीर पर लाल रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग कब्ज को दूर करनेके लिए करना चाहिए । ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे आंतो की क्रियाशीलता बढती है
— नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।
— पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। चेहरे पर भाप लेना चाहिए।
—प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा पूरे शरीर पर लाल रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.9 मधुमेह—जब किन्हीं कारणों से क्लोम ग्रन्थि से निकलने वाले इंसूलिन की मात्रा कम हो जाती है या इन्सुलीन निकलना बन्द हेजाता है तो फिर रक्त शर्करा का चयापचय ठीक ढंग से न होने के कारण रक्त में ग्लूकोज का स्तर बढ़ जाता है। बढ़ी हुई शर्करा की यह मात्रा गुर्दों द्वारा भी अवशोषित नहीं हो पाती ˙ जिससे मूत्र द्वारा भी शर्करा निकलने लगती है रक्त शर्करा का स्तर सामान्य से अधिक हो जाने की इस स्थिति को ही मधुमेह या डायबिटीज कहते हैं।

इस रोग को आयुर्वेद में मधुप्रमेह या मधुमेह कहते हैं मधुमेह का सामान्य अर्थ है। मधु अर्थात शहद औरर मेह अर्थात बरसना (पानी के समान गिरना) इस तरह मधुमेह का अर्थ हुआ मधु के समान मूत्र विसर्जन करना

प्रकार —: मधुमेह दो प्रकार का होता है।
बच्चों का मधुमेह या (इन्सूलिन डिपेन्डेट डायबिटीज)
प्रौढ़ावस्था का मधुमेह (नोन इन्सूलिन डिपेन्डेट डायबीटिज)

मधुमेह के लक्षण —:
अधिक भूख लगना
अधिक प्यास लगना
अत्यधिक यूरिन होना
निरन्तर थकान बनी रहना
कमजोरी लगना ताकत की कमी
मुंह का स्वाद मीठा रहना
जिव्हा पर सफेद मल की परत जमना
घाव का देर से भरना तथा घावों में बार—बार पीव बनना।
रोगों का संक्रमण जल्दी होता है क्योंकि शरीर में स्थित द्रव्यों में ग्लूकोज का आधिम्य हो जाने के कारण बैक्टीरिया को प्रचुर भोजन मिलने लगता है और शरीर रोगों का घर बन

जाता है
त्वचा पर रूखापन
हाथ पैरों में झुनझनाहट
पैरों की पिंडलियों में दर्द
नजर कमजोर होना
पैरों के तलवों में जलन होना
बार–बार फोड़े फुन्सियॉ निकलना

कारण –

–अत्यधिक चर्बी (वसा) युक्त भोजन करना।
–मिठाइयों का अत्यधिक सेवन ।
–शारीरिक व्यायाम की कमी ।
–मानसिक तनाव ।
–आनुवांसिक कारणो से ।
–अधिक मोटापे से ।
–लम्बे समय तक शराब के सेवन करने से ।
–पेट के रोगो के कारण ।
–शरीर में हारमोन्स के असन्तुलन से।
–लीवर के कमजोर होने से।

अग्नि तत्व चिकित्सा–पेट पर लाल रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग कब्ज को दूर करने के लिए प्रयोग करना चाहिए । ।पीला रंग पाचन शक्ति को बढाता हैजिससे अग्नाश्य की क्रियाशीलता बढती है और इन्सुलिन का स्राव बढता है।

– नांरगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।

– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। पीठ व पेट पर भाप लेना चाहिए ।

–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा पूरे शरीर पर नारंगी रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज तथा तनाव नहीं होने देना चाहिए।

9.4.10– सरवाइकल स्पोण्डलाइटिस– उम्र के साथ या अन्य रोगो से हडिडयों में बदलाव आ जाता है। यह बदलाव सरवाईकल स्पाइन में भी आते है इससे इंटरवर्टिबल डिस्कके बीच का स्थान कम हो जाने से रोगी गर्दन में दर्द महसूस करता है इसे ही सरवाइकल स्पोडलाइटिस कहते है। सरवाइकल स्पोण्लाइटिस गर्दन की किसी भी दो कशेरुकाओं के बीच आने वाली गडबडी से हो सकती है। लेकिन चौथी,पांचवी और छठी कशेरुका में अधिक होती है।

लक्षण–

–गर्दन में अकडन,दर्द व भारीपन।
–गर्दन घुमानेमें दर्द।
–सिर के पिछले हिस्से में दर्द।
–चक्कर आना ।
–कन्धो में भारीपन व दर्द ।
–हाथोका सुन्न पडजाना व हाथो में जान न रहना ।

कारण–

–दिनभर गर्दन झूकाकर काम करना।
–ऊॅचे डनलब के गददो पर सोना ।
–गर्दन में किसी प्रकार के खिचांव पडने पर ।
–कम्पयूटर में अधिक समय तक काम करने
–गर्दन में किसी प्रकार की चोट लगने पर ।

अग्नि तत्व चिकित्सा–

–गर्दन व हाथो पर लाल रंग का प्रकाश डालना चाहिए ।पीला रंग कब्ज को दूर करने के लिए प्रयोग करना चाहिए ।
– नारंगी रंग की बोतल में तैयार किया गया जल दिन में चार बार पीना चाहिए ।नारंगी रंग रक्त संचार को बढाने का कार्य करता है।
– पूरे शरीर का सूर्य स्नान लेना चाहिए। पीठ व पेट पर भाप लेना चाहिए।
–प्रातःकाल धूप का सेवन करना चाहिए तथा गर्दन व कन्धो पर नारंगी रंग के तेल की मालिश करनी चाहिए, कब्ज नहीं होने देना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न .1 कांच की बोतल पर कौन सा पेपर लगाया जाता है।
क.प्लेन पेपर ख.सेलोफिन पेपर
ग.ब्लेक पेपर घ.चार्टपेपर

प्रश्न .2 15 साल से उपर सूर्य तप्त जल की मात्रा देनी चाहिए।
क. एक ख.20गाम
ग .50 ग्रांम घ.30 ग्राम

प्रश्न .3 लाल रंग .... लाभदायक है।
क. कब्ज ख.खांसी
ग.जोडो के दर्द घ. त्वचा रोग

प्रश्न .4 सिर दर्द में कौन सा रंग देना चहिए है
क. हरा ख आसमानी
ग. काला घ. लाल

9.5 सारांश

अग्नि तत्व चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है जिसके माध्यम से विभिन्न पगकार के रोगो का निवारण किया जाता है। एक कहावत है –जिस घर में सूर्य का प्रकाश प्रवेश नही करता वहां डाक्टर प्रवेश करता है। अर्थात वहां पर रोग पनपते है। और घर में रहने वाले लोग रोगी हो जाते है।क्योकि प्रर्याप्त सूर्य की किरणो के बिना कोई प्राणी पनप नही सकता सूर्य के प्रकाश से शरीर में प्राणो का संचार होता है। जिसकी आवश्यकता सदैव रहती है। माानव के रोग निवारण हेतु सूर्य का प्रकाश ही वरदान ही समझना चाहिए। क्योकि संसार में सूर्य से अधिक किटाणुनासक क्षमता किसी ओषधि में नही है। उपर्युक्त विवाण से स्पष्ट होता है कि अग्नि तत्व को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन सूर्य है।इसलिए हमें उसका महत्व समझना चाहिए और रोगो को दूर करनें के लिए इस प्राकृतिक औषधि का प्रयोग करना चाहिए ।

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्राकृतिक आर्युविज्ञान – डां0 राकेश जिन्दल
2. रोगो की नई चिकित्सा –लूई कूने
3. सूर्य किरण चिकित्सा – डां0 अजीत मेहता

9.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1–ख 2–ग 3–ग 4– ख

9.8 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. अग्नि तत्व को प्राप्त करने की विधियों का वर्णन करें ।
2. सूर्य स्नान की विधियों का वर्णन करें।
3. मधुमेह रोग के लक्षण कारण और सूर्य किरण चिकित्सा बतलाइए ।

इकाई–10 उपवास के सिद्धान्त महत्व, उपवास के प्रकार एवं सावधानियां

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 उपवास का महत्व
10.4 उपवास के प्रकार
10.5 पूर्णोपवास के दिनों का निर्धारण।
1.5.1 पूर्णोपवास के लिये तैयारी कैसी हो ?
1.5.2 पूर्णोपवास के समय उचित लाभ हेतु किये जाने वाले कर्म
10.6 उपवास कब और किस प्रकार तोड़ना चाहिये ?
10.7 सारांश
10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

उपवास एक प्राकृतिक स्थिति है प्रकृति की मांग है पषु पक्षी आदि सभी जीवधारियों को उपवास की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि उपवास रोग मुक्ति का प्रबल साधन है। क्योंकि उपवास काल में शरीर की सम्पूर्ण जीवन शक्ति केवल रोग को दूर करने में लग जाती है। जिससे शरीर निरोगी व शक्तिशाली बनता है। भोजन बन्द कर देना अथवा फल व सब्जी या जल पर आश्रित रहना ही उपवास नहीं है। वरन उपवास का सम्बन्ध जीवन के सर्वांगीण विकास से हैं। उपवास का शब्दार्थ ही बहुत व्यापक है। उपवास दो शब्दों उप (समीप) तथा वास (निवास करना) से मिलकर बना है। जिसका अर्थ होता है – आत्म स्थित अर्था 'स्व' में स्थित होना। इसी प्रकार स्वास्थ्य भी स्व में स्थित होना ही है। उपवास और स्वास्थ्य का सह–सम्बन्ध है अंग्रेजी में उपवास को (फास्टिंग) कहते हैं। जो लैटिन शब्द फास्टेन से बना है। जिसका अर्थ दृढ़ निश्चय होता है। दृढ़ निश्चय तथा पूर्ण आस्था के साथ शरीर एवं आत्मषोधन द्वारा स्वास्थ्य प्राप्ति का प्रयत्न ही उपवास कहलाता है। उपवास शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वच्छता के लिये अपूर्व एवं एक ही उपाय है।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- उपवास के महत्व का अध्ययन करेगें।
- उपवास के प्रकारों के बारे में अध्ययन करेगें।
- उपवास के प्रभावों का अध्ययन एवं विश्लेषण करेगें।

10.3 उपवास का महत्व

उपवास का अर्थ है अपने पाचन संस्थान को पूर्ण विश्राम देना और यह विश्राम तभी मिल सकता है। जब हम भोजन का पूर्ण रूप से कुछ समय के लिये त्याग कर दें। तो उपवास

को परिभाषित करते हम कह सकते हैं कि ''भोजन का पूर्ण रूप से त्याग करते हुए केवल जल पर रहकर पाचन संस्थान को विश्राम देना उपवास कहलाता है।''

साधारणतः हम कभी भी अपने पाचन संस्थान को पूर्ण विश्राम नहीं दे पाते। इसका मुख्य कारण यह हे कि हम हमेशा कुछ न कुछ खाते ही रहते है। बहुत अधिक न भी हो, तो भी दो या तीन बार तो भोजन किया ही करते हैं।

जैसा हम सभी जानते हैं कि हमारे देश में उपवास की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। हिन्दू धर्म में व्रत करना, इस्लाम में रोजे रखना आदि इसके उदाहरण है। यह परम्परा चाहे जिस भी रूप में हो प्राचीन काल से अब तक वैसी ही चली आ रही है। यह संभव है कि अधिक लोग इसके उपचारिक गुणों को न जानते हैं। परन्तु हमारे ऋषि मुनियों ने इसे धर्म और आस्था से जोड़कर जो कार्य किया है। इसी की वजह से आज की कई लोग इसका अनजाने में ही सही परन्तु लाभ आवश्यक उठाते हैं।

हम अक्सर देखते हैं कि जानवर जब भी बीमार पड़ते हैं चाहे वो पालतू हो या जंगली सभी सबसे पहले अपना भोजन त्याग देते हैं। इस दशा में उन्हें कितना भी अच्छा भोजन दिया जाये वे नहीं खाते संभवतः इसी से हम जान भी पाते हैं कि वह पशु बीमार हैं।

पशु इस बात से अवगत होते हैं कि बीमारी की अवस्था में भोजन करना लाभ नहीं बल्कि हानि पहुंचाता है। परन्तु हम मनुष्य बुद्धिजीवी होते हुए भी इस बात को नहीं समझते और बीमारी की अवस्था में भी कुछ न कुछ खाते ही रहते हैं। जिससे ठीक होने के बदले और अधिक कष्ट पाते हैं।

कुछ लोग जो उपवास के गुणों से अनभिज्ञ होते हैं वे इसे भूखा मरना समझते है। जैसा कि हम जानते हैं कि रोग होने का कारण शरीर में स्थित विष है और उपवास काल में सर्वप्रथम इन्हीं विषों का नाश होता है। तब कहीं जाकर उन संचित पदार्थो से शरीर अपना काम चलाने लगता है। जो शरीर में विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिये जमा रहते हैं। जैसे वसा आदि।

विषों के समाप्त होने के बाद भी यदि उपवास जारी रखा जाये तो शरीर अपने पोषण के लिये उन पदार्थो का उपयोग करने लगेगा जो शरीर के लिये अति आवश्यक है और यह प्रक्रिया जारी रही तो शरीर धीरे–धीरे दुबला होकर क्षीर्ण होने लगेगा यहीं से क्षरण प्रारम्भ हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सक डॉ0 कैरिंगटन ने भूखे मरने तथा उपवास के बीच के अन्तर को साधारण व सरल शब्दों में स्पष्ट किया हैं वे कहते हैं कि उपवास भोजन त्यागने से शुरू होकर वास्तविक भूख के लगने पर समाप्त हो जाता है। परन्तु भुखमरी वास्तविक भूख के लगने से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर जाकर ही समाप्त होता है।

उपवास से न केवल शरीर बल्कि मन और आत्मा की भी शुद्धि होती है। क्योंकि उपवास काल में मन स्वतः ही परमात्मा की ओर लगता है मन में एक अपूर्ण सी शान्ति का अनुभव होता है। मन के शान्त होने और परमात्मा में लगने से आत्मा का भी परिष्कार होता है। इसीलिये कहा जाता है कि प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा शरीर मन, व आत्मा तीनों का उपचार एक साथ होता है। क्योंकि शुद्ध शरीर में, शुद्ध मन निवास करता है इसी शुद्ध मन के द्वारा हमारे आत्मा की शुद्धि हो जाती है।

उपरोक्त सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है। कि उपवास का महत्व हमारे जीवन में कितना अधिक है और इसी महत्व को जानकर हमें उसे अपनाना चाहिये जिससे हम स्वस्थ

बने रहें। उपवास को अपनाने के लिये उसका ज्ञान भी अति आवश्यक है इसी ज्ञान को पाने के लिये हम आगे इसके प्रकारों व प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

10.4 उपवास के प्रकार

उपवास रोग, रोगी व परिस्थिति के अनुसार कई प्रकार के हो सकते है। उनमें से हम अपनी सुविधानुसार जो उचित लगे उसे अपने हितार्थ चुनकर उससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं, इनमें से कुछ विधियों का वर्णन किया जा रहा है। रोगी या चिकित्सक इनमें से किसी एक को चुनकर उपचार करने में प्रयोग कर सकता है।

प्रातः कालिक उपवास :–यह काफी सुगम उपवास है। इसमें केवल सुबह का नाश्ता छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार का उपवास आजकल कई लोग ऐसे ही बिना जानकारी के कर लेते हैं। परन्तु उपवास के निगमों का पालन न करने वजह से इससे लाभ नहीं उठा पाते। इनमें वे होते है जो अक्सर देर रात तक काम करते हैं। तथा सुबह देर से उठते हैं। उनके उठने के बाद नहा धोकर निवृत्त होने तक दोपहर के भोजन का समय हो जाता है। जिस वजह से वे लोग नाश्ता दिन के भोजन के रूप ही करते है। यह अनजाने में किया हुआ बिना नियम का उपवास होता है जो लाभ देने के बजाय हानि पहुंचाता है।

प्रातः कालिन उपवास का लाभ तब लिया जा सकता है जब हम सुबह का नाश्ता छोड़कर केवल दिन और रात दो ही बार भोजन करें, यदि हम इसके अलावा भी दिन भर चरते (बार–बार खाते रहते हैं। तो लाभ नहीं सकते। इस उपवास में सुबह सूर्योदय से पहले उठकर अपने नित्य कर्म पूरे करके संध्या वन्दन करने से लाभ और अधिक बढ़ जाता है। इस उपवास को अंग्रेजी में छव ठतमां"लेजमउ कहा जाता है।

सायंकालिक उपवास :–इस उपवास को अद्वोपवास या एक समय का उपवास भी कहा जाता है। इस उपवास में रात्रि का भोजन बन्द कर दिया जाता है तथा रात–दिन में केवल एक बार ही भोजन किया जाता है। देखा जाये तो हमारा पूरा सिस्टम इसके उलट ही चलता है। हम लोग सारा दिन अपने काम काज में इतने व्यस्त होते हैं कि कई बार तो हमें दिन में खाने का समय भी नहीं मिल पाता या फिर अगर मिलता भी है तो वह इतना कम होता है कि हम उसे एक काम समझकर जल्दी–जल्दी निपटाने की कोशिश करते हैं जिससे वह भोजन हमें वह लाभ नही पहुंचा पाता जो वो पहुंचा सकता है। इस कारण जब दिन में भोजन नहीं कर पाते या ठीक से नहीं कर पाते हों फिर उसकी पूर्ति रात्रि में अधिक व गरिष्ट मसालेदार भोजन करके करते हैं। जो ठीक से पच नहीं पाता और हमारे पेट को खराब करके अपच, आदि को पैदा करता है। जो आगे चलकर कई जटिल रोगों मे परिणित हो जाते है। सांयकालिक उपवास ऐसे लोगों को अधिक लाभ देता है जो पुराने तथा जटिल रोगों में ग्रसित रहते हैं। इस उपवास में जो भी भोजन किया जाता है उसका सुपाच्य व प्राकृतिक होना अनिवार्य है तभी इसका पूर्ण लाभ लिया जा सकता है।

एकाहारोपवास :–हम लोग 24 घण्टे में मुख्यतः 3 बार भोनज करते हैं और हर बार कई तरह के खाद्य पदार्थो को एक साथ मिलाकर खाते हैं। जैसे रोटी, सब्जी, दाल, चावल, सलाद, अचार, दही, खीर, आइसक्रीम , मिठाई आदि जिनमें से कुछ तो मेल वाले खाद्य पदार्थ होते हैं तथा कुछ बेमेल खाद्य पदार्थ होते हैं जिनमें से मेल वाले खाद्य तो शरीर का पोषण करते हैं। तथा बेमेल खाद्य शरीर में विकार उत्पन्न करते हैं। इसी कारण इस बेमेल खाध्यो से होने वाले कष्टों के निवारण में लिये एकाहारोपवास एक उत्तम चिकित्सा है।

इस उपवास में एक समय में केवल एक ही खाद्य का सेवन करना होता है। जैसे यदि सुबह हमने रोटी खायी है तो इसके सिवा और कुछ नहीं खाना है तथा फिर शाम को केवल तरकारी ही लेनी है। अगले दिन सुबह कोई फल लें तथा शाम को केवल दूध का ही सेवन करना है।

इस तरह हम देखते हैं कि हम एक समय में एक से अधिक खाद्य ग्रहण नहीं करते जिसके कारण बेमेल खाद्यों से होने वाले कुप्रभावें को रोका या दूर किया जा सके। शरीर की छोटी–मोटी गड़बड़ी में यह उपवास लाभ के साथ किया जा सकता है। इससे साधारण स्वास्थ्य में असाधारण सुधार दिखायी देता है।

रसोपवास :–इस उपवास की विषेषता यह है कि इसमें कोई भी ठोस पदार्थ नहीं किया जाता चाहे वह फल ही क्यों न हो। इसमें केवल साग सब्जियों के रस व जूस या फलों के जूस का ही सेवन किया जाता है। यह उपवास एक प्रकार से पेट को अधिक विश्राम देने की दृष्टि से किया जाता है। दूध का सेवन भी इस उपवास में वर्जित माना जाता है। क्योंकि दूध भी ठोस खाद्य पदार्थो की श्रेणी में आता है। इस उपवास के साथ–साथ बीच–बीच में एनिमा लेते रहने से शरीर की सफाई अच्छी तरह से होती है। यह शरीर से विषों को दूर करने में उपवास की एक महत्वपूर्ण सहयोगी सिद्ध होता हैं

फलोपवास :–फलोपवास जैसा की नाम से ही स्पष्ट है। कि इस उपवास में केवल फलों या फिर साग–सब्जी आदि का ही सेवन कुछ दिनों तक लाभ के साथ किया जाता है। बीच–बीच में पेट की सफाई के लिये एनिमा लेते रहना चाहिये। इस उपवास को करते हुए कई बार किसी–किसी को एक ही फल या एक ही साग–सब्जी अनुकूल नहीं पड़ती, जिससे उसे पेट में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों को सलाह दी जाती है। कि वे फलोपवास से पूर्व दो तीन दिन का पूर्णोपवास कर लें, तत्पष्चात फलोपवास पर आयें, इस उपवास में वहीं फल लेने चाहिये जो आसानी से पच जायें यह फिर मौसमी फलों का सेवन करना चाहिये जो मौसम के अनुसार उत्पन्न होते हैं और उस मौसम में पचने योग्य भी होते हैं।

दुग्धोपवास :–दुग्धोपवास को दुग्धकल्प भी कहा जाता है। इस उपवास में आहार केवल दुग्ध ही होता इसके अलावा कुछ नहीं, कुछ दिनों तक दिन में 4–5 बार केवल दूध का ही सेवन करना होता है, इस उपवास में यह बात विषेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये कि जो दूध उपवास में प्रयोग किया जा रहा है वह दूध स्वस्थ गाय का होना चाहिये। क्योंकि यदि गाय स्वस्थ नहीं है तो उसका दूध भी स्वास्थ वर्धक नहीं होगा। उससे भी रोगी होने की संभावना रहती है। साथ ही कभी–कभी रोगी होने पर गाय को औषधि दे दी जाती है। जो उसके पूरे शरीर में घुलने के कारण रक्त में भी मिल जाती है और फिर दूध में भी और यदि यही दूध हम पीते हैं तो गाय के रोग मुक्त दूध के साथ उस औषधि का सेवन भी अनजाने में कर बैठते हैं। जो गाये को दी गयी, अतः इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य हैं दुग्ध कल्प के लिये गाय का धारोष्ण दुध हो तो उत्तम रहता है पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दिन में 4–5 बार दूध लेना है तो प्रत्येक बार धातेष्ण दूध मिलना संभव नहीं है। क्योंकि अक्सर सुबह और शाम को ही गाय को दुहाया जाता है। इसलिये बाकी समय गर्म करके फिर ठण्डा किया हुआ दूध भी लिया जा सकता है। यह उपवास अत्यन्त हितकारी सिद्ध होता है।

मठोपवास :—मठोपवास को मठ्ठा—कल्प के नाम से भी जाना जाता है। यदि किसी रोगी की पाचन शक्ति अत्यधिक निर्बल हो तो उसे दुग्धोपवास के स्थान पर मठोपवास करना चााहिये, क्योंकि दूध की अपेक्षा मठ्ठा जल्दी पच जाता है। साथ ही मठ्ठा कल्प में जो मठ्ठा प्रयुक्त किया जा रहा है। उसमें घी की मात्रा नहीं होनी चाहिये एवं वह कम खट्टा होना चाहिये। घी युक्त व खट्ठा मठ्ठा उपयुक्त नहीं समझा जाता है। मठोपवास आरंभ करने से पहले इसके लिये स्वयं को तैयार कर लिया जाये तो उत्तर होगा तैयारी के तौर पर मठोपवास से पूर्व 2—3 दिनों का पूर्ण उपवास कर लेना चाहिये ऐसा करने से लाभ की संभावना अधिक बढ़ जाती है। इस उपवास को लाभ के साथ एक से दो महीने तक सुगमता से चलाया जा सकता है। इस उपवास के द्वारा शरीर में उपस्थित सामान्य स्वास्थ्य में भी अत्यधिक उन्नति दिखायी देती है। इस उपवास को करते समय कभी—कभी पेट भारी लगता है। ऐसी अवस्था बीच—बीच में एनिमा लेकर पेट को आवश्यक साफ कर लेना चाहिये।

पूर्णोपवास :—अपनी इच्छा के अनुसार शुद्ध ताजे पानी के सिवा अनय कुछ भी खाद्य पदार्थ ग्रहण न करना पूर्णोपवास कहा जाता है। इस उपवास को करते समय कुछ विशेष नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। अन्यथा इसके कुछ सह प्रभाव जैसे पेट खाली होने पर वायु का बनना, भोजन के समय भोजन न करने के कारण पाचक रसों के स्राव से पेट में जलन का अनुभव, गैस बनने के कारण सिर दर्द होना, अभ्यस्त न होने के कारण कभी—कभी कमजोरी महसूस करना आदि छोटे—मोटे प्रभाव हैं इसके लिये किन नियमों का पालन अनिवार्य हैं या किन—किन चीजों का ध्यान रखना होता है व स्वयं को उपवास के लिये क्या तैयारी करनी चाहिये इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

साप्ताहिक उपवास :—यदि हम एक सप्ताह में केवल एक दिन पूर्ण उपवास करते हैं। तो इसे साप्ताहिक उपवास की संज्ञा दी जाती है। इस उपवास को करने से साधारण स्वास्थ्य ठीक रहता है और साथ ही इसका लाभ यह भी है कि इसे करने से रोगी होने की संभावना बहुत कम होती है। यह उपवास शारीरिक श्रम करने वालों की अपेक्षा जो लोग मानसिक श्रम करते हैं और जिनका कार्य एक स्थान पर बैठकर ही होता है के लिये अधिक लाभकारी है। अतः ऐसे लोगों को यह उपवास अवश्य करना चाहिये, उपवास के दिन (जो भी सुगम लगे) एक या दो बार एनिमा ले लेना चाहिये, इससे लाभ अधिक होता है। इस उपवास से भोजन में अरूचि मिटती है। सिर दर्द हो या फिर सुस्ती, आलस्यपन या अन्य कई मानसिक रोगों में इससे अत्यधिक लाभ मिलता है।

लघु उपवास :—जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि जो उपवास कम समय के लिये किया जाये वह लघु उपवास होता है इसे अपनी स्वेच्दा अनुसार अपनाया जा सकता है। इसकी अवधि 3 दिन से लेकर 7 दिनों तक हो सकती है।

कड़ा उपवास :—इस उपवास के नाम से ही यह विदित हो जाता है कि इसमें कठिनाईयां अधिक होंगी, और यह सत्य भी हैं क्योंकि इसमें पूर्णोपवास में प्रयुक्त सभी नियमों का कठोरता के साथ पालन किया जाता है। इसमें बिल्कुल भी लापरवाही नहीं हो सकती। यह उपवास साधारण अवस्था में नहीं किया जाता, इसका प्रयोग तभी होता जब रोग जीर्ण और असाध्य हो।

टूट उपवास :–यह उपवास लगातार न करके बीच–बीच में विश्राम लेते हुए किया जाता है इसका नाम ही इसकी विधि की ओर संकेत करता है। टूट उपवास अर्थात जो लगातार न चले तथा जिसके क्रम में बीच–बीच में विराम आये।

इस उपवास में दो दिनों से लेकर एक सप्ताह तक पूर्णोपवास का अभ्यास किया जाता है। तत्पश्चात फिर कुछ दिनों तथा हल्के सुपाच्य और प्राकृतिक भोजन किया जाता है। फिर पुनः 2 से 7 दिनों का उपवास किया जाता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है और तब तक निरन्तर चलता है जब तक कि इसे करने का जो कारण था वह समाप्त न हो जाये। अर्थात जिस रोग के उपचार के लिये इसका प्रयोग किया जा रहा था, वह रोग ठीक न हो जाये। इस उपवास का प्रयोग साधारण रोगों की अपेक्षा कष्ट साध्य जीर्ण रोगों में किया जाता है।

दीर्घ उपवास :–दीर्घ अर्थात अधिक दिनों तक इस उपवास में पूर्णोपवास को नियमों सहित सामान्य से काफी अधिक समय तक चलाना होता है जिसके लिये कोई निश्चित समय का निर्धारण संभव नहीं है। यह रोग की प्रकृति पर निर्भर होता हैं। इन उपवास में 21 दिन से लेकर 50 या 60 दिन भी लग सकते हैं। यह उपवास तभी समाप्त किया जाता है। जब वास्तविक भूख का अनुभव होने लगे, या फिर शरीर के सारे विजातीय द्रव्यों के पच जाने के बाद उनके शेष न रहने के कारण शरीर के आवश्यक अवयवों के भी पचने की नौबत आ जाये या ऐसी संभावना दिखायी दें। इस उपवास को जब शारीरिक दृष्टि से किया जाता है तो इस उपवास का लक्ष्य शरीर के विभिन्न भागों में अनावश्यक रूप से एकत्रित हुए विजातीय द्रव्य के निष्कासन की ही ओर होता है और जब यह कार्य पूर्ण हो जाता है तो इस उपवास को समाप्त कर दिया जाता है।

इस प्रकार की दीर्घ उपवास बिना तैयारी के अर्थात अपने शरीर को उसके अनुसार ढालने के लिये पहले से कुछ उपाय या इसके विषय में पूर्ण जानकारी के बिना नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो यह हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इस उपवास द्वारा शरीर पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनकी जानकारी के अभाव में उनके रोकथाम के लिये प्रयास करना संभव नहीं हो पाता है। जिससे एक के बाद एक परेशानी महसूस होती है और शरीर स्वयं को उसके अनुरूप नहीं ढाल पाता, और कष्ट पाता है। उचित तो यह है कि इसकी प्रयोग किसी उपवास विशेषज्ञ के मार्ग दर्शन में ही किया जाये ताकि इसके प्रभावों को नियन्त्रिक कर इसके दुष्प्रभाव जो कि जानकारी व मार्गदर्शक नहीं होने की वजह से होते हैं से बचा जा सके। अभी तक उपवास क्या है व कितने प्रकार का है चर्चा की गयी है, अब इस उपवास में प्रयुक्त होने वाले कुछ नियमों, व सहायक क्रियाओं का अध्ययन करेगें।

10.5 पूर्णोपवास के दिनों का निर्धारण

उपवास को कितने दिनों का होना चाहिये इसके लिये कोई निष्चित नियम नहीं है। यह पूरी तरह से इस बात पर निर्भर करता है कि जो व्यक्ति उपवास कर रहा है उसकी प्रकृति कैसी है। उपवास की क्या और कितनी आवश्यकता है तथा जो उपवास करना है उसका प्रकार क्या है अर्थात वह फलोपवास है या दुग्धोपवास या कोई अन्य यही देखा जाये तो कोई व्यक्ति साधारणतः पांच से सात दिनों का पूर्णापवास आसानी से कर सकता है। परन्तु कुछ लोगों की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वह लम्बे उपवास को करने में समर्थ नहीं होते क्योंकि वे लोलुप, दुराचारी एवं अधीर आदि प्रवृत्ति के होते हैं, परन्तु इनके विपरीत जो

व्यक्ति शुद्ध विचार वाले, सदाचारी व धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। उनके लिये इस प्रकार के लम्बे उपवास अधिक अनुकूल होते है। जो व्यक्ति अच्छे स्वास्थ्य की इच्छा रखते हैं। उन्हें सप्ताह में कम से कम एक दिन उपवास अवश्य रखना चाहिये, सप्ताह का वह दिन रविवार हो तो अधिक उपयुक्त है क्योंकि उस दिन अवकाश होने के कारण काम नहीं होता, व्यक्ति घर पर रहकर उपवास के नियमों का पालन आसानी से कर सकता है। जब कार्य स्थल पर ये सब सम्भव नहीं होता वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति को लगातार प्रतिमाह की दो एकादशियों को व साल में आठ से दश दिन का पूर्णोपवास अवश्यक करना चाहिये, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अति उत्तम है।

1.5.1 पूर्णोपवास के लिये तैयारी कैसी हो :–

यदि देखा जाये तो उपवास के लिये किसी प्रकार की तैयारी की आवष्यकता नहीं होती, क्योंकि जब हम भूखे होते हैं तो भोजन करने से पहले कोई तैयारी तो नहीं करते, या कोई विपत्ति अचानक आ जाये तो उसके निवारण के लिये तैयारी करने में समय नष्ट करके सीधे उसके निवारण में रत हो जाते है। तो फिर उपवास के लिये कोई विशेष क्यों करें इसकी क्या आवश्यकता है। हां जब हम उपवास शुरू करते हैं तब अपने मन को उपवास के लिये दृढ़ बनाने की आवष्यकता अवष्य महसूस की जाती है। क्योंकि यदि मन में दृढ़ता का अभाव रह जायेगा तो उपवास काल के संकट से मन विचलित हो सकता है और व्यक्ति उपवास को बीच में छोड़ भी सकता है। जबकि मन के दृढ़ होने पर वह हर स्थिति में शांत बना रहता है और लम्बे से लम्बा उपवास भी आसानी से किया जा सकता है। इसके अलावा यह लम्बा उपवास शुरू करने से पहले कुछ दिनों तक सादे आहार का सेवन किया जाये, सूर्य स्नान, कटिस्नान व थोड़ा व्यायाम भी कर लिया जाये तो इस उपवास से लाभ की संभावना अधिक बढ़ जाती है। इन सभी चीजों के साथ यह भी आवश्यक है कि उपवास करने वाला व्यक्ति उपवास के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लें ऐसा करने पर उपवास काल में उसके आत्म बल में वृद्धि होगी तथा उपवास पर उसका विश्वास भी बढ़ेगा, जिससे उपवास काल में आने वाली परेशानियों से वह घबरायेगा नहीं। इसमें एक ओर बात जिसका ध्यान रखा जाना आवश्यक है उपवास करने से पूर्व उपवास करने वाले व्यक्ति को नाड़ी तथा अपने हृदय की जांच अवष्य करा लेनी चाहिये क्योंकि नाड़ी की गति असामान्य व हृदय के कमजोर होने की दषा में उपवास करने वाले व्यक्ति को परेशानी उठानी पड़ सकती है और उपवास बीच में ही छोड़ना पड़ सकता है। यह उपवास जीर्ण रोगों के उपचारार्थ किया जाता है। इस लम्बे उपवास को शुरू करने से पहले रोगी को अपने भोजन में धीरे–धीरे परिवर्तन लाना चाहिये जैसे उपवास से कुछ दिन पहले एक समय का भोजन त्याग देना चाहिये उसे कुछ दिन बाद अन्न को पूर्ण रूप से त्यागते हुए केवल फल आदि पर ही रहना चाहिये तथा इसके दो–तीन दिन बाद लम्बा पूर्ण उपवास करना चाहिये।

इसके अलावा यह भी प्रश्न उठ सकता है कि उपवास कब अर्थात किसी ऋतु में करे ? क्या ग्रीष्म ऋतु उपयुक्त या फिर शीत ऋतु इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता हैं कि इसके लिये समय का निर्धारण उपवास को देखकर नहीं अपितु जिस कारण उपवास किया जा रहा है, उसे देखकर करना चाहिये, इसके लिये कोई ऋतु नहीं हैं। जब उपवास की आवष्यकता लगे तब उपवास कर लेना चाहिये, परन्तु कभी–कभी कुछ लोगों को गर्मी का समय उपवास के अनुकूल नहीं लगता, वे लोग सर्दी में उपवास करना पसन्द करते हैं

वैसे यदि लाभ की दृष्टि से देखा जाये तो ग्रीष्म व बसन्त ऋतु में उपवास करना चाहिये क्योंकि इस समय पर्याप्त गर्मी व धूप प्राप्त होती हे जो विजातीय द्रव्यों को शरीर से निकालने में सहायक सिद्ध होती है।

1.5.2 पूर्णोपवास के समय में उचित लाभ हेतु किये जाने वाले कर्म :–

जब पूर्णोपवास चल रहा होता है, तब कुछ कर्म ऐसे होते है जिसका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

उपवास काल में आवश्यक रूप से जल पीना :–उपवास के समय किसी भी प्रकार की बाध्य सामग्री ग्रहण नहीं चाहिये, परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि निश्चित अन्तराल पर शुद्ध स्वच्द जल का सेवन आवश्यक है। यदि सारे दिन की बात करे तो एक दिन में लगभग आठ लीटर जल पीया जा सकता है। परन्तु यदि इतना न भी पीया जाये तो भी लगातार जल पीना आवश्यक है मात्रा चाहे कुछ कम भी हो यदि इच्छा हो तो जल के साथ नींबू का रस भी लिया जा सकता है। यह शारीरिक सफाई की दृष्टि से काफी अच्छा रहता है। यदि उपवास काल में प्रर्याप्त जल न पिया जाये तो हानि की अत्यधिक संभावना रहती है। शरीर में जल की कमी के कारण आंते सूख सकती है। रक्त गाढ़ा हो सकता है रक्त की स्वाभाविक गति में बाधा उत्पन्न हो सकती है। इस समय में जल पीने से शरीर में उष्णता बढ़ती है जो उपवासी के लिये परेशानी का कारण बन सकती है।

इन सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपवास में जल पीने का क्या महत्व है। अतः इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। क्योंकि उपवास में प्यास अधिक नहीं लगती लेकिन फिर भी जल पीना अनिवार्य है।

उपवास काल में एनिमा का प्रयोग :–उपवास काल में एनिमा लेना भी अत्यधिक आवश्यक माना जाता है। यह जल पीने से कम महत्वपूर्ण नहीं है। उपवास काल में हमारी आंते अपना कार्य लगभग बन्द कर देती है इसलिये दूसरे माध्यम से रोग साफ करना नितान्त अनिवार्य है। हम सोचते हैं कि जब कुद भोजन किया ही नहीं तो पखाना कैसे होगा। परन्तु सत्य यह है कि आंत कभी भी मल से पूरी तरह खाली नहीं होती। कुछ न कुछ मात्रा में आंतों में मल रहता ही है। भोजन न करने की अवस्था में भी आंतों की स्वाभाविक क्रिया के फल स्वरूप मल उत्पन्न होता रहता है। जिसे साफ करने की आवश्यकता पड़ती ही है। इसलिये उपवास काल में प्रतिदिन कम से कम एक बार एनिमा ले लेना चाहिये, एनिमा के गुनगुने या ठण्डे पानी का प्रयोग किया जा सकता है यदि पानी थोड़ा नींबू का रस मिला दें तो सफाई और अच्छी तरह से होती है।

उपवास काल में स्नान की आवश्यकता :–वैसे तो साधारण अवस्था में भी हम स्नान करते ही हैं। उपवास काल में भी शीतल जल से साधारण स्नान को जारी रखना चाहिये। इसके साथ हर दूसरे दिन कटि स्नान या मेहन स्नान (लिंग स्नान) भी किया जाये तो उत्तम रहता है। कभी–कभी दीर्घ उपवास में रोगी पूर्ण स्नान करने में असमर्थ रहता है। उस दशा में उसे रोग गर्म पानी में भीगे तथा निचोड़े हुए वस्त्र से शरीर को रगड़–रगड़ कर अवश्य ही पौंछ लेना चाहिये।

उपवास काल में व्यायाम :–कभी–कभी लोग सोचते हैं कि उपवास में पूरी तरह से विश्राम करना चाहिये, सभी काम छोड़कर पंलग पर लेटे रहना चाहिये जो उचित नहीं है, उपवासकाल में भी अपनी क्षमता के अनुरूप थोड़ा परिश्रम का कार्य अवश्य करते रहना चाहिये। उत्तम स्वास्थ्य को देखते हुए जीर्ण रोगों के उपचारार्थ किये गये उपवास में अपने

साधारण दैनिक कार्यो के साथ अपनी शक्ति के अनुसार व्यायाम भी आवश्यक है। परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखा जाये की व्यायाम से थकान न होने पाये, क्योंकि शारीरिक शक्ति घट जाने पर किया हुआ परिश्रम हानि पहुंचा सकता है। ऐसे व्यक्तियों को अधिक व्यायाम न करते हुए केवल चलना फिरना तथा बहुत हल्के व्यायाम करते रहना चाहिये।

कभी–कभी रोगी की अवस्था ऐसी हो जाती है कि वह उपवास काल में पलंग पर ही पड़ा रहता है। उसमें उठकर व्यायाम करने की शक्ति नहीं रहती, उस दशा में उसे पंलग पर पड़े–पड़े ही अपने हाथ, पैरों को चलाते रहना चाहिये। जो लोग पतले होते हैं अर्थात जिनके शरीर वसा की मात्रा कम होती है वे लोग ही पंलग पकड़ते हैं क्योंकि उनके शरीर की वसा का भण्डार जल्दी समाप्त हो जाता है। जिस कारण उनको अपने कार्यो हेतु उचित शक्ति नहीं मिल पाती और वे कमजोरी महसूस करने लगते हैं।

उपवास काल में विश्राम करना :–उपवास के समय जितना आवश्यक नियमित स्नान व व्यायाम है उतना ही अनिवार्य विश्राम करना भी। जो रोगी उपवास काल में अधिक कमजोर हो जाते हैं। उन्हें तो पूर्ण विश्राम करना अनिवार्य हो जाता है। इसके लिये एक बात और है कि यदि जितना विश्राम हम उपवास के समय शरीर को देते हैं यदि उतना ही विश्राम उपवास की समाप्ति के बाद भी दें तो किसी भी प्रकार नुकसान की संभावना स्वतः समाप्त हो जाती है। विश्राम हेतु यदि रोगी को गाढ़ी निद्रा आये तो वह उसके लिये उत्तम स्थिति है।

उपवासकाल में मानसिक दशा :–उपवास काल में मन की शान्ति अति अनिवार्य है यदि मन शान्त नहीं रहता तो न तो उपवास में मन लगता है और न उपवास के लिये आवश्यक धैर्य ही रह पाता है। मन को उपवास काल या फिर किसी भी समय शान्त व स्थिर रखने का सबसे उत्तम व आसान तरीका है। ईश्वर की उपासना करना, इसलिये रोगी को चाहिये कि वह अपने मन को ईश्वर पर लगाये। महात्मा गांधी का मत था कि यदि हम केवल शारीरिक उपवास ही करते हैं तथा मानसिक उपवास नहीं करते तो हम अपने शरीर के दम्भाचरण करते हैं। जो ठीक नहीं है। शरीर के साथ मन के उपवास का तात्पर्य हैं कि रोगी केवल बाहरी रूप से भोजन का ही त्याग न करें बल्कि आन्तरिक रूप से अपनी इन्द्रियों के भोगों का भी त्याग करें, क्योंकि यदि हम भोजन त्यागते हैं और हमारे मन में भोजन करने की इच्छा लगातार बनी रहे तो इस वजह से भोजन करने की इच्छा लगातार बनी रहे तो इस वजह से हमारा कष्ट और अधिक बढ़ जाता है। हमें बार–बार भूख लगती है अपने द्वारा ग्रहण किये हुए तमाम भोज्य तमाम स्वाद याद आते हैं जो उपवास में विघ्न उत्पन्न करते हैं इसके विपरीत यदि मानसिक रूप से भी उपवास किया जाये तो वह रोगी को प्रसन्नता एवं आशावान बनाये रखता है। जिससे उसमें उपवास काल के कष्टों को सहने की दृढ़ता आती है।

उपवास काल में उपचार कैसा हो–उपवास काल में किसी भी औषधि का सेवन करना अत्यन्त घातक सिद्ध होता है यदि उपवास काल में कुछ उपद्रव उत्पन्न हो या तबियत बिगड़ने या जी घबराने की दशा में सीधे सादे प्राकृतिक उपचारों का ही सहारा लेना ही उचित है।

10.6 पूर्णोपवास कब और किस प्रकार तोड़ना चाहिये

उपवास तोड़ना उपवास करने से कठिन कार्य है इसके लिये अत्यधिक सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। तथा कठोर आत्म संयम का होना अनिवार्य है उपवास

के समय पाचन शक्ति बहुत अधिक दुर्बल हो जाती है। इसलिये उपवास तोड़ने पर बहुत सावधानी के साथ अत्यधिक हल्का व सुपाच्य भोजन बहुत कम मात्रा में लिया जाना चाहिये। उपवास तोड़ने के अधिक उपयुक्त तो यह है कि सबसे पहले जल के समान तरल पदार्थ लेने चाहिये, इनमें फलों का रस, सब्जियों का रस आदि लिया जा सकता हैं कुछ दिन तक यह क्रम अपनाने के बाद धीरे–धीरे हल्के तरल भोज्य जैसे पतली व सादी खिचड़ी अल्प मात्रा में लेनी चाहिये फिर धीरे–धीरे उसकी मात्रा व ठोसपन को बढ़ाना चाहिये इस क्रम को अपनाते हुए धीरे–धीरे साधारण भोजन पर आना चाहिये। इसके अलावा यह भी एक मुख्य प्रश्न है कि उपवास कब तोड़ा जाये ? इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर उपवास करने से पूर्व दे पाना मुश्किल है इसका पता निम्नलिखित बातों पर ध्यान देकर लगाना चाहिये।

- जब रोगी को वास्तविक भूख लगे तथा गले और मुंह में उस भूख की संवेदना हो।
- जब उपवास काल में जीभ पर जमी मैल साफ हो जाये।
- नाड़ी सही गति से चलने लगे।
- जब शरीर का तापमान सामान्य हो जाये।
- त्वचा में शुद्ध के प्रवाह के कारण व मुलायम व लचीली हो जाये।
- शरीर हल्का महसूस हो, शरीर में एक अलग सी स्फूर्ति हो तो यह समझ लेना चाहिये कि अब आगे उपवास की आवश्यकता नहीं है अतः इस समय उपवास तोड़ देना चाहिये।

10.7 पूर्णापवास के बाद सावधानी

उपवास तोड़ने के बाद भूख अधिक लगती है और कभी–कभी रोगी अधिक खा लेता है। परन्तु ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये इस समय संयम की अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस समय अपनी जीभ को संयमित रखते हुए और भोजन करते समय प्रत्येक ग्रास को धीरे–धीरे चला कर खाने से भूख पर काबू किया जा सकता है। इसके साथ ही उपवास अपनी बुरी आदतों को छोड़ने का एक शसक्त माध्यम भी बनता है। इसके लिये उपवास काल में छोड़ी गयी बुरी आदतों को पुनः अपनाने से बचना चाहिये।

पूर्णोपवास द्वारा शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव :–पूर्णोपवास का प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है, और सारे अंग प्रत्यंग व संस्थानों को प्रभावित करता हैं।

पाचन पर प्रभाव :–भोजन अधिक मात्रा में करना या बिल्कुल ही न करना दोनों ही दशायें आमाशय पर प्रभाव डालती है। उपवास के दूसरे या तीसरे दिन अत्यधिक भूख लगती है जिससे अत्यधिक बेचैनी सी प्रतीत होती है। इस भूख के शांत होने के बाद शरीर से विषों का निकलना प्रारम्भ हो जाता है। यह अवस्था शरीर में उपस्थित विषों की मात्रा के अनुसार उसे चार दिनों तक बनी रहती है। कभी–कभी विष अत्यधिक होने के कारण यह स्थिति 14–15 दिनों तक भी देखी गयी है। विषों के निकलने पर जीभ में मल, श्वास में दुर्गन्ध तथा भूख पूरी तरह से समाप्त हो जाती है। विषों के नष्ट हो जाने के बाद पेट हल्का हो जाता है और वास्तविक भूख की प्रतीती होती है। जीभ का मैल दूर हो जाता है। शरीर में हल्कापन लगने लगता है।

रक्त का प्रभाव :–उपवास के समय रक्त कई परिवर्तन देखे गये हैं।

उपवास काल में रक्त अणुओं की संख्या शुरू में घटती है परन्त कुछ समय बाद बढ़ने लगती हैं।

उपवास काल में समय बढ़ने के साथ ॅठब की संख्या घटने लगती हैं।

इओसिनोफिल्स तथा पोली यूक्लियर की संख्या बढ़ जाती है।

यकृत पर प्रभाव :–उपवास काल में पित्त बढ़ने से आंतों में स्थित मल पूर्ण रूप से साफ हो जाता है। पित्त अधिक निकलने से ही अजीर्ण कब्ज, दस्त आदि रोगों का उपवास द्वारा दूर किया जा सकता है।

मूत्र संस्थान पर प्रभाव :–आमाशय के उत्पन्न विष रक्त द्वारा शरीर में फैलकर बाद में वृक्कों द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं। इनमें सबसे प्रमुख यूरिया होता हैं यदि यह शरीर से बाहर न निकले तो इसके परिणाम घातक होते है। उपवास काल में मूत्र द्वारा यह यूनिया तेजी से निकलता है। जिससे शरीर में इसकी मात्रा कम होने लगती है जिससे यह पता चलता है कि अब शरीर की शक्ति घटने लगी है। इस विषय में डॉ0 हेग लिखते हैं।

ष् इमसपमअम जींज जीम इवकल ीं इमहनद जव विवक वद पजे वूद जपेनमेण्ष

अर्थात – शरीर के पाचक रस उस वक्त शारीरिक उतकों को नष्ट करने लगते हैं, और उत्पन्न यूरिया मार्ग द्वारा बाहर होने लगता है।

नाड़ी पर प्रभाव :– उपवासकाल में कुछ अवस्थाओं में तो नाड़ी की गति सामान्य बनी रहती है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसकी गति कम हो जाती है।

त्वचा पर प्रभाव :–प्रायः अधिक व अनुपयुक्त आहार द्वारा शरीर में त्वचा के नीचे अधिक वसा जमा हो जाती है। जिस कारण त्वचा में स्थित रोम छिद्र लगभग बन्द से हो जाते हैं। तथा पसीना नहीं होने के कारण शरीर में स्थित विष रोम छिद्रों से बाहर नहीं निकल पाते। उपवासकाल में जब शरीर में जमी वसा घटने लगती है तब रोम छिद्र खुलने लगते हैं और अधिक मात्रा में पसीना आने लगता है। जिससे शरीरस्थ विष तेजी से बाहर निकलने लगता हैं। जिससे रोगी के पसीने में अत्यधिक दुर्गन्ध आने लगती हैं। परन्तु विष निकल जाने के बाद यह दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है।

स्नायु संस्थान पर प्रभाव :–शरीर में स्नायु संस्थान का स्थान सबसे मुख्य है इसमें दोष उत्पन्न होने पर शरीर में कोई ना कोई दोष उत्पन्न हो जाता है। उपवास करने से रक्त शुद्ध होता है। जिससे मस्तिष्क से विषों का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जिससे स्नायु सम्बन्धी रोग ठीक हो जाते हैं।

शरीर भार पर प्रभाव :–शुरू में 1–2 दिन तक कोई अन्तर नहीं आता परन्तु 2–3 दिन बाद लगभग 2 किलो भार कम हो जाता है और इसके बाद 1/2 किलो भार प्रतिदिन के लगभग कम होता रहता है।

श्वास पर प्रभाव :–प्रथम 2–3 दिनों तक श्वास दुर्गन्ध मुक्त होती है फिर 6–7 दिन बाद यह दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है क्योंकि शरीर निर्मल हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न–

प्र01 उपवास के माध्यम से तत्व................ की प्राप्ति होती है।

क. पृथ्वी ख. वायु

ग. आकाश घ. जल

प्र02. एकोहारो उपवास में आहार..................... ग्रहण करते हैं।

क. एक ख. दो

ग. मिश्रित घ. सन्तुलित

प्र03. उपवास के दिनों में.................... अत्यधिक लाभदायक है।

क. जल नेति ख. ऐनिमा

ग. वायु चिकित्सा घ. पवन स्नान

प्र04. उपवास का.......................... निषेध है।

क. मोटापा में ख. अस्थमा में

ग. मधुमेह में घ. गठिया में

10.7 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपवास ही रोगों की सर्वोत्तम औषधि है जो किसी अन्य साधन के बिना ही रोग को दूर करने की क्षमता रखता है ओर इससे किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं होती। बशर्ते इसे नियम पूर्वक अपनाया जाये। जैसा कि हम जानते हैं कि शरीर में लगातार विकास और विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है अर्थात कोषिकायें बनती रहती है और नष्ट होती रहती है। जिससे शरीर में अनेक विष उत्पन्न होते रहते हैं। हमारे शरीर में जो तीव्र रोग अनेक विष उत्पन्न होते रहते हैं। हमारे शरीर में जो तीव्र रोग उत्पन्न होते है। वे उसी विष को निकालने का बड़ा साधन होते हैं और जब प्रकृति इन विषों को निकालने में समर्थ नहीं हो पाती तो उपवास काल में उन विषों को बाहर निकालने में सहायता होती है। शरीर निर्मल बन जाता है। उपवास के माध्यम से आकाश तत्व की प्राप्ति होती है।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर. 1.ग 2.क 3.ख 4.ग

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्राकृतिक आर्युविज्ञान – डॉ0 राकेष जिन्दल
2. प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग, वैज्ञानिक प्रयोग – डॉ0 नागेन्द्र कुमार नीरज
3. प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग – ब्रह्मवर्चस्व
4. वांगमय जीवेम शरद सतम्। – आचार्य श्री राम शर्मा

10.10 निबंधात्मक प्रश्न :–

1. उपवास के प्रकारों का वर्णन करें।
2. पूर्वो उपवास के लिये क्या तैयारी होनी चाहिये।
3. उपवास का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है।
4. उपवास काल में किये जाने वाले कर्म क्या है।

इकाई 11 मिटटी के प्रकार–महत्व एंव विभिन्न रोगो में उसका प्रयोग

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 मिटटी के प्रकार
11.4 मिटटी का महत्व
11.5 विभिन्न रोगो की मिटटी का प्रयोग
  11.5.1 वमन
  11.5.2 अल्सर
  11.5.3 सिरदर्द
  11.5.4 बुखार
  11.5.5 बहरापन
  11.5.6 ब्रोनकाइटिस
  11.5.7 थायरायड
  11.5.8 मोटापा
  11.5.9 कमर दर्द
11.6 सारांश
11.7 सन्दर्भ गंन्थ सूची
11.8 अभ्यास प्रशनो के उत्तर
11.9 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

हमारा शरीर पंचतत्वों से बना है जिसमें पंचतत्वों में पृथ्वी तत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें मनुष्य की उत्पत्ति उसका पालन पोषण वृद्धि, विकास तथा विनाश पृथ्वी पर पूर्णतया निर्भर है मानव जीवन इन्हीं पर निर्भर है यही कारण है कि पृथ्वी को माता कहा गया है। मिट्टी से अनाज, अनाज से पौष्टिकता प्राप्त होती है। मिट्टी विशैले तत्व को नष्ट करती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन तत्वों में ज्यादा स्थूल पृथ्वी तत्व है। बाइबिल में कहा गया है – ''ईश्वर ने पृथ्वी से धूल उठाकर पुतला बनाया और फिर उसके नथुनों में प्राण फूॅके और उसे सजीव प्राणी बना दिया। इसी कारण पृथ्वी को माता और आकाश को पिता कहा गया है।मिट्टी सभी रोगों की रामबाण औषधि है इसमें विषैले तत्व को नष्ट करने की शक्ति होती है मिट्टी चिकित्सा एक ऐसी विशिष्ट चिकित्सा पद्धति है मिट्टी का उपयोग केवल रोगों के उपचार हेतु नहीं अपितु शरीर को बलशाली, पुष्ट एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि के लिये भी करते हैं। मिट्टी चिकित्सा अमूल्य पद्धति है जिसका शरीर तथा मन दोनों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। महात्मा गांधी– ''मिट्टी से हमारा शरीर बना है इसी मिट्टी में जन्म हुआ है और एक दिन मर कर भी इसी मिट्टी में मिलकर राख बन जाना है।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- मिटटी के प्रकारो का अध्ययन करेगें।
- मिटटी के महत्व को जानेगें।
- मिट्टी चिकित्सा का रोगो पर प्रभाव का अध्ययन करेगें।
- विभिन्न प्रकार के रोगो के लक्षण व कारणो के बारे में जानेगें।

11.3 मिट्टी के प्रकार–

काली मिट्टी –यह चिकनी होती है बालों को साफ करने के उपयोग में लाई जाती है। इस मिट्टी में सोखने की क्षमता कम होती है इसलिये इसमें बालू मिलाते हैं।

लाल मिट्टी –यह मिट्टी पहाड़ी जगह में पाई जाती है, गेरू भी इसी प्रकार की होती है जो मकान रंगने व पुताई करने में और विशेष रूप पित्ती होने पर करते हैं।

मुल्तानी मिट्टी– त्वचा के रोगों में विशेष लाभकारी होती है, इसे प्रायः उबटन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

ईटों के भट्ठे की मिट्टी –इस मिट्टी का प्रयोग घाव पर किया जाता हे इसमें वैक्टीरिया व जीवाणु नहीं होते हैं।

सज्जी मिट्टी – इस मिट्टी का उपयोग कपड़े साफ करने में किया जाता है।

पीली मिट्टी– इसमें ठण्ड तथा गरमी को रोकने की क्षमता अधिक होती है, और जल को सोखने वाली होती है, इसे सभी प्रकार के रोगों में इस्तेमाल कर सकते हैं।

पिण्डोर (चिकनी मिट्टी) –यह अधिक चिकनी होती है और शरीर की सफाई के लिये विशेषकर बालों की सफाई के लिये बहुत लाभदा**यक है।**

बालू मिट्टी :– बालू भी मिट्टी ही है जो मनुष्य शरीर के लिये अत्यधिक लाभदायक है। परन्तु इसके गुण को प्राकृतिक चिकित्सक ही भली भांति जानते हैं। बालू भक्षण हमारे स्वास्थ्य के लिये बहुत हितकारी है। पहाड़ी चष्मों के पानी में बालू के कण विद्यमान होते हैं। जिस कारण वह स्वास्थ्य वर्धक सिद्ध होता है। जिसके कारण वहां रहने वाले लोगो मे कब्ज की समस्या नही पायी जाती क्योकि बालु के कारण पाचन किया सही प्रकार कार्य करती हैऔर आंतों की सफाइ सही प्रकार होती है। बालु मिटटी में चिकनी मिटटी को मिला कर चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। जिससे उसकी कीटाणु नासेक क्षमता बड जाती है।

11.4 मिटटी का महत्व

मिट्टी में सभी रोगों को दूर करने की अद्भुत शक्ति होती है इसमें रासायनिक सम्मिश्रण विद्यमान होता है। जो विभिन्न प्रकार के रोगो को दूर करने मे सहायक होता है। मिट्टी में विष को सोखने की अद्भुत शक्ति होती है। सांप बिच्छु आदि के काटने पर मिटटी का लेप आश्चर्यजनक रूप से कार्य करताहै। मिटटी सभी प्रकार के विषो को सोखने की क्षमता रखती है।सभी प्रकार की दुर्गन्ध मिटाने के लिये लोग अपने घरों में मिट्टी लेपते हैं और दुर्गन्ध की जगह पर मिट्टी का प्रयोग करते हैं।जिससे दुर्गन्ध का नास होता हैं।

मिट्टी में विलक्षण विद्रावक शक्ति होती है जिससे वह फोड़े को भी पका देती है।और मवाद को बहा देती है। जिसके कारण वहां के विजातीय द्रव्य बाहर निकल कर समाप्त हो

जाते है। बौर फोडे को ठीक कर देती है। मिट्टी में सर्दी गर्मी रोकने की शक्ति होती है तभी योगी लोग अपने शरीर पर मिट्टी लगाये रहते हैं जिससे कड़ी धूप और कड़ाके की सर्दी दानों में उनके नंगे बदन की रक्षा स्वतः ही होती है।पेट, सिर पर मिट्टी बांधने से तेज बुखार घण्टे दो घण्टे में हल्का हो जाता है। मिटटी में अग्नि की उष्णता का शोषण करके उसे शान्त करने की क्षमता होती है।शरीर का कोई भी हिस्सा जल जाने पर मिट्टी बांधने से जलन कम हो जाती है सूजन नही होती है।

प्रो0 स्टांकलासा के अनुसार – मिटटी में एक प्रकार का रेडियम होता है जो शरीर की ग्रन्थियों को प्रभावित करके स्वास्थ्य वृ,द्वि करता है।मशीनो द्वारा प्राप्त रेडियम प्राय हानिकारक होती है जबकि मिटटी के प्राकृतिक रेडियम से हानी नही ब्लकि लाभ ही होती है।

डां0 लिंडलार के अनुसार–मिटटी त्वचा के रोम छिद्रो को खोलती है रक्त को उपरी भाग में खींचती है अन्दर के दर्द एंव रक्त संचय को दूर करती है और विजातीय द्रव्य को बाहर निकालती है।

तैतरीय उपनिषद – में कहा गया है कि आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई आकाश से वायु वायु से अग्नि अग्नि से जल की जलसे पृथ्वी की पृथ्वी से औषधि की औषधि से अन्न की और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति हुई ।अत मानवी सृष्टि का उत्पादक पृथ्वी ही है।

11.5 विभिन्न रोगो की मिटटी चिकित्सा

11.5.1 वमन– पेट में विजातीय विषो के अधिक जमा होने पर जब वह मुंह के रास्ते बाहर निकलने लगता है तो इसे ही वमन कहते है।यह प्रकृति द्वारा किया गया कार्य है। जो वमन के द्वारा शरीर से विजातीय पदार्थ को बाहर निकालता है।यघपि यह एक और सफाई की क्रिया है लेकिन बढ जाने पर यह तीर्व रोग का रूप ले लेता है जिसे उपचार की आवश्यकता होती है।

लक्षण–

–मुंख से बार बार उलटियां होना।
–पेट में दर्द व ऐठन होना।
–जी मचलाना एंव चक्कर आना।
–खटटी डकारे आना।
–पित्त बढना।
–पेट में गैस बनना।
–पेट में संक्रमण होना।

कारण–

–अपच की अवस्था में खाना सही प्रकार न पच पाने के कारण
–खाने पीने की मात्रा अधिक होने से
–पाचन संस्थान की विकृति के कारण
–पाचक रसो की अनियमितता से
–विषाक्त पदार्थो के सेवन से
–असमय भोजन करने की आदत

वमन की मिटटी चिकित्सा –वमन का मूल कारण पेट का विजामीय द्रव्य होता है मिटटी

का कार्य होता है पेट के विषो को बाहर निकालना।

–पेट के विषो को बाहर निकालने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए । और मिटटी के गर्म होने पर पुन ठंडी मिटटी पटटी लगानी चाहिए।

–रोग की तीर्व अवस्था में पेट को ठंडा रखने का प्रयास करना चाहिए। और ठंडी मिटटी की पटटी को बार बार बदलते रहना चाहिए।

–रोगी की आंखो पर भी मिटटी पटटी लगानी चाहिए। जिससे शान्ति का अनुभव हो

11.5.2 अल्सर – अल्सर अंग्रजी भाषा का शब्द हैं।जिसका अर्थ है घाव या छाला । हमारे शरीर में खासकर पेट में और आंतो में जो घाव होता है उस धाव को अल्सर कहते है।यह आधुनिक सभ्यता की देन हैं आजकल अल्सर के रोगियो की संख्या दिनो दिन बढती जा रही है जिसका मुख्य कारण अनुचित आहार विहार है।

लक्षण –

–पेटमें जलन रहना
–खाना खाने के बाद पेट में दर्द होना
–बैचेनी तथा भारीपन
–छाती में जलन
–खाना नही खा पाने की वजह से कमजोरी
–चेहरे पर घबराहट
–प्रतिरोघक क्षमता की कमी

कारण–

–ज्यादा मिर्च मसाले वाला भोजन
–अत्यधिक चाय काफी व शराब सिगरेब का सेवन
–खाना समय से न खाना
–खाली पेट दवाईयां खाना
–हाइपर एसीडिटी होने पर
–अत्यधिक तनाव व चिन्ता करना
–वंशपरम्परा
–गरिष्ट एंव मांसाहारी भोजन

अल्सर की मिटटी चिकित्सा –

– अल्सर का मूल कारण पेट में अग्नि तत्व की अधिकता होती है मिटटी का कार्य होता है अग्नि का समन करना

–पेट की अग्नि को करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए । और मिटटी के गर्म होने पर पुन ठंडी मिटटी पटटी लगानी चाहिए।

–रोग की तीर्व अवस्था में पेट को ठंडा रखने का प्रयास करना चाहिए। और ठंडी मिटटी की पटटी को बार बार बदलते रहना चाहिए।

–रोगी की आंखो पर भी मिटटी पटटी लगानी चाहिए। जिससे शान्ति का अनुभव हो

–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।

11.5.3 सिरदर्द– सिरदर्द वास्तव में कोई रोग नही हैं अपितु यह शरीर में हो रही किसी

असामान्य घटना की प्रतिक्रिया है जो यह सुचना देती है कि शरीर में कुछ ऐसा घटित हो रहा है जो शरीर के लिए असामान्य और अस्वभाविक है

लक्षण –

–सिर में भारीपन
–आंखो में भारीपन
–सिर में दर्द खासकर आगे व पीछे
–स्वभाव में चिडचिडापन
–नींद न आना
–मानसिक तनाव अनुभव होना

कारण–

–कब्ज रहना अथुवा ठीक प्रकार से पेट साफ न होना
–पेट में गैस बनना
–अत्यधिक शारीरिक व मानसिक श्रम करना
–अत्यधिक तनाव चिन्ता करना
–अनियमित दिनचर्या रात में जगना व दिन में सोना
– अत्यधिक चाय काफी व शराब सिगरेब का सेवन

सिरदर्द की मिटटी चिकित्सा –

– सिरदर्द का मूल कारण शरीर में एकत्र विजातीय द्रव्य होता है। मुख्यरूप से पेट में एकत्र विजातीय द्रव्य इसका कारण होता है मिटटी के द्वारा विजातीय द्रव्यो का निष्कासन होता है।

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए ।

–रोग की तीर्व अवस्था में पेट और सिर को ठंडा रखने का प्रयास करना चाहिए। और ठंडी मिटटी की पटटी को सिर पर बार बार बदलते रहना चाहिए।

–रोगी की आंखो पर भी मिटटी पटटी लगानी चाहिए। जिससे शान्ति का अनुभव हो

–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।

11.5.4 बुखार – शरीर के तापक्रम का बढ जाना ही बुखार कहलाता है शरीर में जलन मुंख पर तपन और अंग अंग में शिथिलता रोम रोम की सिरहन को बुखार की संज्ञा दी जाती है । बुखार भी वमन की भांति एक प्राकुतिक शुद्वि क्रिया हैं जब सम्पूर्ण शरीर विजातीय द्रव्यसे भर जाता है। तो प्रकृति ताप उत्पन्न कर उसे बाहर निकालने का प्रयास करती हैं जो तीर्व रोग के रूप में प्रकट होता है।

बुखार के लक्षण –

–शरीर का तापक्रम बढ जाता है
–हदय गति एंव श्वास गति बढ जाती है
–शरीर व जोडो में दर्द होना
–शरीर में थकान आलस्य का अनुभव होना
–ठंड का अनुभव होना

बुखार के कारण–

– वाह्य जीवाणु या रोगाणु के संक्रमण से

–अचानक मौसम परिवर्तन से
–ठंडी चीजो के ज्यादा सेवन से
–शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम होने से
–असंयमित आहार विहार

बुखार की मिटटी चिकित्सा –

– बुखार का मूल कारण शरीर में एकत्र विजातीय द्रव्य होता हैऔर मिटटी के द्वारा विजातीय द्रव्यो का निष्कासन होता है।

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए ।पेट की पटटी आन्तरिक गर्मी को शान्त करती हैऔर विजातीय द्रव्यो को सोख लेती है।–रोग की तीर्व अवस्था में पेट और सिर को ठंडा रखने का प्रयास करना चाहिए। और ठंडी मिटटी की पटटी को सिर पर बार बार बदलते रहना चाहिए।–रोगी की आंखो पर भी मिटटी पटटी लगानी चाहिए। जिससे शान्ति का अनुभव हो –पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।सम्पूर्ण श्ज्ञरीर पर मिटटी का लेप करना चाहिए।

11.5.5 कर्ण बार्धिव – (बहरापन)

जब हमारे मध्यकान में स्थिर छोटी–छोटी हड्डियॉ कंपित होती हें तो उनसे लहरें उत्पन्न होती हैं । और वे लहरें बिजली की तरंगों में उत्पन्न होकर काकलिया नामक कान के भीतरी भाग में स्थित एक अवयय में आती है। इसके बाद ये तरंगे एक नस के द्वारा मस्तिष्क के उस भाग में जाती है। जहॉ आवाज का विश्लेषण होता है तथा यह तय किया जाता है कि आवाज कैसी है।उम्र बढ़ने के कारण यू तो काकलिया के अवयव में कुछ कमियां आ सकती हे जिससे वहॉ बनने वाली विद्युत तरंगें इतनी सशक्त नहीं होती है और तरंगों को मस्तिष्क तक पहॅचाने वाली नशों में गड़बड़ी हो जाती है।

बहरेपन के प्रकार –

केन्द्रिय बधिरता – मस्तिष्क में चोट लगने केफलस्वरूपा उत्पन्न बहरापन
कर्णगूथ बधिरता – कान में मैल की डाट लग जाने से होने वाले बहरापन
संवाहक बधिरता – ध्वनि तरंगों की श्रवण ग्राहकों को संचालित होने की अक्षमता के कारण उत्पन्न बधिरता जो मैल जमा होने से बाह्य श्रवण नली में अवरोध उत्पन्न करता है एवं तीव्र या दीर्घकालीन मध्यकर्ण शोध में उत्पन्न बहरापन ।
तंत्रिका बधिरता – श्रवण तंत्रिका या केन्द्रिय तंत्रिका मार्ग में क्षति पहॅुचने के कारण उत्पन्न बधिरता
व्यवसायिक बधिरता – अधिक शोर–गुल वले स्थानों पर कार्य करने से
बातोन्मादी बधिरता – हिसटिरिया के रोगी में बिना किसी कारण उत्पन्न होने एवं लुप्त हो जाने वाली बधिरता ।

बहरेपन के चरण–

पहला – इसमें कुछ अक्षर नहीं सुनाई देते
दूसरा – इसमें कुछ शब्द और वाक्य नहीं सुनाईदेते
तीसरे चरण में – तेज ध्वनि बिल्कुल नहीं सुनाई देती कभी–कभी धीमे स्वर सुनाई देते हैं जो वृदावस्था में देखा जाता है।

लक्षण–

सुनने की क्षमता धीरे–धीरे या पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है।
बधिरता एक कान व दोनों कानों में हो सकती है।
कान में नाना प्रकार की आवाजें आती हैं।
कभी सुनाई देता है और कभी बिल्कुल नहीं सुनाई देता ।

कारण–

कान का मैल बाह्य कर्ण नलिका में मैल जमा हो जाने से
ट्यूमर आंसटियोमा, पेराटोटिक मांस कैंसर
कान का ठीक से विकसत न होना
कान की हड्डियों की बीमारी
कान के पर्दे में छिद्र
जनमजात बहरापन
कान के किसी भी हिस्से में चोट
कान में फोड़े
मधुमेह के कारण
कान का पर्दा फटना
बुढ़ापे की वजह से कान के विभिन्न हिस्सों का खराब होना
यदि बच्चे के जन्म के समय आक्सीजन की कमी हो जाये या अपने समय से पूर्व प्रसव हो जाय

मिटटी चिकित्सा – कान के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए कान पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट से एक घण्टे के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए । मिटटी को कपडे की पटटी से दोनो तरफ से लपेट ले जिससे मिटटी कान के अन्दर न जाने पाये –रोग की तीर्व अवस्था में पेट और सिर और आंखो को ठंडा रखने का प्रयास करना चाहिए। और ठंडी मिटटी की पटटी को सिर और आंखो पर बार बार बदलते रहना चाहिए।

–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।

11.5.6 ब्रोंकाइटिस (श्वसनी शोध)– ब्रोकाइटिस मुख्य श्वास नली एवं इसकी शाखाओं के संक्रमण तथा सूजन को कहते हैं। यह अचानक शुरू होने वाले अल्पकालीन रोग (एक्यूट) तथा लम्बे समय तक रहने वाले पुराने रोग दोनों रूपों में पाया जाता है।

प्रकार – एक्यूट तथा क्रोनिक

लक्षण–

सुखी खांसी तथा ऊपरी वक्ष में दर्द
छाती में जकड़न
श्वसन में आवाज होना
सांस फूलना
तीव्र बुखार होना जैसे–जैसे संक्रमण बढ़ता है रोगी को बुखार 100–102 तक रहता
सिर में दर्द बदन में जकड़न
सूखी खांसी में बहुत कम झाग वाला व चिपचिपा बलगम निकलता है। कभी–कभी खून भी निकलता है।
छाती को स्टेथोस्कोप से जॉचने पर खरखराहट की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

कारण – निमोनिया, जुखाम, बाइटल कालीखांसीए ठंड व नमी युक्त वातवरण
धूम्रपान
प्रदूषित, धुआंयुक्त वातावरण – अमोनिया, सल्फर डाई ऑक्साइड, नाइट्रोजनडाईऑक्साइड जैसी गैसों का श्वास के माध्यम से फेंफड़ों में जाना इस रोग को बढ़ाते हैं।
चिरकालीन मुख श्वसन
ऐक्यूट ब्रोंकाइटिस –ः इसमें जीवाणुओं के प्रकोप होने पर तीव्र श्वसन नलिका शोध उत्पन्न होता है। जै न्यूमोनिय तथा इन्फूलूऐंजा के समय बच्चों तथ बूढ़ें में ज्यादा प्रकोप होता है।
क्रोनिक ब्रोंकाइटिस –ः यह 40 वर्ष की आयु के बाद प्रारम्भ होता है। इसमें दो साल से ज्यादा हर वर्ष कम से कम तीन महीने बलगम व खरखर वाली खांसी आती है।

मिटटी चिकित्सा–ः

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए ।पेट की पटटी आन्तरिक गर्मी को शान्त करती हैऔर विजातीय द्रव्यो को सोख लेती है।
–रोग की तीर्व अवस्था में पेट और छाती पर गर्म मिटटी की पटटी लगानी चाहिए। मिटटी की पटटी को बार बार बदलते रहना चाहिए।
–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।सम्पूर्ण शरीर पर मिटटी का लेप करना चाहिए। और इसके बाद सूर्य स्नान लेना चाहिए।

11.5.7 थायराइड– यह ग्रन्थि गरदन के सामने मुख्य श्वास नलिका के चारों ओ लिपटी रहती हे इससे दो रसायन स्त्रावित होते हैं (थायराक्सिीन) एवं ट्रइआइडोथॅायरॉनिन) इन दोनों रसायनों की रक्त में उपस्थिति ही हमारे चयापचय की गति को निर्धारित करती हें
अति वृद्वि ;भ्लच्मत्ज्भ्लत्व्प्क्द्व .रु इस रोग में ग्रन्थि द्वारा रसायनों का स्त्रवण अत्यधिक मात्रा में होने लगता है।

लक्षण –

ऊर्जा का क्षय अधिक होता है।
भूख ज्यदा लगती है।
बहुत खाने पर भी शरीर दुबला होता जाता है।
मांस पेशीयों की अतिक्रियाशीलता से हाथ–पैर कॅापने लगते हैं।
मानसिक स्तर पर विचारों की गति एवं अस्थिरता क्रोध चिढ़चिढ़ापन एवं उद्विग्नता इत्यादि बढ़ जाते हैं।
नाड़ी गति बढ़ जाती है।
आंतों की अतिक्रियाशीलता से दस्त लगते हैं।
अत्यध्कि गर्मी लगती है।
पसीना लगता है।
रोगी की आंखें बाहर की ओर निकली रहती हैं।

मन्दता

यह रोग थायराइड ग्रन्थि की मन्द क्रियाशीलता के कारण होता है।

लक्षण –

कमजोरी, सुस्ती, भावशून्यता
मानसिक एवं शरीरिक क्रियाओं का धीमापन

कब्ज, कमजोरी, पेशीय दर्द
सूखी त्वचा
बहरापन
भूख न लगना
मोटापा बढ़ना
कड़े बाल
आवाज में भारीपन

मिटटी चिकित्सा–

– गले पर मिटटी की पटटी आधे घण्ट के लिऐ बांधनी चाहिए है और दिन में कम से कम तीन बार अवश्य लगानी चाहिए। गले पर मिटटी की पटटी लगाने से थायरायड ग्रन्थि की सक्रियता बढती हैं और हारमोन्स के स्राव में सन्तुलन आता है।

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए ।पेट की पटटी आन्तरिक गर्मी को शान्त करती हैऔर विजातीय द्रव्यो को सोख लेती है।

–रोगी की आंखो पर भी मिटटी पटटी लगानी चाहिए। जिससे शान्ति का अनुभव हो ं।

–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।सम्पूर्ण शरीर पर मिटटी का लेप करना चाहिए।

11.5.8 मोटापा– आज मोटापा विश्व के अनेक देशों में एक समस्या बना हुआ है। यह शारीरिक अंगों की कार्यकुशलता को कम कर देते हैं साधारणतः लोग मोटापे का अर्थ लगाते हैं – गोल मटोल भीमकाय विनोदप्रिय तथा दिन भर कुछ न कुछ खाते रहने वाला व्यक्ति।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार चर्बी का आधिक्य मोटापा है। ऊँचाई और आयु के अनुसार औसत वजन से 20 पौण की अधिकता को मोटापा कहा जा सकता है।

लक्षण –

– वजन में लगातार वृद्धि होना
–मोटापे के कारण चलने–फिरने में उठने–बैठने में कठिनाई,
–दुर्बलता
–पसीने से दुर्गन्ध आना
– प्यास में अति वृद्धि होना ।
–आलस्य की वृद्धि

कारण –

–अधिक भोजन गरिष्ठ भोजन करना
–मिठाईयां चिकने पदार्थ अधिक ठंडे (वायुकारक) पदार्थ
–आलस्य
–व्यायाम तथा शारीरिक श्रम का अभाव
–आनुवांशिक कारण
–भूख पर नियन्त्रण रखने वाले मस्तिष्क केन्द्रों में गड़बड़ी होने पर
–हारमोलन असन्तुलन के कारण।

मोटापे की मिटटी चिकित्सा –मोटापे का मूल कारण शरीर में एकत्र विजातीय द्रव्य होता

है जो शरीर में जमा होकर मोटापा मे परिवर्तित हो जाता है। और मिटटी के द्वारा विजातीय द्रव्यो का निष्कासन होता है।

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी 30 मिनट के लिए दिन में दो बार लगानी चाहिए ।पेट की पटटी आन्तरिक गर्मी को शान्त करती हैऔर विजातीय द्रव्यो को सोख लेती है।

–पूरे शरीर की गर्मी को दूर करने के लिए पंक स्नान लेना चाहिए ।सम्पूर्ण शरीर पर मिटटी का लेप करना चाहिए। पंक स्नान मोआपे के लिए विषेश उपयोगी है।

11.5.9 कमर दर्द – आज के आधुनिक एवं व्यस्त जीवन में कमर दर्द महामारी बनता जा रहा है एक अनुमान के अनुसार आज देश का हर सातवॉ व्यक्ति कमर दर्द से पीड़ित है कमर दर्द एक ऐसी सामान्य समस्या है जिसका सामना हर व्यक्ति को किसी न किसी रूप में अवश्य करना पड़ता है लेकिन कई लोग लापरवाही एवं नासमझी के कारण जीवन भर के लिए रोग मोल ले लेते हैं।

लक्षण –

–उठने बैठने में दर्द का अनुभव
–चलने–फिरने में असुविधा
–पीठ में तीव्र दर्द
–शरीर का कमजोर होना
–रीढ़ का जकड़ जाना
–दर्द इतना तीव्र होता है कि नींद सेजगा देता
–ऐडी में सूजन आ जाती है
–सांस में बदबू आती है।
–छाती में दर्द होता है

कारण –

–स्लिप डिस्क – कमर के निचले क्षेत्र में जब अत्यधिक भार पड़ने के कारण उसकी गद्दी (डिस्क) में दरार पड़ जाती है या वह टूट जाती है तो उसे स्लिप डिस्क कहते हैं ।

–नसों पर दबाव – जब डिस्क खिसकने लगती है। तब नसों पर दबाव पड़ने लगता है जिससे कमर में दर्द पैरों में जकड़न होने लगता है

–आस्टियोपोरोसिस –: उम्र बढ़ने के साथ–साथ हड्डियों में लवण की मात्रा कम होती जाती है जिससे हड्डियों को मजबूती प्रदान करने वाले केल्सियम औ फॉस्फेट तत्व कम हो जाते हैं। जिससे हड्डियॉ कमजोर हो जाती है। इसमें कशेरूक के सिरे क्षतिग्रस्त हाकर आपस में रगड़ खाने लगते हैं। जिससे रोगी को हिलने–डुलने में दर्द होता है।

–हड्डी के संक्रमण – डिस्क में संक्रमण इसका मुख्य कारण है गम्भीर बैक्टीरियल संक्रमण होने पर तेज कमर दर्द होता है । (बोन टीवी इसका मुख्य संक्रमण है)

–लगातार कुर्सी पर बैठना, स्कूटर या बाइक चलाना। गलत तरीके से उठना बैठना भारी सामान उठाने । डबलब के गद्दों का प्रयोग ।

कमर दर्द की मिटटी चिकित्सा –

–कमर पर दर्द वाले स्थान पर मिटटी की पटटी लगानी चाहिए ।

–कमर दर्द वाले स्थान पर गर्म मिटटी की पोटली से सिकाई करनी चाहिए ।

–पेट के विजातीय द्रव्य को दूर करने के लिए पेट पर गीली मिटटी का पटटी लगानी

चाहिए पेट की पटटी आन्तरिक गर्मी को शान्त करती हैऔर विजातीय द्रव्यो को सोख लेती है।

–पूरे शरीर का मिटटी लेप या पंक स्नान लेना चाहिए। जिससे शरीर के विजातीय द्रव्यो का निष्कासन होता है।

अभ्यास प्रश्न–

प्रश्न –1 मिटटी चिकित्सा किस तत्व के अर्न्तगत आती है।

क– वायु ख–जल

ग–पृथ्वी घ–अग्नि

प्रश्न –2 मिटटी में कौन सा गुण होता है।

क– गर्मी ख–विष को सोखना

ग–गन्दगी घ–उत्तेजना

प्रश्न –3 कौन सी मिटटी बालो के लिए अच्छी होता है।

क– लाल ख–काली

ग–पीली घ दोमट

प्रश्न –4 पेडू की पटटी किस रोग में सर्वाणिक लाभ करती है।

क–कब्ज ख– कमरदर्द

ग– मानसिक रोग घ–शारीरिक रोग

11.6 सारांश–

मिटटी तत्व चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है जिसके माध्यम से विभिन्न प्रकार के रोगो का निवारण किया जाता है। मिट्टी सभी रोगों की रामबाण औषधि है इसमें विषैले तत्व को नष्ट करने की शक्ति होती है मिट्टी चिकित्सा एक ऐसी विशिष्ट चिकित्सा पद्धति है जिसके प्रयोग से असाधारण रोग भी दूर हो जाते है। मिट्टी का उपयोग केवल रोगों के उपचार हेतु नहीं अपितु शरीर को बलशाली, पुष्ट एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि के लिये भी करते हैं। मिट्टी चिकित्सा अमूल्य पद्धति है जिसका शरीर तथा मन दोनों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। महात्मा गांधी– ''मिट्टी से हमारा शरीर बना है इसी मिट्टी में जन्म हुआ है और एक दिन मर कर भी इसी मिट्टी में मिलकर राख बन जाना है।''

11.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1–ग 2–ख 3–ख 4– क

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1.डा0 पृथ्वी –डां0 ओंकार नाथ
2.पंच तत्वो द्वारा सम्पूर्ण रोगो की चिकित्सा –पं श्री राम शर्मा आचार्य
3.योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा –ब्रहमवर्चस

11.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. मिटटी के प्रकार बताते हुए मिटटी के महत्व का वर्णन करें ।
2. बुखार के लक्षण कारण बताते हुए मिटटी चिकित्सा लिखिए ।
3. मोटापे का परिचय देते हुए मोटापे की मिटटी चिकित्सा बतलाइए।

इकाई 12 प्राण शक्ति की अवधारणा, स्त्रोत एवं सिद्धांत

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 प्राण शक्ति की अवधारणा
12.3.1 प्राण शक्ति का स्वरूप
12.3.2 प्राण शक्ति के प्रकार
12.4 प्राण शक्ति के स्रोत
12.5 प्राण शक्ति का सिद्धान्त
12.5.1 प्राण शक्ति उपचार के मूल सिद्धान्त
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

आपने इससे पूर्व प्राण के विषय में सुना अथवा पढ़ा होगा। आपने जाना होगा कि प्राण शरीर के लिए अति आवश्यक तत्व है। इस इकाई में आप प्राण शक्ति के विषय में और गहराई से जानेंगें व समझेंगे।

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि शरीर में बहने वाला साधारण प्राण वास्तव में साधारण न होकर अति विशिष्ट और अमूल्य है। आप यह भी जानेंगे कि प्राण शक्ति के उपयोग से रोगों की चिकित्सा भी की जा सकती है।

प्राण शक्ति की क्या अवधारणा है व इसके क्या स्रोत है–इस विषय पर भी आप ज्ञान प्राप्त करेंगे। इसके साथ–साथ प्राण शक्ति व प्राण चिकित्सा के सिद्धांतों के विषय में भी आप ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे–

- कि प्राण शक्ति क्या है।
- कि प्राण शक्ति की अवधारणा क्या है।
- कि प्राण शक्ति का क्या स्वरूप है।
- कि प्राण शक्ति के क्या स्रोत है।
- कि प्राण शक्ति के क्या प्रकार है।
- कि प्राण शक्ति किन–किन सिद्धांतों पर आधारित है।
- कि प्राण शक्ति उपचार के क्या सिद्धांत हैं।

12.3 प्राण शक्ति की अवधारणा

प्राण शक्ति या प्राण शब्द से आप कम या अधिक रूप से परिचित होंगे। यहाँ प्राण से तात्पर्य स्थूल वायु से नहीं वरन् यह इससे कहीं अधिक सूक्ष्म व प्रभावशाली तत्व है।
संस्कृत व्याकरण के अनुसार प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। 'अन्' धातु जीवनी शक्ति चेतना का बोध कराता है। इस प्रकार यदि देखा जाये तो प्राण शब्द का अर्थ चेतना शक्ति है।
छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण तत्व के विषय में कहा गया है–

प्राणो वा व ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। (छान्दोग्य 5/1/1)

अर्थात् प्राण जड़ चेतन जगत की सर्वोपरि शक्ति होने के कारण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है।

प्राण संचारण एक प्राकृतिक घटना है जो जाने या अनजाने सदा घटित होती रहती हैं। मानव शरीर से प्राण ऊर्जा का बहिर्गमन और अंतर्गमन दोनों क्रियाएँ स्वयंमेव होती रहती हैं। प्रत्येक मानव शरीर से स्पन्दन ओर आविष्ट ऊर्जा निकलती रहती है।

12.3.1 प्राण शक्ति का स्वरूप :– मास्टर चो कोक् सुई के अनुसार, जो कि आधुनिक प्राण चिकित्सा के जनक हैं, प्राण शक्ति या आभा या 'की' (Ki) वह ओजस्वी ऊर्जा या जीवन–शक्ति है, जो शरीर को जीवित व स्वस्थ रखती है। ग्रीक भाषा में इसे प्राणात्मा, पोलिनेशियन में मन और हीब्रू में रूह या जीवन की सांस कहते हैं। उपचारक रोगी पर इसी प्राण शक्ति या ओजस्वी ऊर्जा को प्रक्षेपित (संचरित) करता है।

इस प्राण शक्ति को हम विभिन्न माध्यमों से अपने शरीर में लेते हैं अथवा प्राप्त करते हैं जो कि हम प्राण शक्ति के स्रोत उपशीर्षक में विस्तार पूर्वक पढ़ेंगें।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के अनुसार, जड़ जगत में शक्ति तरंगों के रूप में, संव्याप्त सक्रियता के रूप में, प्राण शक्ति का परिचय दिया जा सकता है और चेतन जगत में उसे विचारणा एवं सम्वेदना कहा जा सकता है।

प्राण किस रूप में जगत में कार्य करता है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जी के अनुसार सटीक एवं सर्वोत्तम बैठता है। वे कहते हैं, "इच्छा ज्ञान और क्रिया के रूप में यह जीवधारियों में काम करती है।"

योगी गुरू श्रीमत् स्वामी निगमानंद सरस्वती के अनुसार " मानव शरीर में दिन रात जो श्वास प्रश्वास चलता है, उसका नाम प्राण है।"

प्राण वायु का शुद्ध और सात्विक अंश है। यह साधारण वायु को विशिष्टता प्रदान करन वाला अमूल्य तत्व है। शतपथ ब्राह्मण, प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद्, बृह. उपनिषद्, एतरेय आरण्यक, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, अथर्ववेद, हठयौगिक ग्रंथ आदि स्थानों में प्राण तत्व का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

वेदों में प्राण तत्व को 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। कहा है **"प्राणों वै ब्रह्म"** अर्थात् प्राण ब्रह्म ही है।
अथर्ववेद में कहा गया है–

प्राणस्य नमो यस्य सर्वमिदं वरो।
यो भूतः सर्वस्येश्वरों यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठतम्।।

अर्थात् जिसके द्वारा यह संपूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड विधृत है, उस सर्वश्रेष्ठ प्राण को नमस्कार है। जो समस्त प्राणियों का शासक है, उस प्राण रूप ब्रह्म तत्व को नमस्कार है।

एतरेय आरण्यक 2/1/6 में कहा गया है – 'प्राण ही इस विश्व ब्रह्माण्ड का धारक है। प्राण की ही शक्ति से जिस प्रकार यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, अचल है और उसी प्रकार समस्त प्राणधारी जीव चींटी से लेकर बड़े से बड़े जीव तक इस प्राण के द्वारा ही विधृत हैं। यदि प्राण न होता तो इस विश्व ब्रह्माण्ड का जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रों के सामने आश्चर्यचकित करने वाला है इसका चिह्न भी शेष न होता।

प्राण उस तत्व का नाम है जो प्राणन क्रिया करता है, आत्मा का बोधन करता है और समष्टि रूप में प्राण ब्रह्म ही है।

ब्रह्मसूत्र कहता है–***अत एव प्राणः। (ब्रह्मसूत्र 1/1/23)***

ब्रहदारण्यक उपनिषद में भी प्राण को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है (बृह.उप. 4/4/28)। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को प्राण की संज्ञा दी गई है, (प्रश्नोपनिषद् 3/8)।

पं. श्रीराम शर्मा के अनुसार प्राण शक्ति एक महान तत्व है जो भिन्न–भिन्न मात्राओं में संसार की समस्त सजीव और निर्जीव वस्तुओं में पाई जाती है। मनुष्य के शरीर में जो विद्युत प्रवाह बहता है इसी महान प्राण शक्ति का एक अंश है। हम श्वास अग्नि, जल और विचारों द्वारा अपने अंदर खींचते हैं। जो उस प्राण शक्ति को उन्नत मात्रा में खींचते है, वह उन्नत, उत्साहित तेजपूर्ण और जीवट दिखाई देते हैं। किन्तु जो शक्ति को पर्याप्त मात्रा में ग्रहण नहीं कर पाते वे तन्द्रामय, उदास व निस्तेज दिखाई देते हैं।

शरीर में जो चमक, स्फूर्ति, ताजगी, उमंग, साहस उत्साह निष्ठा, तत्परता जैसी विशेषताऐं दिखाई देती है, वे प्राण ऊर्जा की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। मनस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी, तपस्वी आदि शब्द इसी क्षमता का बाहुल्य व्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक महामानवों में यही विशेषता प्रधान रूप से रही है। ऊर्जा की सहायता से ही यंत्र संचालित होते हैं। मानव शरीर भी एक यंत्र है। उसके संचालन में जिस विद्युत की आवश्यकता पड़ती है, उसे प्राण कहते हैं। आचार्य जी ने इसे (प्राण) अग्नि की संज्ञा दी है जिसे ज्वलन्त रखने के लिये आहार की आवश्यकता होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों न इसे 'जीव विद्युत' नाम दिया है। उच्च स्तरीय जीव विद्युत को जैव चुम्बक नाम से भी जाना जाता है एवं वैज्ञानिक इसी को एनिमल मैगनेट कहते हैं।

अध्यात्म विज्ञान के अनुसार इस ऊर्जा का उपयोग, वरदान, आर्शीवाद स्तर के आदान–प्रदान में होता रहता है। छोटे अपने बड़ों के चरण स्पर्श करके अभिवादन करते हैं, इस स्पर्श में बड़ों की शुभेच्छा संपन्न विद्युत शक्ति का अनुदान दोनों को मिलता है। गुरू शिष्य परंपरा में भी यही ऊर्जा प्रवाह प्रवाहित होता है। भौतिक और आत्मिक सफलताओं का मूल आधार प्राण रूपी यही अग्नि या बिजली है। आचार्य जी के अनुसार हर संभव इसके अपव्यय से बचना चाहिये।

प्राण तत्व को एक चेतन ऊर्जा या लाइट एनर्जी कहा गया है। भौतिक विज्ञान के अनुसार एनर्जी ताप, प्रकाश, चुम्बकीय, विद्युत, ध्वनि एवं घर्षण (फ्रिक्शन) अथवा यांत्रिक (मैकेनिकल) प्रकारों में रहती है और इसे एक दूसरे में बदला भी जा सकता है। शरीरस्थ चेतन क्षमता या लाइफ एनर्जी इन विज्ञान सम्मत प्रकारों से भिन्न होते हुये भी उनके माध्यम से जानी समझी जा सकती है।

12.3.2 प्राण शक्ति के प्रकार :– यों प्राण–तत्व एक है, पर प्राणी के शरीर में उसकी क्रियाशीलता के आधार पर कई भागों में विभक्त किया गया है। शरीर के प्रमुख अवयव

माँसपेशियों से बने हैं, पर संगठन की भिन्नता के कारण उनके आकार–प्रकार में भिन्नता पायी जाती है। इसी आधार पर उनका नामकरण एवं विवेचन भी पृथक–पृथक होता है।

मानवी–काया में प्राण शक्ति को भी विभिन्न उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर उनके नामकरण भी अलग हैं और गुण धर्म की भिन्नता भी बताई जाती है। इस पृथकता के मूल में एकता विद्यमान है। प्राण अनेक नहीं है। उसके विभिन्न प्रयोजनों में व्यवहार पद्धति ही पृथक है। बिजली एक है, पर उनके व्यवहार विभिन्न यंत्रों में भिन्न प्रकार के होते हैं। हीटर, कूलर, पंखा, प्रकाश, पिसाई आदि करते समय उसकी शक्ति एवं प्रकृति भिन्न लगती है। उपयोग और प्रयोजन को देखते हुए भिन्नता अनुभव की जा सकती है तो भी जानने वाले जानते हैं कि यह सब एक ही विद्युत शक्ति के बहुमुखी क्रियाकलाप है। प्राण शक्ति के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। शास्त्रकारों ने उसे कई भागों में विभाजित किया है, कई नाम दिए हैं और कई तरह से व्याख्या की है। इस प्राण विस्तार को भी ''एकोऽहं बहुस्याम'' का एक स्फुरण कहा जाता है।

मानव शरीर में प्राण को दस भाग में विभक्त माना गया है। इनमें 5 प्राण और 5 उप प्राण हैं। प्राणमय कोश इन्हीं 10 के सम्मिश्रण से बनता है। 5 मुख्य प्राण हैं – 1. अपान, 2. समान, 3. प्राण, 4. उदान, 5. व्यान। उपप्राणों को 1. देवदत्त, 2. कृकल, 3. कूर्म, 4. नाग, 5. धनंजय नाम दिया गया है।

शरीर क्षेत्र में इन प्राणों के क्या–क्या कार्य हैं इसका वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में इस प्रकार किया गया है–

1. **अपान – अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अपकर्षाति च शक्तिम् इति अपानः।**
   अर्थात्– जो मलों को बाहर फेंकने की शक्ति में संपन्न है वह अपान है। मल–मूत्र, स्वेद, कफ, रज, वीर्य आदि का विसर्जन, भ्रूण का प्रसव आदि बाहर फेंकने वाली क्रियाएँ इसी अपान प्राण के बल से संपन होती है।
2. **समान– रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयति इति समानः।**
   अर्थात्– जो रसों को ठीक तरह यथास्थान ले जाता है वितरित करता है वह समान है। पाचक रसों का उत्पादन और उनका स्तर उपयुक्त बनाये रहना इसी का काम है।
   पातंजलि योग सूत्र के, पाद 3 सूत्र 40 में कहा गया है–''**समान जयात् प्रज्वलम्**'' अर्थात् समान द्वारा शरीर की ऊर्जा एवं सक्रियता ज्वलन्त रखी जाती है।
3. **प्राण – प्रकर्षेण अनियति प्रर्केण वा बलं ददाति आकर्षति च शक्ति स प्राणः।**
   अर्थात् – जो श्वास, आहार आदि को खींचता है और शरीर में बल संचार करता है वह प्राण है। शब्दोच्चार में प्रायः इसी की प्रमुखता रहती है।
4. **उदान– उन्नयति यः उद्आनयति वां तदानः।**
   अर्थात्– जो शरीर को उठाए रहे, कड़क रखे, गिरने न दे, वह उदान है। ऊर्ध्वगमन की अनेकों प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाएँ इसी के द्वारा संपन्न होती हैं।
5. **व्यान– व्याप्नोति शरीरं यः स ध्यानः।**
   अर्थात्– जो संपूर्ण शरीर में संव्याप्त है – वह व्यान है। रक्त–संचार, श्वास–प्रश्वास, ज्ञान–तंतु आदि माध्यमों से यह सारे शरीर पर नियंत्रण रखता है। अंतर्मन की स्वसंचालित शारीरिक गतिविधियाँ इसी के द्वारा संपन्न होती है।

प्रथम अपान– इसका कार्य शरीर के विभिन्न मार्गों से निकलने वाले मलों का निष्कासन है एवं स्थान गुदा है। यह नारंगी रंग की आभा में अनुभव किया गया है और मूलाधार चक्र को प्रभावित करता है।
द्वितीय समान– अन्न से लेकर रस–रक्त और सप्त धातुओं का परिपाक करता है और स्थान नाभि है। हरे रंग की आभा वाला और मणिपूर चक्र से संबंधित इसे बताया गया है।
तृतीय प्राण– इसका कार्य श्वास–प्रश्वास क्रिया का संपादन है और स्थान छाती है। इस तत्व की ध्यानावस्था में अनुभूति पीले रंग की होती है और षट्चक्र वेधन की प्रक्रिया में यह अनाहत चक्र को प्रभावित करता पाया जाता है।
चौथा उदान – इसका कार्य है आकर्षण ग्रहण करना, अन्न–जल, श्वास, शिक्षा आदि जो कुछ बाहर से ग्रहण किया जाता है वह ग्रहण प्रक्रिया इसी के द्वारा संपन्न होती है। निद्रावस्था तथा मृत्यु के उपरान्त का विश्राम संभव करना भी इसी का काम है। स्थान कण्ठ, रंग बैंगनी तथा, चक्र विशुद्धाख्य है।
पाँचवा व्यान – इसका कार्य रक्त आदि का संचार है और स्थानांतरण करना है। स्थान संपूर्ण शरीर है। रंग गुलाबी और चक्र स्वाधिष्ठान है।
पाँच उप प्राण इन्हीं पाँच प्रमुखों के साथ उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे मिनिस्टरों के साथ सेक्रेटरी रहते हैं। प्राण के साथ नाग। अपान के साथ कूर्म। समान के साथ कृकल। उदान के साथ देवदत्त और व्यान के साथ धनंजय का संबंध है। नाग का कार्य वायु संचार, डकार, हिचकी, गुदा वायु। कूर्म का नेत्रों के क्रियाकलाप, कृकल का भूख–प्यास, देवदत्त का जँभाई, अँगड़ाई, धनंजय को हर अवयव की सफाई जैसे कार्यों का उत्तरदायी बताया गया है, पर वस्तुतः वे इतने छोटे कार्यों तक ही सीमित नहीं हैं। मुख्य प्राणों की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित बनाये रखने में उनका पूरा योगदान रहता है। जो कार्य त्वचा करती हैं, उसी प्रकार प्राण तत्व द्वारा विनिर्मित सूक्ष्म संभूतियों को स्थूल अनुभूतियों में प्रयुक्त करने का कार्य यह उपप्राण संपादित करते हैं।

12.4 प्राण शक्ति के स्रोत

प्राण शक्ति या प्राण के मुख्यतः तीन स्रोत हैंः सौर प्राण शक्ति, वायु प्राण शक्ति और भू या भूमि प्राण शक्ति। सूर्य के प्रकाश से प्राप्त प्राण शक्ति सौर प्राण शक्ति कहलाती है। यह पूरे शरीर को शक्ति और स्वास्थ्य प्रदान करती है। उसे धूप में खड़े रहकर यानी धूप–स्नान द्वारा या धूप में रखा पानी पीकर प्राप्त किया जा सकता है। अधिक समय तक धूप में खड़े रहने या बहुत अधिक सौर–प्राण शरीर को नुकसान भी पहुँचा सकता है, क्योंकि यह बहुत शक्तिवर्द्धक होता है।
जो प्राण शक्ति या प्राण वायुमंडल में पाया जाता है, उसे वायु प्राण या प्राणवायु ग्लोब्युल कहते हैं। श्वसन–क्रिया के माध्यम से फेफड़ों द्वारा या जीवद्रव्य शरीर के ऊर्जा केंन्द्रों के माध्यम से वायु प्राणशक्ति ग्रहण की जाती है। इन ऊर्जा–केन्द्रों को चक्र कहते हैं। अधिक वायु प्राणशक्ति तेजी से व कम समय से ली जाने वाली श्वास की अपेक्षा गहरी, धीमे और एक लय–ताल में ली जाने वाली श्वसन–क्रिया द्वारा प्राप्त की जा सकती है। विशेष प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति अपनी त्वचा के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा भी इसे प्राप्त कर सकता है।
भूमि में पायी जाने वाली प्राण शक्ति भू–प्राणशक्ति या भू–प्राणशक्ति गोलिका कहलाती है। इसे पैर के तलुवों से प्राप्त किया जाता है। यह प्रक्रिया बिना ध्यान दिये और अपने आप ही होती रहती है। नंगे पैर चलने से शरीर द्वारा ग्रहण किये गये भूमि–प्राण की मात्रा में

वृद्धि होती है। अपनी प्राण शक्ति बढ़ाने, कार्य करने की क्षमता और अच्छे सोच–विचार की योग्यता बढ़ाने के लिए कोई भी व्यक्ति भूमि–प्राण शक्ति प्राप्त करने की क्रिया सीख सकता है। सूर्य के प्रकाश, वायु और भूमि के संपर्क में आने वाला पानी इन तीनों से प्राण शक्ति प्राप्त करता है। पेड़–पौधे धूप, वायु, जल और भूमि से प्राण शक्ति सोखते हैं। मनुष्य तथा जानवर धूप, वायु, भूमि, जल और भोजन (बासी भोजन की अपेक्षा ताजे भोजन में अधिक प्राण शक्ति पायी जाती है) द्वारा प्राण शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

उपचार के लिए प्राण शक्ति को दूसरे व्यक्ति में भी प्रक्षेपित किया जा सकता है। जिनके पास अत्यधिक प्राण शक्ति है उनके आसपास रहने वाले व्यक्ति भी उनके प्रभाव से स्वयं को अच्छा और जीवंत महसूस करते हैं। इसी तरह जिनके पास प्राण शक्ति की कमी होती है, वे अनजाने में भी दूसरे व्यक्ति से प्राण शक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए कभी आप ऐसे व्यक्ति से मिले होंगे जिसके साथ रहकर आपको बिना किसी कारण ही थकान या खालीपन महसूस हुआ होगा।

कुछ पेड़ (जैसे पाइन वृक्ष या पुराने, बड़े, स्वस्थ पेड़) अधिक मात्रा में प्राण शक्ति का रिसाव करते हैं या छोड़ते हैं। इन पेड़ों के नीचे थके या बीमार आदमी के आराम करने या लेटने से बहुत अधिक फायदा होता है। यदि पेड़ से शब्दों में बीमार व्यक्ति के स्वास्थ्य–लाभ की कामना की जाए तो और अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी जाग्रत अवस्था में इन पेड़ों से अपने हाथों द्वारा प्राण शक्ति प्राप्त करना सीख सकता है। अधिक मात्रा में प्राण शक्ति प्राप्त करने से वह अपने शरीर में सिहरन या झुरझुरी और सम्मोहन महसूस करेगा। इस प्रक्रिया को कुछ बार अभ्यास करके सीखा जा सकता है।

प्राण तत्व संसार में प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा है। इसको प्राप्त करना कठिन नहीं हैं क्योंकि हमारे चारों और प्राण का महासागर लहलहा रहा है। प्राण शक्ति को अधिक मात्रा में अपने अंदर धारण करना अपनी शारीरिक व मानसिक उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

12.5 प्राण शक्ति का सिद्धांत :–

सृष्टि में जो चैतन्यता दिखाई पड़ रही है, उसका मूल कारण प्राण है। अनंत सृष्टि प्रवाह में प्राणतत्व ही हिलोरे ले रहा है। यही संसार की उत्पत्ति का कारण है। समस्त सृष्टि कल्प के आदि और अंत में, आकाश रूप में परिणत हो जाती है एवं सभी शक्तियाँ प्राण में ही विलीन हो जाती है। नयी सृष्टि में प्राणतत्व ही अभिव्यक्त होकर विभिन्न संरचनाओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण एवं अणुओं की चुंबकीय शक्ति में प्राण शक्ति ही क्रीड़ा कल्लोल कर रही है। चेतन जीवों की हलचलों के वही प्रेरणा भर रही है। उत्पादन, अभिवर्धन का मूल कारण प्राण स्पन्दन ही है।

यही जीवों को नवीन सृष्टि के लिए परस्पर आबद्ध करता, प्रेरणा भरता तथा सन्तति उत्पादन का अतिरिक्त दायित्व वहन करने को बाध्य करता है। विचारों की प्रखरता एवं वाणी की तेजस्विता प्राण–तत्व की बहुलता का परिचायक है। विचार इसी से सशक्त बनते तथा दूसरों पर प्रभाव छोड़ते हैं। विचारक, मनीषी, संत, महापुरूषों के विचार एवं उपदेश निकट के ही नहीं दूरवर्ती व्यक्तियों को भी प्रभावित करते हैं। उन्हें श्रेष्ठता की ओर बढ़ चलने की प्रेरणा देते हैं। यह प्राण शक्ति का ही प्रभाव है, जो अपने विचारों के अनुसार अन्यों को चलने, अनुगमन करने को बाध्य करती है।स्थूल एवं सूक्ष्म जगत की समस्त शक्तियाँ प्राण की ही अभिव्यक्ति हैं। प्राणयाम साधना का लक्ष्य इस तत्व को जानना तथा

उस पर नियंत्रण प्राप्त करना है। नियंत्रित प्राण इतनी बड़ी संपदा है जिसके समक्ष संसार की सभी भौतिक संपदाएँ छोड़ी जा सकती है। उस महा शक्ति से प्रकृति को भी वशीभूत किया जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति संपूर्ण प्रकृति के तत्वों को जानने का प्रयास करे तो उसे अनंत समय लग सकता है। इस कारण श्रुति कहती है कि "प्राणतत्व को समझने, उस पर नियंत्रण प्राप्त करने से प्रकृति के समस्त रहस्यों को जाना, अनुभव किया जा सकता है। प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने का अर्थ है–प्रकृति पर विजय प्राप्त करना। प्रकृति की अन्य शक्तियाँ प्राण संपन्न व्यक्ति की अनुगामिनी होती है।

सृष्टि में प्रवाहित अनंत प्राण प्रवाह का एक क्षुद्र अंश चेतन जीवों में विद्यमान है। अनंत प्राण समुद्र की यह सबसे निकट की तरंग है। इस पर यदि नियंत्रण किया जा सके तो उस प्राण के महासमुद्र से संर्पक जोड़ा जा सकता है। संसार के सभी धर्म संप्रदायों की साधना प्रणाली में यह प्राण शक्ति अभिवर्धन का लक्ष्य अनिवार्य रूप से जुड़ा है।

प्राण समस्त प्राणियों में जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। वैचारिक प्रखरता उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति है तथा कामवासना निम्नतम। इसके अतिरिक्त भी प्राण की वृत्तियाँ हैं, जिन्हें हम जन्मजात प्रवृत्ति अथवा ज्ञान रहित चित्तवृत्ति भी कहते हैं। अचेतन मन द्वारा संचालित प्रवृत्तियों में भी प्राणतत्व की ही अव्यक्त भूमिका होती है। शरीर की समस्त क्रिया प्रणाली–चलना, खाना, पानी, सोना, आदि इसी के द्वारा संचालित हैं।

विश्व में अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर एक अखण्ड वस्तु राशि दिखाई पड़ती है। वही भौतिक संसार के विभिन्न रूपों में व्यक्त हो रही है। प्रत्येक वस्तु इस अनन्त प्राण की एक भंवर है। प्राण–तत्व इन भंवरों में प्रविष्ट होकर नाम रूप गढ़ता है। लाखों प्रकार की योनियाँ प्राण की ही विभिन्न स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं। सूक्ष्म जगत में प्रविष्ट करने पर भी यह अखण्डता दिखाई पड़ती है। ईथर को संपूर्ण जड़ जगत की सूक्ष्मावस्था माना जाता है। वह प्राण की स्पन्दनशील सूक्ष्म स्थिति है।

प्राण शक्ति का यथास्थान संतुलन बना रहे तो जीवन सत्ता के सभी अंग–प्रत्यंग ठीक काम करेंगे। शरीर स्वस्थ रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा और अंतःकरण में सद्भाव, संतोष झलकेगा, किंतु यदि इस क्षेत्र में विसंगति, विकृति उत्पन्न होने लगे तो उसकी प्रतिक्रिया आधि–व्याधियों के रूप में विपत्तियों, विभीषिकाओं के रूप में सामने खड़ी दिखाई देंगी। रक्त दूषित हो जाने पर अनेकों आकार–प्रकार के चर्म रोग, फोड़े–फुन्सी, दर्द, सूजन आदि के विग्रह उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार प्राण–तत्व में असंतुलन उत्पन्न होने पर शारीरिक अवयवों की क्रियाशीलता लड़खड़ाती है। कई प्रकार की व्यथा, बीमारियाँ उपजती हैं। मनःक्षेत्र में उत्पन्न हुआ प्राण–विग्रह असंतुलनों, आवेगों और उन्मादों के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

प्राण शक्ति द्वारा आरोग्य लाभ एक अद्वितीय तकनीक है। यह उपचार की एक ऐसी पद्धति है जिसमें किसी भौतिक उपकरण की आवश्यकता नहीं होती है। यह प्रत्यक्ष संपर्क से अथवा कहीं दूर से ही दोनों ही तरह उसी प्रकार प्रभावकारी ढंग से कार्य करती है। इसके अतिरिक्त प्राण विद्या से केवल मानव जाति ही लाभान्वित नहीं होती, पशु–पक्षी भी रोगमुक्त किए जा सकते हैं।

आधुनिक प्राण चिकित्सा के जनक मास्टर चो कोक् सुई के अनुसार :– प्राणशक्ति उपचार एक पुराना विज्ञान और उपचार की एक कला है जो संपूर्ण दृश्य शरीर का उपचार करने

के लिए प्राणशक्ति या ओजस्वी ऊर्जा का उपयोग करती है। इसमें रोगी के शरीर के जीवद्रव्य और 'की' या प्राणशक्ति को प्रभावित भी किया जाता है। इसे अन्य नामों जैसे '' औषध क्विगांग'' ('की कुंग' या प्राण उपचार), अतिभौतिक या मानसिक उपचार, ओज उपचार, चिकित्सकीय छुअन, हाथ का स्पर्श चुंबकीय उपचार, विश्वास उपचार और चमत्कारी उपचार नाम से भी जाना जाता है।

प्राण शक्ति उपचार के सिद्धान्तों की चर्चा विस्तार से आगे की गई है।

12.5.1 प्राण शक्ति उपचार के मूल सिद्धांत :–

प्राण शक्ति उपचार या प्राणिक हीलिंग दो मुख्य सिद्धांतों पर आधारित है – रोग से स्व–मुक्ति का सिद्धांत तथा जीवशक्ति या प्राण ऊर्जा का सिद्धांत। इन्हीं दो नियमों या सिद्धांतों के द्वारा शीघ्र व चमत्कारिक उपचार किए जाते हैं।

1. **रोग से स्व–मुक्ति :–** सामान्य शरीर में स्व–उपचार की क्षमता होती है। यदि शरीर में घाव हो जाता है या जल जाता है, तो शरीर स्वयं ही इसका उपचार करता है और रोगी कुछ दिनों या एक–दो हफ्ते में स्वयं ठीक हो जाता है। वायरल संक्रमण, बुखार, खांसी या जुकाम के लिए अभी तक कोई औषधि उपलब्ध नहीं हैं, परंतु शरीर फिर भी एक या दो हफ्तों में स्वयं ठीक हो जाता है।
2. **प्राण ऊर्जा या जीव शक्ति :–** जीवित रहने के लिए शरीर में प्राण या जीव शक्ति आवश्यक है। प्रभावित अंगों या पूरे शरीर की उपचार क्रिया को जीव शक्ति द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

रसायन विज्ञान में विद्युत ऊर्जा का उपयोग उत्प्रेरक (केटेलिस्ट) के रूप में रासायनिक क्रिया की गति को बढ़ाने के लिए किया जाता है। प्रकाश रायायनिक प्रतिक्रिया विद्युत विश्लेषण में (इलेक्ट्रोलाइसिस) में बिजली का प्रयोग उत्प्रेरक या रासायनिक प्रतिक्रिया पैदा करने के लिए किया जाता है। प्राणिक हीलिंग में प्राण या जीव शक्ति उत्प्रेरक बनकर उन जीव रासायनिक प्रतिक्रियाओं को जो शरीर के स्वयं चिकित्साा से संबंधित है, संपन्न करती है। प्राण ऊर्जा जब शरीर के प्रभावित भाग या पूरे शरीर को दी जाती है, तो उपचार गति कई गुना बढ़ जाती है।

अगर शरीर में कोई रोग फिर भी उत्पन्न हो जाए तो रोगी का उपचार पूरा करने के लिए पीड़ित चक्र और रोगग्रस्त अंग से रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ को साफ करके या उसे शरीर से निकाल कर तथा उन्हें (पीड़ित चक्र व अंग) समुचित प्राणशक्ति या ओजस्वी ऊर्जा से ऊर्जित किया जाता है।

सफाई करने और ऊर्जित करने के ये बुनियादी नियम शरीर में खुले रूप से स्पष्ट होते हैं। शरीर की सफाई नाक से छोड़ी गई सांस या कार्बन डाई आक्साइड से होती है और अंदर खींची गई ताजी हवा या आक्सीजन से शरीर ऊर्जित होता है।

भौतिक शरीर अपने निराकरण तंत्र द्वारा स्वयं को साफ रखता है और समुचित भोजन लेने से ऊर्जित होता है। इसलिए उपचारक (हीलर) को चाहिए कि वह सफाई साथ–साथ ऊर्जित करने की प्रक्रिया–दोनों पर समान रूप से जोर दें।

पूरे शरीर में से या प्रभावित भाग या अंग से ओजस्वहीन रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ और जीवद्रव्य नाड़ियों में रूके–फंसे पदार्थों को निकालने के लिए सफाई की प्रक्रिया जरूरी है। इससे स्वास्थ्य किरणें साफ होती है, उनका उलझाव दूर होता है और उनको फिर से शक्ति प्राप्त होती है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रभावित हिस्से को ऊर्जित करने से पहले या बाद में उसे अच्छी तरह साफ किया जाए। अधिक गंभीर मामलों में पूरे जीवद्रव्य शरीर को साफ करने की जरूरत होती है। सामान्यतः यह किया जाता है कि प्रारंभिक सफाई के बाद रोगी को अगली सफाई से पहले आंशिक रूप से ऊर्जित करना चाहिए। यह उसी प्रकार किया जाता है जैसा कि बहुत गंदे फर्श को पहले तो झाडू से झाड़ा जाता है बाद में साबुन, पानी या किसी रसायन द्वारा फर्श पर चिपकी गंदगी को साफ किया जाता है। यह पूरी प्रक्रिया जीवद्रव्य शरीर के पूरी तरह सामान्य हो जाने तक बार–बार दोहरायी जा सकती है। सफाई नहीं किये जाने पर रोगी में 'उग्र प्रतिक्रियाएं' हो सकती है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर अपनी सही और सामान्य स्थिति में वापस लौटने के लिए कुछ कठोर कदम उठा सकता है। सामान्यतः यह स्थिति कष्टदायक और असहज होती है तथा यह प्रारंभिक बिगाड़ वाली स्थिति होती है। 'उग्र प्रतिक्रिया' होने के बाद शरीर धीरे–धीरे अपनी सामान्य अवस्था में आने लगता है। फिर भी यह प्रतिक्रिया अनावश्यक ही होती है और यदि ठीक प्रकार से सफाई की जाए तो इसे रोका भी जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

सही / गलत

1. छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण को ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ कहा गया है।
2. मानव शरीर में पाँच प्राण व पाँच उपप्राण होते हैं।
3. धनंजय पाँच मुख्य प्राणों में से एक प्राण है।
4. जो श्वास, आहार आदि को खींचता है और शरीर में बल का संचार करता है वह उदान प्राण कहलाता है।
5. प्राण शक्ति के मुख्यतः तीन स्रोत होते हैं।

12.6 सारांश

प्राण संसार का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। प्राण शक्ति को महाप्राण भी कहा गया है। प्राण को केवल स्थूल रूप से जानना पर्याप्त नहीं है क्योंकि प्राण का सूक्ष्म रूप ही विश्वव्यापी चेतना का प्रतीक है। प्राण तत्व के बिना संसार के किसी भी तत्व अथवा जीव में चेतनता का आभास तक नहीं हो सकता। प्राण वायु न होकर उसका शुद्ध व सात्विक अंश है, शरीर में जो भी क्रियाएँ संपादित होती हैं उसका कारण प्राण तत्व ही है। प्राण के विभिन्न कार्य है, इन कार्यों के आधार पर प्राण पाँच मुख्य प्राणों व पाँच उपप्राणों में विभक्त होता है। यह सभी प्राण शारीरिक क्रियाओं का भली–भांति संपादन करते हैं।

प्राण शक्ति के मुख्य स्रोत सौर, वायु, और भूमि हैं। उपचार हेतु प्राण तत्व को इन स्रोतों से ग्रहण कर शरीर को निरोग बनाया जा सकता है। अंत में कहा जा सकता है कि प्राण शक्ति जीवनी शक्ति है जिस पर विश्व का अस्तित्व आधारित है।

12.7 शब्दावली

तन्द्रामय–सोए हुए

ज्वलंत–जीवित

परिपाक–समावेश

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सही

2. सही
3. गलत
4. गलत
5. सही

12.9 संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. प्राण शक्ति उपचार–प्राचीन विज्ञान और कला, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
2. प्राण प्राणायाम प्राण विद्या, स्वामी निरंजानानंद सरस्वती (2001), योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर।
3. प्राण शक्ति एक दिव्य विभूति, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (1998), अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
4. योग विज्ञान, स्वामी विज्ञानानंद सरस्वती (1999), योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश।

12.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्राण का अर्थ समझाते हुए विभिन्न मनीषियों द्वारा दी गई परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
2. प्राण का तात्पर्य समझाते हुए इसके स्रोतों का वर्णन कीजिए।
3. प्राण शक्ति के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी :–
    - प्राण शक्ति उपचार के मूल सिद्धांत
    - प्राण शक्ति के प्रकार

इकाई 13 प्राण चिकित्सा की सीमा लाभ एवं सावधानियाँ

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 प्राण चिकित्सा की सीमाएं
13.4 प्राण चिकित्सा के लाभ
  13.4.1 शारीरिक लाभ
  13.4.2 मानसिक लाभ
  13.4.3 भावनात्मक लाभ
  13.4.4 आध्यात्मिक लाभ
  13.4.5 सामाजिक लाभ
13.5 प्राण चिकित्सा की सावधानियाँ
13.6 उपसंहार
13.7 कठिन शब्दावली
13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में आपने जाना कि प्राण वह शक्ति है जिससे व्यक्ति और समष्टि में कार्य सम्पादित होता है अर्थात् प्रत्येक कार्य के लिए प्राण शक्ति आवश्यक है।

प्राण की उपयोगिता मात्र प्रकृति तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका उपयोग किया जा सकता है। यह उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में वर्तमान में प्रमुखता से किया जा रहा है।

इस इकाई में आप प्राण चिकित्सा की सीमा, लाभ व सावधानियों के विषय में विस्तारपूर्वक जानेंगे।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगेः—

– कि प्राण चिकित्सा के विभिन्न सीमाएँ क्या हैं।
– कि प्राण चिकित्सा श्वसन तंत्र के कौन – कौन से रोगों पर प्रभाव डालता है।
– कि प्राण चिकित्सा के शारीरिक लाभों के अंतर्गत श्वसन, पाचनतंत्र आदि के कौन – कौन से रोगों में उपयोगी है।
– कि प्राण चिकित्सा के मानसिक लाभ क्या – क्या हैं।
– कि प्राण चिकित्सा के भावनात्मक लाभ क्या – क्या हैं।
– कि प्राण चिकित्सा के आध्यात्मिक लाभ क्या – क्या हैं।
– कि प्राण चिकित्सा के सामाजिक लाभ क्या – क्या हैं।
– कि प्राण चिकित्सा करते समय ध्यान रखने योग्य सावधानियाँ लाभ क्या – क्या हैं।

13.3 प्राण चिकित्सा की सीमाएं

प्राण चिकित्सा अत्यंत सरल एवं प्रभावपूर्ण चिकित्सा पद्यति है। जिस प्रकार अन्य चिकित्सा पद्यतियों में लाभ के साथ–साथ अपनी कुछ सीमाएं होती है, उसी प्रकार प्राण चिकित्सा उपचार की भी कुछ सीमाएं हैं जो कि इस प्रकार है–

1. **शिशुओं, छोटे बच्चों, बड़े–बूढ़ों पर :–**

शिशुओं, छोटे बच्चों, बहुत कमजोर और बड़े–बूढ़े रोगियों पर बहुत अधिक प्राणशक्ति का उपयोग नहीं करा जा सकता है।

शिशुओं और छोटे बच्चों के चक्र, जो कि ऊर्जा का केंद्र होते हैं, बहुत छोटे होते हैं और उनमें अधिक बल भी नहीं होता है। उनके चक्र छोटे होने के कारण जल्दी ही भर जाते हैं। अतः देर तक ऊर्जा देने से उनकी दशा और बिगड़ सकती है। इसलिए शिशुओं और बच्चों को प्राण ऊर्जा बहुत धीरे और बहुत कोमलता के साथ कम समय के लिए देनी चाहिए।

इसी प्रकार बहुत ही कमजोर और बड़े–बूढ़े रोगियों के चक्र कमजोर होते हैं। बहुत अधिक प्राणशक्ति देने से या बहुत ही तीव्रता या सघनता से ऊर्जित करने पर इन रोगियों के चक्रों में संकुचन या खिंचाव हो सकता है। कमजोर होने के साथ–साथ उनके चक्र औरों की तुलना में दूषित भी होते हैं। बहुत अधिक ऊर्जन से उनके चक्रों में घुटन भी हो सकता है जिससे उनको और परेशानियों का सामना करना पड़ सकता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे जब एक बहुत ही प्यासा व्यक्ति बहुत हो कम समय में बहुत अधिक पानी पीता है और उसकी आंत या पेट में संकुचन या खिंचाव आ जाता है।

शिशुओं और बच्चों को हल्के से, तथा एक क्रम में ही कम समय तक ऊर्जित करना चाहिए। उनके उपचार के लिए किसी अनुभवी प्राण चिकित्सा से सलाह लेनी चाहिए। इसी प्रकार कमजोर एवं बीमार रोगियों में प्राणशक्ति को ग्रहण करने की ताकत बहुत कम होती है। इसलिए ऐसे रोगियों को धीरे, एक क्रम में और लंबे समय तक ऊर्जित करना चाहिए। दोबारा ऊर्जित करने से पहले उन्हें आराम कराना चाहिए और बाद में 15–20 मिनट तक प्राण शक्ति देनी चाहिए।

यदि सौर जालिका चक्र (ऊर्जा केंद्र) अचानक ही अधिक ऊर्जित हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप चक्र में संकुचन या खिंचाव आ जाता है, तब रोगी अचानक पीला पड़ सकता है और उसे श्वास लेने में कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। यदि कभी ऐसा हो जाए तो शीघ्र ही सौर जालिका क्षेत्र पर स्थानीय झाड़–बुहार करनी चाहिए। हालांकि ऐसी स्थिति कभी–कभी ही दिखाई देती है, फिर भी इसकी चर्चा इसलिए की गई है ताकि कभी भी इस प्रकार की समस्या उत्पन्न हो तो प्राण चिकित्सक सही रूप में चिकित्सा कर सकें।

शिशुओं बच्चों और बड़े–बूढ़ों की चिकित्सा करना उसी प्रकार है, जैसा उनसे हाथ मिलाया जाता है। इन लोगों से हाथ मिलाते समय पकड़ हल्की या नरम होती है, जबकि युवा और प्रौढ़ व्यक्तियों से हाथ मिलाते समय पकड़ मजबूत हो जाती है।

2. आँखों पर :– आँखों को कभी भी सीधे ऊर्जित नहीं कर सकते हैं। आँखे बहुत ही कोमल व नाजुक अंग है। आँखों को सीधे ऊर्जित करने पर उन पर आसानी से प्राणशक्ति का घनापन आ सकता है। इसके फलस्वरूप एक लंबे समय के बाद उनमें खराबी भी आ सकती है। आँखों को सिर के पीछे की और (पिछला शिरोचक्र) से ऊर्जित करना चाहिए। यह स्थान भौंह (आज्ञा चक्र) और कनपटी (टैम्पल माइनर चक्र) के बीच होता है। इस

प्रकार ऊर्जित करने से यदि आँखें समुचित रूप से ऊर्जित हो जाती है तो अतिरिक्त प्राणशक्ति आँखों में इकट्ठा न होकर शरीर के दूसरे हिस्सों में चली जाती है।

3. हृदय पर :– हृदय शरीर का महत्वपूर्ण एवं कोमल अंग है। यह अंग पूरे शरीर में रक्त परिसंचरण का काम करता है। हृदय को लंबे समय तक ऊर्जित नहीं कर सकते हैं और न ही हृदय चक्र को सामने से ऊर्जन देना चाहिए। हृदय को सघन रूप से भी ऊर्जित नहीं कर सकते हैं।

हृदय की संवेदनशीलता के कारण इसे बहुत अधिक प्राणशक्ति देने और सघन रूप से ऊर्जित करने से हृदय में तीव्र रूप से प्राणशक्ति का घनापन हो सकता है। यदि हृदय को सामने की और से ऊर्जित किया जाए तो प्राणशक्ति हृदय के आसपास इकट्ठी हो सकती है और इससे प्राणशक्ति कि घनेपन की संभावना बढ़ जाती है।

सीधे ऊर्जन देने से रोगी के हृदय धड़कन बढ़ सकती है और ऊर्जन की अधिकता से वह मूर्छित हो सकता है। यदि ऐसा देर तक किया जाए तो रोगी को हृदय रोग भी हो सकता है। हृदय को ऊर्जा देने के लिए हृदय चक्र के पास रीढ़ की हड्डी के पीछे से ऊर्जित करना चाहिए। पीछे से हृदय को जाग्रत करने पर प्राणशक्ति न केवल हृदय को ओर बहती है, बल्कि शरीर के अन्य भागों की ओर भी जाती है। इस प्रक्रिया से हृदय में प्राणशक्ति के घने होने की संभावना कम हो जाती है।

4. **मेंगमीन या कटि चक्र पर :–** नाभी के ठीक पीछे के ऊर्जा केन्द्र को मेंगमीन या कटि च्रक कहते हैं। मूल प्राण शक्ति उपचार में इस का ऊर्जन वर्जित है। इसको केवल अग्रिम प्राण उपचारक ही प्रयोग में लाते हैं। शिशुओं, बच्चों, बूढ़े व्यक्तियों और गर्भवती स्त्रियों का कटि चक्र ऊर्जित करना वर्जित है। कटि चक्र के उत्तेजित होने के परिणामस्वरूप बच्चों, शिशुओं और बूढ़े रोगियों में उच्च रक्तचाप की संभावना बढ़ सकती है जो कि मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती है।

गर्भवती महिलाओं के लिए भी इस चक्र का ऊर्जन इसलिए निषेध है क्योंकि इसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ने की संभावना रहती है।

इस चक्र द्वारा उपचार केवल कुशल और अनुभवी प्राणशक्ति उपचारकों द्वारा ही किया जाना चाहिए। मेंगमीन या कटि चक्र का शोधन किया जा सकता है। उच्च रक्तचाप की अवस्था में यदि मेंगमीन चक्र को 100–200 बार साफ किया जाए तो रक्तचाप धीरे–धीरे सामान्य हो सकता है। परन्तु उपचार को कई बार दोहराना आवश्यक है।

5. **प्लीहा चक्र पर :–**बाईं ओर सब से नीचे की पसली पर एक और चक्र है जिसे प्लीहा चक्र कहते हैं। मूल प्राण चिकित्सकों या उपचारकों को इस चक्र का ऊर्जन करना वर्जित है, मेंगमीन चक्र की भॉति ही प्लीहा चक्र के उपचार के लिए केवल अनुभवी व उन्नत प्राणशक्ति उपचारक द्वारा होना चाहिए। शिशुओं और बच्चों के प्लीहा चक्र को ऊर्जित नहीं करना चाहिए क्योंकि प्राणशक्ति के घनेपन के कारण व बेहोश हो सकते हैं। यदि कभी ऐसा हो जाए तो अतिरिक्त प्राण ऊर्जा को निकालने के लिए कई बार सामान्य झाड़ – बुहार करना चाहिए।

उच्च रक्तचाप की अवस्था में प्लीहा चक्र का ऊर्जन वर्जित है। ऐसी स्थिति में प्लीहा चक्र के ऊर्जन से रोगी की दशा और अधिक बिगड़ सकती है।

इस चक्र का उपयोग उन रोगियों के उपचार के लिए किया जाना चाहिए जो बहुत कमजोर हैं या जिनमें प्राणशक्ति बहुत ही अप्ल मात्रा में विद्यमान है।

पूर्व में आप ने प्राण चिकित्सा को सीमाओं के विषय में विस्तारपूर्वक पढ़ा। आगे आप प्राण चिकित्सा के लाभों के विषय में जानेगें। वास्तव में प्राण चिकित्सा स्थूल न होकर सूक्ष्म चिकित्सा है। अतः इसके लाभ भी सूक्ष्म व व्यापक हैं।

13.4 प्राण चिकित्सा के लाभ :—

प्राण चिकित्सा के लाभों के अंतर्गत शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं सुरक्षात्मक रूप से लाभ सन्निहित हैं जो कि विस्तारपूर्वक इस प्रकार है —

13.4.1 शारीरिक लाभ :— शरीरगत स्थित विभिन्न संस्थानों के रोगों में यह चिकित्सा अत्यंत लाभकारी है।

श्वसन संस्थान के रोगों हेतु :— साइनोसाइटिस, नाक में संक्रमण, दमा सर्दी, खाँसी, जुकाम, नाक से खून बहना बंद नाक, आदि में प्राण चिकित्सा अत्यंत लाभकारी है।

त्वचा संबंधी रोगों हेतु :— ल्यूकोडर्मा, साधारण खाज—खुजली, जल जाने पर, कीड़े आदि के काटने पर, फोड़े—फुंसियाँ, कील—मुँहासे, त्वचा की सामान्य एलर्जी, कटे हुए और ज्वलनकारी घाव, त्वचा की चमक बढ़ाने के लिए, आदि में प्राण चिकित्सा अत्यंत लाभकारी होती है।

हृदय संबंधी रोगों हेतु :— उच्च एवं निम्न रक्तचाप, आंशिक हृदय अंतर्बाधा (हार्ट ब्लौक) हृदय धमनी रोग, अनियमित हृदय गति (कार्डिएक अरिदमिया), हृदय की सूजन या Rheumatic Heart, हृदय का फैलाव (Enlarged Heart), Defective Valve, जन्मजात हृदय रोग, धमनी प्राचीर काठिन्य (Arteriosclerosis), स्फीत शिरा (Varicose Veins), आदि रोगों में प्राण चिकित्सा लाभकारी सिद्ध होती है।

रक्षा एवं प्रतिरोधी तंत्र के रोगों हेतु :— संक्रमण व सूजन, बोन मैरो से संबंधित रोग, रक्त से संबंधित रोग, त्वचा संक्रमण, नेत्र संक्रमण, कर्ण संक्रमण, मम्स्, श्वसन संबंधी संक्रमण, जठरांत्र संक्रमण, यकृत संक्रमण, मूत्र संक्रमण एवं रजित रोग, थाइमस ग्रंथि से संबंधित रोग, प्लीहा से संबंधित रोगों आदि में प्राण चिकित्सा अत्यंत लाभकारी है।

अस्थि एवं पेशी तंत्र के रोगों हेतु :— साइटिका तथा हर्निएटेड डिस्क, मेरूरज्जु का पार्श्व घुमाव (Scholeosis), संधि शोथ (Arthritis), जोड़ो व तंतु—पेशिओं का दर्द (Rheumatism), पेशिओं तथा स्नायुओं की सूजन, गर्दन में अकड़न, कंधे का दर्द, गठिया (Gout), खेल की चोटें, पेशी की ऐंठन, खिंचवा, मोच, विस्थापन आदि में प्राण चिकित्सा अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होती है।

पाचन संस्थान संबंधी रोगों हेतु :— निगलने में कठिनाई, उल्टी, दस्त, कब्ज, पेट में कृमि, उदरीय दर्द, अपच, जठरांत्र—अल्सर, बवासीर, हर्निया, उच्च कोलेस्ट्रोल, जठरांत्र—संक्रमण, आकास्मिक उपात्र प्रदाह (Acute Appendicitis), अग्नाशय की आकास्मिक सूजन (Acute Parcreatitis), पित्त नली — पथरी, यकृत शोथ आदि रोगों में प्राण चिकित्सा अत्यन्त लाभकारी होती है।

मूल एवं जनन संस्थान संबंधी रोगों हेतु :— मूत्र नली तथा मूत्राशय के संक्रमण, गुर्दे में सूजन तथा संक्रमण, गुर्दे की पथरी, ऋतु—शूल, मासिक धर्म का न होना या अव्यवस्थित होना, योनि तथा गर्भाशय ग्रीवा की सूजन, डिम्ब ग्रंथि की रसौली, गर्भाशय में रसौली, गर्भाशय का अपनी जगह से हटना, पौरूष ग्रंथि का बढ़ना, नपुंसकता, बाँझपन, रतिज रोग, गर्भवती स्त्री से संबंधित रोग आदि में प्राण चिकित्सा महत्वपूर्ण एवं लाभकारी होती है।

मस्तिष्क एवं तंत्रिका तंत्र के रोगों हेतु :— बेल्स पालसी, चेहरे की पेशी की अनैच्छिक सिकुड़न (Facial Tics), चेतना शून्यता, मिरगी (Epilepsy), पार्कन्सिन रोग, मस्तिष्क शोथ (Encephalitis), मस्तिष्क—सुषुम्नाच्छद शोथ (Meningitis), मानसिक मन्दता, सिर दर्द, माइग्रेन, भारीपन आदि में प्राण चिकित्सा अत्यंत लाभकारी है।

आँख, कान एवं गले के रोगों हेतु :— निकटदृष्टिवत्ता, दूरदृष्टिवत्ता, दृष्टि—वैषम्य, भैंगी आँखें, नेत्र संक्रमण, नेत्रों में लालीपन, कालामोतिया (Glaucoma), मोतियाबिंद (Cataract), बाहरी कान के संक्रमण, मध्य व आंतरिक कान के संक्रमण, बहरापन, कान के परदे का फटना, कानों का बजना, सिर चकराना (Vertigo), खराब गला, स्वर यंत्री की खराबी, टांसिलाइटिस आदि रोगों में प्राण चिकित्सा अत्यंत लाभकारी है।

अंतःस्त्रावी संस्थान के रोगों हेतु :— मधुमेह (Diabetes) और थायरॉइड अतिक्रियिता में प्राण चिकित्सा द्वारा सफल इलाज किया जा सकता है।

13.4.2 मानसिक लाभ :— मानसिक लाभों के अंतर्गत सोचने समझने की क्षमता, विकसित होती है, संज्ञानात्मक और सकारात्मक प्रभाव प्राण चिकित्सा के द्वारा संभव है, इसके द्वारा सकारात्मक सोच विकसित होती है तथा हमारा प्रत्यक्षण भी सकारात्मक रूप से विकसित होता है। प्राण चिकित्सा से विवेकशीलता भी विकसित होती है।

प्राण चिकित्सा से नकारात्मक भाव — संवेदनाएँ, चिंता, तनाव, क्रोध, घृणा, अहंकार, अत्यधिक महत्वकांक्षा, अति संवेदनशीलता, लालच, हिंसा, विनाशकारिता, निष्ठुरता, ईर्ष्या — आदि का भी संतुलन होता है व यह सभी नकारात्मक भाव सकारात्मक और रचनात्मक क्षमताओं में विकसित व परिवर्तित हो जाते हैं।

13.4.3 भावनात्मक लाभ :— शरीर के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के भाव निर्हित होते हैं। यह भाव हमारे मस्तिष्क के हिप्पोकैम्पस नामक हिस्से में, जो लिम्बिक संस्थान का भाग है, स्थित होते हैं। भाव नकारात्मक भी होते हैं ओर सकारात्मक भी।

पं. श्रीराम शर्मा जी के अनुसार भाव, विचार और कर्म की श्रृंखला अत्यंत महत्वपूर्ण है। कारण शरीर — भाव प्रधान, सूक्ष्म शरीर — विचार प्रधान व स्थूल शरीर — कर्म प्रधान होता है। जैसे भाव होगें वैसे ही विचार उत्पन्न होंगें और जैसे विचार होंगें, मनुष्य का व्यक्तित्व वैसे ही निर्मित होगा। भावनात्मक असंतुलन जैसे तनाव, चिड़चिड़ापन, चिंता, गहन दुःख, हिस्टीरिया, बेतुका डर, आघात, अवसाद, जैसी भावनाओं को जड़ से ठीक करने में मदद करता है, प्राणिक साइकोथैरेपी, के द्वारा उपरोक्त सभी मानसिक असंतुलनों एवं शराब की लत, धुम्रपान एवं ड्रग ऐडिकशन, (Drug Addiction) तक को ठीक करने में मदद करता है, इसी के साथ—साथ प्राणिक साइकोथैरेपी हिंसात्मक मनोवृत्ति एवं पैरानॉइड रोगियों के लिए अत्यन्त लाभकारी साबित होती है। मानसिक रूप से विकलांग रोगियों के लिए तो यह वास्तव में वरदान है।यहाँ यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि उपरोक्त समस्याऐं एडवांस प्राणिक हीलर के द्वारा ही उपचारित हो सकती है।

13.4.4 आध्यात्मिक लाभ :— प्राण चिकित्सा के द्वारा मानव सभ्यता, शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक लाभ ही नहीं वरन आध्यात्मिक लाभ भी अर्जित कर सकती है। प्राण चिकित्सा में ध्यान की जो पद्यतियाँ है — उनसे हृदय चक्र और सहस्रार चक्र अत्याधिक विकसित होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का शरीर और मन संतुलित अवस्था में आ जाता है और

वह आध्यात्मिक ऊर्जा को वहन करने के लिए तैयार हो जाता है – अर्थात् व्यक्ति की पात्रता विकसित हो जाती है। पात्रता विकसित हो जाने पर साधक आत्मबोध कर लेता है।

13.4.5 सामाजिक लाभ :– आध्यात्म के पथ पर चलने वाला व्यक्ति ही अच्छे अथवा उत्तम समाज के निर्माण में सिद्ध हो सकता है। आत्मानुशासन ही उत्तम समाज की नींव है। प्राण विद्या के द्वारा आत्मानुशासन को प्राप्त करके संतुलित सामाजिक व्यवस्था बनाई जा सकती है। समाज में आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिक व्यवहार, हिंसा, आदि की जो घटनाएँ हो रही हैं उन पर शीघ्रता से नियंत्रण पाया जा सकता है। प्राण चिकित्सा के माध्यम से व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास होता है जिससे उचित निर्णय लेने की क्षमता, आत्मानुशासन, प्रेम, सौहार्द, परस्पर मेल–मिलाप की भावना विकसित होती है जिससे सामाजिक ढांचा मजबूत होता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार :– जिस प्रकार एक घर की प्राथमिक इकाई ईंट है उसी प्रकार समाज की प्राथमिक इकाई एक व्यक्ति ही है, अगर एक व्यक्ति में सुधार हो गया तो सामाजिक ढ़ाचे का सुधार स्वयंमेव ही हो जाएगा।

13.5 प्राण चिकित्सा की सावधानियाँ :–

प्राण चिकित्सा एक अत्यंत महत्वपूर्ण व प्रभावपूर्ण चिकित्सा है। अन्य चिकित्साओं में जिस प्रकार लाभ के साथ–साथ कुछ सावधानियाँ भी होती है उसी प्रकार प्राण चिकित्सा की भी कुछ सावधानियाँ है जो कि उपचारक को उपचार के दौरान ध्यान में रखनी चाहिए।

यह इस प्रकार हैं–

उपचारक (हीलर) को तब उपचार नहीं करना चाहिए, जब वह स्वयं बीमार हो या उसे सामान्य कमजोरी हो। इससे उपचारक का रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ या बीमार ऊर्जा को अगले रोगी में जाने से रोका जा सकता है। ऐसा न करने से रोगी व उपचारक दोनों को ही शारीरिक रूप से परेशानी का सामना करना पड़ सकता है तथा रोगी की समस्या का गंभीर रूप सामने आ सकता है।

उपचारक को उस समय उपचार कभी नहीं करना चाहिए जब वह बहुत गुस्से में हो या चिड़चिड़ा हो क्योंकि दूसरे रोगी को भेजी जाने वाली प्राण शक्ति गुस्से या अन्य नकारात्मक भावनाओं से दूषित हो सकती है। इससे रोगी की दशा ओर अधिक बिगड़ सकती है क्योंकि प्राण शक्ति का असर शरीर व मन दोनों पर पड़ता है।

रोगी व उपचारक दोनों को रोधात्मक पहनावे नहीं पहनने चाहिए। सिल्क, रबर और चमड़े की वस्तुएँ प्राणशक्ति के लिए आंशिक रूप से कवच का काम करती है। रोगियों से सिल्क के कपड़े न पहनने का निवेदन करना चाहिए क्योंकि इन कपड़ों में प्राणशक्ति को प्रेक्षेपित करना कठिन होता है। सामान्य झाड़–बुहार को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए चमड़े व रबर के जूते और बेल्ट उतार देने चाहिए। अधिकाधिक भू–शक्ति प्राप्त करने के लिए उपचारक अपने जूते–चप्पलों को उतार देने की प्रमुखता देते हैं।

अभ्यास प्रश्न

सही / गलत

1. शिशुओं व छोटे बच्चों को देर तक ऊर्जा देनी चाहिए।
2. आँखों को सीधे ऊर्जित कर सकते हैं।
3. उपचारक बीमारी की अवस्था में उपचार कर सकता है।
4. रोगी व उपचारक दोनों को रोधात्मक पहनावा नहीं पहनना चाहिए।

5. उच्च रक्तचाप की अवस्था में प्लीहा चक्र का ऊर्जन वर्जित है।

13.6 सारांश

प्राण चिकित्सा एक बहुत ही प्रभावशाली चिकित्सा है जो कि शरीर के लिए ही नहीं वरन् मन के लिए ही लाभकारी है। प्राण चिकित्सा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह चिकित्सा शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक – तीनों स्तरों पर अपना प्रभाव डालती है। प्राण चिकित्सा उपचारक की मनःस्थिति को महत्वपूर्ण मानते हुए मास्टर ने यह स्पष्ट किया है कि मानसिक विक्षेप की अवस्था उपचार के लिए निषेध है। इसके अतिरिक्त और चिकित्साओं की भाँति ही प्राण चिकित्सा की सीमाओं व सावधानियों का उपचारक को हमेशा ध्यान रखना चाहिए जिसके फलस्वरूप चिकित्सा का पूर्ण लाभ प्राप्त हो सके।

13.7 शब्दावली

पद्यतियाँ – विधि, तरीका, प्रणाली।
झाड़–बुहार – साफ–सफाई, प्राण चिकित्सा में चक्र अथवा अंग विशेष को साफ करने का 'तरीका विशेष'
रोधात्मक – अवरोधी

13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :–

1.गलत 2. गलत 3.गलत 4.सही 5.सही

13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राण शक्ति उपचार – प्राचीन विज्ञान और कला, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
2. एडवांस्ड प्राणिक हीलिंग, मास्टर चौ कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
3. प्राणिक साइकोथेरैपी, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
4. प्राणशक्ति एक दिव्य विभूति, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (1998), अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न –

1. प्राण चिकित्सा की सीमाओं का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
2. प्राण चिकित्सा से तात्पर्य समझते हुए इसके लाभों का वर्णन कीजिए।
3. प्राण चिकित्सा की सीमा एवं सावधानियाँ समझाइए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी –
   - प्राण चिकित्सा की चार सीमाओं का वर्णन कीजिए।
   - प्राण चिकित्सा के आध्यात्मिक लाभों का वर्णन कीजिए।
   - प्राण चिकित्सा की दो सावधानियों का वर्णन कीजिए।

इकाई–14 प्राण ऊर्जा एवं प्रतिरोधक क्षमता का संबंध व रोगोपचार

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 प्राण ऊर्जा
    14.3.1 जीवद्रव्य शरीर
    14.3.2 जीवद्रव्य नाड़ियाँ
    14.3.3 कोश
    14.3.4 चक्र या ऊर्जा केन्द्र
14.4 प्रतिरोधक क्षमता
14.5 प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता का संबंध
    14.5.1 रोग पहले जीवद्रव्य शरीर में दिखाई देते हैं
    14.5.2 मनः कायिक रोगों की कार्य पद्धति
14.6 प्राण ऊर्जा द्वारा रोगोपचार
14.7 सारांश
14.8 कठिन शब्दावली
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
14.11 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में आपने जाना कि प्राण शक्ति चिकित्सा एक अत्यंत ही प्रभावशाली विधि है जिसके द्वारा शारीरिक ही नहीं वरन् मानसिक, आध्यात्मिक, भावनात्मक व सामाजिक लाभों का अर्जन किया जा सकता है। आपने जाना कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों की भाँति ही प्राण चिकित्सा की कुछ सीमाएँ व सावधानियाँ हैं जिन्हें ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है। इस इकाई में आप प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता में क्या संबंध है व प्राण ऊर्जा के माध्यम से रोगोपचार कैसे हो – इस विषय पर विस्तारपूर्वक जानेंगे।

14.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे –

- कि प्राण ऊर्जा क्या है।
- कि प्रतिरोधक क्षमता क्या है।
- कि प्रतिरोधक क्षमता का क्या कार्य है।
- कि जीवद्रव्य शरीर क्या है।
- कि चक्र व ऊर्जा केन्द्र क्या है व उनके क्या कार्य है।
- कि प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता का क्या संबंध है।

➢ कि प्राण ऊर्जा के द्वारा रोगोपचार की क्या विधि है।

14.3 प्राण ऊर्जा

जैसा कि आप पहले की इकाईयों में पढ़े चुके हैं, प्राण ऊर्जा एक जोजस्वी ऊर्जा या जीवन शक्ति है जो शरीर को जीवित व स्वस्थ रखती है। प्राण ऊर्जा के अभाव में कोई भी कार्य कर पाना कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। प्राण ऊर्जा के बिना प्राणी का जीवित रहना एक हास्यप्रद बात होगी। प्राण ऊर्जा जीवनी शक्ति है। एक मनुष्य की प्राण शक्ति ही यह निर्धारित करती है कि उसमें कितना बल है। साधारणतः आपने महसूस किया होगा कि अस्वस्थता की अवस्था में आपका शरीर और दिनों की भाँति कार्य नहीं कर पाता है बल्कि आपको और थकान व कमजोरी महसूस होती है। इसका सीधा संबंध प्राण ऊर्जा से है। रोग की अवस्था में प्राण ऊर्जा का स्तर शरीर में सामान्य से कम हो जाता है और इसके फलस्वरूप हमें थकान शीघ्र होने लगती है।

14.3.1 जीवद्रव्य शरीर :–प्रत्येक जीव में भौतिक शरीर के अलावा एक जीवद्रव्य शरीर होता है जिसे बायोप्लाज्मिक शरीर भी कहते हैं। दिव्यदार्शियों ने अपने परामानसिक पद्धतियों से यह पाया है कि व्यक्ति अपने शरीर के चारों और एक चमकदार शक्ति या आभा द्वारा घिरा रहता है जिसे जीवद्रव्य शरीर कहा जाता है। अपने दिखाई देने वाले शरीर की तरह ही इसकी भी एक सिर, दो आँखें, दो हाथ होते हैं।

''जीवद्रव्य'' (बायोप्लाज्मिक) शब्द का निर्माण दो शब्दों से हुआ हैः पहला 'जीव' (बायो) यानी जीवन और दूसरा द्रव्य (प्लाज्मा) यानी पदार्थ का चौथा रूप। जीव–द्रव्य का अर्थ एक जीवित शक्ति है, जो अदृश्य सूक्ष्म पदार्थ या वायवी पदार्थ का बना होता है। विज्ञान ने किर्लियन फोटाग्राफी के माध्यम से जीवद्रव्य शरीर की पुनर्खोज की है। किर्लियन फोटोग्राफी द्वारा वैज्ञानिक छोटे जीवद्रव्य वस्तुओं जैसे जीवद्रव्य अंगुलियों, पत्तियों आदि का अध्ययन करने और उनके चित्र लेने में सफल हुए हैं। इसी जीवद्रव्य शरीर द्वारा प्राणशक्ति या ओजस्वी ऊर्जा ग्रहण कर पूरे भौतिक शरीर में फैलायी या संचरित की जाती है।

14.3.2 जीवद्रव्य नाड़ियाँ :–सामान्य भौतिक शरीर में जिस तरह रक्त संचार के लिए नाड़ियाँ या रक्त नलिकाएं होती हैं, उसी प्रकार जीवद्रव्य शरीर में भी न दिखाई देने वाली बारीक शिरोबिन्दु या नाड़ियां होती हैं, जिनके द्वारा प्राणशक्ति और जीवद्रव्य पदार्थ पूरे शरीर में संचरित होता है। कई बड़ी और हजारों छोटी जीवद्रव्य नाड़ियां जीवद्रव्य शरीर में होती हैं। योग–विद्या में इन्हें बड़ी और छोटी नाड़ी कहते हैं। इन नाड़ियों द्वारा प्राण शक्ति का संचार होता है, जो पूरे शरीर को पोषित और शक्ति प्रदान करता है।

जीवद्रव्य नाड़ियों को शिरोबिन्दु भी कहा जाता है। जीवद्रव्य नाड़ियों के सुचारू रूप से कार्य न करने के कारण प्राण ऊर्जा में कमी आ सकती है तथा प्राण शक्ति के संचरण में रूकावट उत्पन्न हो सकती है। अगर यह स्थिति लंबे समय तक बनी रहे तो शरीर अस्वस्थ भी हो सकता है।

14.3.3 कोश :– महाप्राण जीवन की तथा जो कुछ विद्यमान है, उसकी अनिवार्य ऊर्जा है, और इस प्रकार यह जीवनी शक्ति है जो सभी जीवों में विद्यमान है, चाहे वह जड़ हो या चेतन। यद्यपि सभी जीवधारियों का भिन्न अस्तित्व प्रतीत होता है या वे अलग–अलग रूप धारण करते हैं, तथापि महाप्राण सभी जीवधारियों को अनुप्राणित करता है। जिस प्रकार एक धवल प्रकाश भिन्न घनत्व वाले पदार्थों से गुजरता है तो स्पेक्ट्रम के विभिन्न रंगों को

उत्सर्जित करता है। प्राण कैसे अभिव्यक्त होता, यह उस शरीर की स्पंदन दर पर निर्भर होगा, जिसमें वह व्याप्त होता है।

योग के अनुसार मानव की ऊर्जा के पाँच तल होते हैं, जिनका परस्पर सह–अस्तित्व है और जिनका विस्तार स्थूलतम से सूक्ष्मतम स्तर तक होता है। इन्हें पंच कोश कहा जाता है – अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनंदमय कोश।

जिस प्रकार एक जेनरेटर एक मशीन को क्रियाशील बनाता है, उसी प्रकार महाप्राण एक जेनरेटर है, जो पंच कोशों को परिचालित करता है। महाप्राण इन पंच कोशों से सदैव अपना कर्त्तव्य पूरा कराता रहता है, जब हम सोते रहते हैं तब भी, हमारी सतत् चेतन सजगता नहीं रहने पर भी। अधिकतर व्यक्तियों में चेतन सजगता मात्र भौतिक स्तर पर पायी जाती है। चूँकि हमारा भौतिक स्थूल शरीर अपने रख–रखाव के लिये भोजन, जल और वायु पर निर्भर रहता है, जो प्राण के स्थूल आयाम हैं, इसलिये उसे अन्नमय कोश की संज्ञा दी गयी है। फिर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उसे प्राण पर निर्भर रहना पड़ता है। हम भोजन के बिना छः सप्ताह तक, पानी के बिना छः दिनों तक तथा हवा के बिना छः मिनटों तक जीवित रह सकते हैं, परंतु प्राण को जैसे ही हटाया जाता है, जीवन का तत्काल अंत हो जाता है।

प्राणमय कोश एक सशक्त आवरण या प्राणमय शरीर है। अन्नमय तथा प्राणमय कोश, दोनों मिलकर मानवीय शरीर की आधारभूत संरचना का निर्माण करते हैं। प्राणमय शरीर स्थूल शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म होता है, जिसमें यह व्याप्त होता है जिसे पोषण और सहारा भी देता है। यह स्थूल शरीर के एक–एक कोश और तंतु में जान डालता है। इन दोनों में से कोई अकेले अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता। हमारे प्राणमय शरीर का आकार–प्रकार, स्थूल शरीर से एकदम मिलता–जुलता है। जिस प्रकार स्थूल शरीर अथवा अन्नमय कोश का पोषण और रख–रखाव प्राणमय कोश द्वारा होता है, ठीक उसी प्रकार प्राणमय कोश का पोषण और रख–रखाव भी उससे कहीं सूक्ष्मतर कोशों, जैसे, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों द्वारा होता है।

मनोमय कोश, अर्थात् मानसिक आवरण एक साथ अनेक कार्यों को अंजाम देता है तथा यह अपने स्थूलतर दो कोशों – अन्नमय और प्राणमय को पोषण देकर, उन्हें समेकित कर संयुक्त रखता है। यह अन्य कोशों के बीच संवाद वाहक की भूमिका निभाता है। यह बाह्य जगत के अनुभव तथा संवेदनाएँ सहजानुभूत शरीर को प्रेषित करता है और सहजानुभूत शरीर या सूक्ष्म शरीर की प्रेरणाओं को स्थूल शरीर में प्रेषित करता है। हमारे मन में सर्वोच्च गति प्राप्त करने की क्षमता होती है। विचार गति की चरम अभिव्यक्ति है। मन भूतकाल और भविष्य काल में जा–आ सकता है। मन की गति में काल किसी प्रकार बाधक नहीं होता तथा ध्यान की अवस्था में हमें काल के अस्तित्वहीन होने की अनुभूति होती है।

विज्ञानमय कोश को सहजानुभूत शरीर भी कहा जाता है। यह मनोमय कोश में व्याप्त होता है तथा उससे कहीं अधिक सूक्ष्म होता है। जब इसका जागरण होता है जो साधक में अंतर्ज्ञात प्रज्ञा जागती है, उसे हर अभिव्यक्ति के पृष्ठ में प्रच्छन्न यथार्थ के दर्शन होते हैं। इससे विवेक की प्राप्ति होती है।

आनंदमय कोश में आनंद ही आनंद होता है। यह हमारा अंतिम और सूक्ष्मतम कोश कहलाता है। यह कारण अथवा अनुभवातीत शरीर होता है जिसमें अति सूक्ष्म प्राण का वास होता है। यह व्याख्या के परे है। सभी पाँच कोशों में प्राण ऊर्जा व्याप्त होती है, चाहे स्थूल

हो अथवा सूक्ष्म। प्राण इन्हें पोषण प्रदान कर इनके अस्तित्व को कायम रखता है तथा इनके सही अंर्तसंबंध को बनाए रखता है। हर जीवित और अजीवित वस्तु में एक ही प्राण व्याप्त होता है। अपने प्राण के प्रति सजगता की परिणति महाप्राण से संयुक्त होने में होती है तथा हम अन्य जीवधारियों में प्राण के अस्तित्व के प्रति सजग होते हैं। प्राण जीवनी शक्ति है। प्राण से ही मनुष्य व जीव जीवित है, चेतन है। प्राण की व्यापकता पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

14.3.4 चक्र या ऊर्जा केन्द्र :– चक्र या तेजी से घूमने वाले ऊर्जा केंद्र जीवद्रव्य शरीर के बहुत ही आवश्यक अंग हैं। जिस प्रकार दिखाई देने वाले शरीर में छोटे और विशिष्ट अंग होते हैं, उसी प्रकार जीवद्रव्य शरीर में भी बड़े, छोटे ओर सूक्ष्म चक्र होते हैं। बड़े चक्र लगभग तीन–चार इंच के तेजी से घूमने वाले ऊर्जा केंद्र होते हैं। ये दिखाई देने वाले भौतिक शरीर के बड़े चक्र एक प्रकार से ऊर्जा घर जैसा कार्य करते हैं, क्योंकि पूरी तरह ऊर्जा नहीं मिलने के कारण वह ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाता। छोटे चक्र लगभग एक से दो इंच तक के होते हैं। सूक्ष्म चक्र एक इंच से छोटे होते हैं। छोटे और सूक्ष्म चक्र भौतिक शरीर के कम जरूरत वाले अंगों को ऊर्जा देते हैं और नियंत्रित करते हैं। ये चक्र दिखाई देने वाले भौतिक शरीर को भेद कर उससे आगे की ओर निकल आते हैं।

योग सिद्धांत में मुख्यतः सात चक्रों का वर्णन मिलता है और प्राण चिकित्सा के क्षेत्र में प्रमुख ग्यारह चक्र होते हैं जो कि शरीर के विभिन्न अंगों की सुलभ गति के लिए आवश्यक है। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन इस प्रकार है–

ग्यारह प्रमुख चक्र :–

1. **मूलाधार चक्र :–** यह चक्र रीढ़ के अंतिम छोर या 'कॉक्सिक्स' क्षेत्र में पाया जाता है। मूलाधार चक्र भौतिक शरीर को नियंत्रित करता है, ऊर्जा देता है और शक्तिशाली बनाता है। यह मांसपेशियों और अस्थि तंत्र, रीढ़ की हड्डी, साफ रक्त के निर्माण, अधिवृक्क ग्रंथियों, शरीर के ऊतक और आंतरिक अंगों को नियंत्रित करता है और ऊर्जा देता है। यह चक्र जननांगों को भी प्रभावित करता है और ऊर्जा प्रदान करता हैं यह मूलाधार चक्र शरीर की गर्मी, सामान्य ओजस्विता और शिशु व बच्चों के विकास को भी प्रभावित करता है। इस चक्र के गलत ढंग से कार्य करने पर जोड़ों का दर्द, रीढ़ की हड्डी का रोग, रक्त के रोग, कैंसर, हड्डी का कैंसर, अधिश्वेत रक्तता (ल्यूकेमिया), एलर्जी, शरीर–विकास की समस्या, जीवनशक्ति की कमी, जख्म भरने में देरी और हड्यिों के टूटन की शिकायत होती है।

   जिन व्यक्तियों का मूलाधार चक्र बहुत अधिक सक्रिय होता है, वे ह्रष्ट–पुष्ट और स्वस्थ्य होते हैं। जिनका मूलाधार चक्र कम सक्रिय होता है, वे नाजुक और कमजोर होते हैं। बूढ़े व्यक्तियों का मूलाधार चक्र कम शक्ति का या बहुत ही कमजोर होता है। इस कारण उनका शरीर कमजोर और छोटा होता है, रीढ़ की हड्डी झुक जाती है और उनमें जोड़ों का दर्द होने की संभावना रहती है।

   मूलाधार चक्र पेड़ की जड़ के समान होता है। जब जड़ ही कमजोर रहेगी तो पेड़ भी कमजोर होगा। मूलाधार चक्र का दूसरा नाम ''जड़ या मूल चक्र'' है।

2. **काम चक्र :–** यह चक्र जननांग क्षेत्र में स्थित होता है। यह जननांगों व 'ब्लैडर' को नियंत्रित करता है और ऊर्जित करता है। इस चक्र के कार्य में गड़बड़ी होने पर काम संबंधी समस्याएं पैदा होती हैं। काम चक्र पर भृकुटि चक्र, कंठ चक्र और मूलाधार चक्र

तीव्र प्रभाव डालते हैं। यदि इनमें से कोई भी चक्र ठीक प्रकार से कार्य न कर पाये तो काम चक्र भी ठीक तरह से कार्य नहीं कर पाता।

3. **कटि चक्र :—** यह चक्र नाभि के ठीक पीछे पीठ में स्थित होता है। यह मूलाधार चक्र कसे आने वाली सूक्ष्म प्राणशक्ति को ऊपर की ओर भेजने के लिए रीढ़ की हड्डी में 'पंपिंग स्टेशन' की तरह कार्य करता है। यह गुर्दे और अधिवृक्क ग्रंथियों को नियंत्रित करने और ऊर्जा पहुंचाने का कार्य करता है तथा रक्तचाप को भी नियंत्रित करता है। इस चक्र के कार्य में गड़बड़ी आ जाने से गुर्दे की बीमारी, ओजस्विता या जीवनशक्ति में कमी, उच्च रक्तचाप और पीठ में दर्द या अन्य रोग होते हैं।
कटि चक्र को शिशुओं, बच्चों, गर्भवती महिलाओं और बहुत ही बूढ़े लोगों में ऊर्जित नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से इसके उल्टे प्रभाव हो सकते हैं। इस चक्र को केवल अनुभवी प्राणशक्ति उपचारकों द्वारा ही व्यवहार में लाना चाहिए।
4. **नाभि चक्र :—** यह चक्र नाभि पर स्थित होता है। यह छोटी व बड़ी आंत और एपेंडिक्स को नियंत्रित व ऊर्जित करता है। यह व्यक्ति की सामान्य ओजस्विता को प्रभावित करता है। इस चक्र के ठीक से कार्य न करने पर कब्ज, एपेंडिसाइटिस, शिशु—जन्म में कठिनाई, ओजस्विता की कमी तथा आंत—संबंधी अन्य रोग होते हैं।

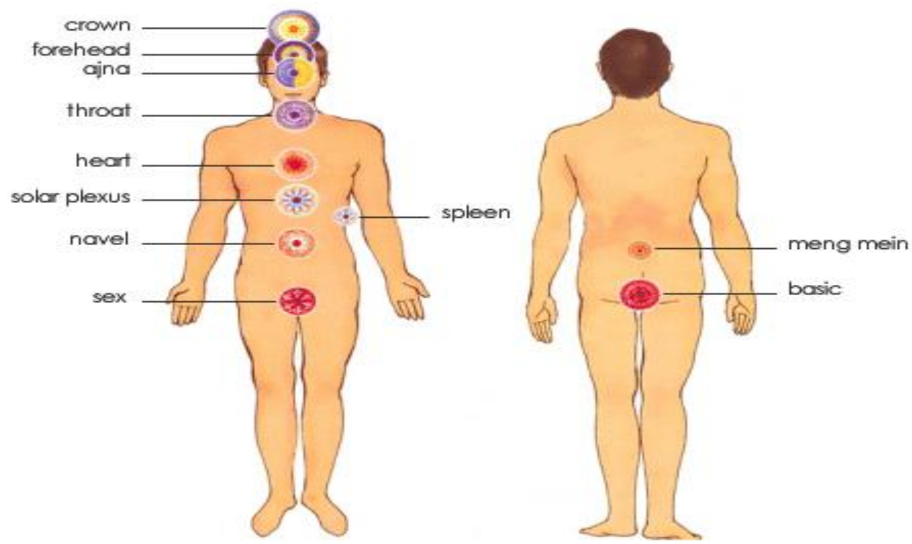

5. **प्लीहा चक्र :—** अगला प्लीहा चक्र पेट के बायीं ओर अगले सौर जालिका चक्र और नाभि चक्र के बीच स्थित होता है। यह बायीं निचली पसली के मध्य में स्थित होता है। यह वायु प्राणशक्ति या वायु प्राण गोलिका के लिए प्रमुख प्रवेश द्वार होता है। इसलिए यह व्यक्ति की सामान्य परिस्थिति के लिए एक प्रमुख भूमिका निभाता है। यह अन्य बड़े चक्रों और पूरे शरीर द्वारा आत्मसात या पचाई गई प्राणशक्ति को वितरित करके उन्हें ऊर्जा प्रदान करता है। पिछला प्लीहा चक्र अगले प्लीहा चक्र के पीछे स्थित होता है। अगले और पिछले प्लीहा चक्र के कार्य समान होते हैं।
शिशुओं और बच्चों में प्लीहा चक्र को ऊर्जित न करने की सलाह दी जाती है, क्योंकि प्राणशक्ति के घनेपन से वे बेहोश हो सकते हैं। यदि कभी ऐसा हो जाए तो सामान्य सफाई की क्रिया करें। अधिक रक्त दबाव या इसका इतिहास रखने वाले रोगियों के लिए भी इस

चक्र को ऊर्जित नहीं करने की सलाह दी जाती है, क्योंकि इससे रोगी का रक्तचाप बढ़ सकता है। फिर भी बहुत बीमार और कमजोर रोगियों का इलाज इस चक्र द्वारा किया जा सकता है। प्लीहा चक्र द्वारा उपचार अनुभवी या उन्नत प्राणशक्ति उपचारकों द्वारा ही कराना जरूरी है।

6. **सौर जालिका चक्र :–** सौर जालिका चक्र दो प्रकार के होते हैं : पसलियों के बीच खाली स्थान में, सौर जालिका क्षेत्र में पाया जाने वाला अगला सौर जालिका चक्र कहलाता है। इसके पिछली ओर स्थित चक्र पिछला सौर जालिका चक्र कहलाता है। ''सौर जालिका चक्र'' शब्द अगले और पिछले दोनों सौर जालिका चक्रों के लिए कहा जाता है। यह चक्र छाती के डायफ्राम, अग्नाशय, जिगर, आमाशय और एक हद तक बड़ी व छोटी आंत, एपेंडिक्स, फेफड़े, हृदय तथा शरीर के अन्य भागों को नियंत्रित और ऊर्जित करता है। यह चक्र रक्त के गुण को भी प्रभावित करता है, क्योंकि यह जिगर को नियंत्रित और ऊर्जित करता है जो रक्त में घुले हुए दूसरे दूषित पदार्थों को साफ करता है।

   सौर जालिका चक्र ऊर्जा सफाई घर की तरह कार्य करता है। सूक्ष्म ऊर्जा निचले चक्रों से ऊपरी चक्रों की ओर इसी चक्र से होकर जाती है। सौर जालिका चक्र द्वारा पूरे शरीर को ऊर्जित किया जा सकता है। कभी–कभी इस चक्र की पूरी तरह सफाई किये बिना ही अधिक मात्रा में ऊर्जित करने पर प्राणशक्ति में घनापन आ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप आंशिक रूप से छाती के डायफ्राम को लकवा मार जाता है, और सांस लेने में कठिनाई होती है। प्राणशक्ति के घनेपन को शीघ्र ही दूर किया जाना चाहिए। सौर जालिका चक्र शरीर को गर्म करने और ठंडा करने के तंत्र को भी नियंत्रित करता है। इस चक्र के गलत ढंग से कार्य करने पर मधुमेह, अल्सर, यकृतशोथ, हृदय रोग और ऊपर लिखे गये अंगों से संबंधित रोग हो सकते हैं।

7. **हृदय चक्र :–** अगला हृदय चक्र छाती के मध्य स्थित होता है। यह हृदय, थायमस ग्रंथि और रक्त संचार तंत्र को नियंत्रित और ऊर्जित करता है। अगले हृदय चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने से हृदय रक्त संचार तंत्र के रोग होते हैं। सौर जालिका चक्र भावना, तनाव और दबाव के प्रति बहुत संवेदनशील होता है और हृदय व अगले हृदय चक्र पर अधिक प्रभाव रखता है। सौर जालिका चक्र के ठीक तरह से कार्य न करने पर अगला हृदय चक्र एवं हृदय भी ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता। अगला हृदय चक्र कई बड़ी जीवद्रव्य नाड़ियों द्वारा सौर जालिका चक्र से जुड़ा रहता है। यह कुछ मात्रा में सौर जालिका चक्र से भी ऊर्जा प्राप्त करता है। हृदय रोग के व्यक्तियों में आमतौर पर सौर जालिका चक्र ठीक प्रकार से कार्य नहीं करता है।

   पिछला हृदय चक्र हृदय के पीछे स्थित होता है। यह मुख्य रूप से फेफड़ों को तथा कम मात्रा में हृदय व थायमस ग्रंथि को नियंत्रित व ऊर्जित करता है। पिछले हृदय चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर फेफड़ों के रोग जैसे दमा, क्षयरोग तथा अन्य बीमारियां होती है।

पिछले हृदय चक्र से हृदय को ऊर्जा पहुंचाई जाती है। अगले हृदय चक्र को ऊर्जित करने प्राणशक्ति एक जगह स्थिर हो सकती है और वह शरीर के अन्य हिस्सों में आसानी से नहीं फैलती। इस कारण हृदय पर प्राणशक्ति का घनापन बढ़ सकता है। इसलिए अगले हृदय चक्र को बहुत अधिक और लंबे समय तक ऊर्जित करने की सलाह नहीं दी जाती। अनुभवी

प्राणशक्ति उपचारक पिछले हृदय चक्र द्वारा ऊर्जा पहुंचाते हैं, जो हृदय पर जमा होने जैसी समस्या पैदा नहीं करते। अतिरिक्त प्राणशक्ति को आसानी से फेफड़ों और शरीर के अन्य भागों में वितरित किया जा सकता है। पिछले हृदय चक्र द्वारा पूरे शरीर को ऊर्जित किया जा सकता है।

8. **कंठ चक्र :–** यह चक्र कंठ के बीच में स्थित होता है जो थायराइड ग्रंथि, गला, पैराथायराइड ग्रंथियों और लिम्फेटिक तंत्र को नियंत्रित व ऊर्जित करता है। कुछ हद तक यह काम चक्र को भी प्रभावित करता है। कंठ चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर घेंघा, गले में खराश, आवाज बंद हो जाना, दमा आदि रोग तथा गले से संबंधित बीमारियां होती हैं।

   भृकुटि चक्र :– यह चक्र भौंह के बीच स्थित होता है। यह पीयूष ग्रंथि, अंतःस्रावी ग्रंथि को नियंत्रित व ऊर्जित करता है और एक सीमा तक मस्तिष्क को भी ऊर्जि करता है। इसे प्रधान चक्र भी कहा जाता है, क्योंकि यह अन्य सभी बड़े चक्रों और उनसे संबंधित अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा प्रमुख अंगों को निर्देशित व नियंत्रित करता है। यह आंख और नाक को भी प्रभावित करता है। इस चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर अंतःस्रावी ग्रंथियों से जुड़े रोग जैसे मधुमेह हो सकता है। इसके लिए न केवल सौर जालिका चक्र का उपचार करना जरूरी होता है जो अग्नाशय को नियंत्रित करता है, बल्कि इसके लिए भृकुटि चक्र को भी नियंत्रित करने की जरूरत होती हैं। इस चक्र को ऊर्जित करना पूरे शरीर को ऊर्जित करने के समान है।

9. **ललाट चक्र :–** यह चक्र ललाट यानि माथे के बीच स्थित होता है। यह 'पीनियल' ग्रंथि और तंत्रिका तंत्र को नियंत्रित व ऊर्जित करता है। इस चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर याददाश्त में कमी, लकवा और मिरगी जैसे रोग हो सकते हैं। इस चक्र को ऊर्जित करने से ब्रह्म चक्र की भांति एक के बाद दूसरे चक्र के माध्यम से पूरे शरीर में प्राणशक्ति का वितरण होता है।

10. **ब्रह्म चक्र :–** यह सिर के तालु पर स्थित होता है। यह 'पीनियल' ग्रंथि, मस्तिष्क और पूरे शरीर को नियंत्रित एवं ऊर्जित करता है। प्राणशक्ति के प्रवेश के लिए यह एक प्रमुख केन्द्र है। ब्रह्म चक्र को ऊर्जित करने पर इसका प्रभाव पूरे शरीर को ऊर्जित करने के समान होता है। यह कीप या 'फनल' में पानी डालने के समान है, जिससे पूरे शरीर में प्राणशक्ति प्रवाहित होकर बह जाती है। इसलिए कुछ उपचारक शरीर के किसी भी अंग में रोग होने पर वे सीधे ब्रह्म चक्र को ऊर्जित करते हैं। ब्रह्म चक्र के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर 'पीनियल' ग्रंथि ओर मस्तिष्क से जुड़े रोग (शारीरिक व मानसिक) हो सकते हैं।

इस प्रकार पूरे शरीर को ब्रह्म, ललाट, भृकुटि, पिछला हृदय, सौर जालिका, नाभि, प्लीहा, मूलाधार, हाथ और पैर के चक्रों द्वारा ऊर्जित किया जा सकता है। रोगग्रस्त अंग को सीधे ही या उसके नजदीकी चक्र द्वारा ऊर्जित किया जा सकता है। यह सभी चक्र शरीर की दैनिक प्रक्रियाओं को संचालित व समन्वित करते हैं।

14.4 प्रतिरोधक क्षमता

किसी रोग, विशेष तौर पर संक्रामक रोग के प्रति प्रतिरोधक शक्ति के होने अथवा संक्रामक रोग से बचने की क्षमता को प्रतिरोधक क्षमता कहते हैं। यह प्रतिरक्षा या इम्यूनिटी (Immunity) शरीर की एक विशिष्ट क्षमता है जिसके कारण ही हम जीवित रह

पाते हैं। इस क्षमता के न होने पर हमारा इस वातावरण में रह पाना अत्यंत कठिन है। संपूर्ण वातावरण में कई प्रकार के शत्रु एंव मित्र विषाणु घूमते रहते हैं, परंतु कई लोगों को वे विषाणु कष्ट पहुँचाते हैं एवं कई लोगों को नहीं पहुँचाते। इसका मुख्य कारण व्यक्ति की रोग क्षमता ही है। यदि रोग क्षमता या रोग प्रतिरोधक क्षमता अथवा प्रतिरक्षण मजबूत होती है तो वातावरण में व्याप्त रोग के जीवाणु या विषाणु हमें रोगी नहीं बना पाते हैं।

14.5 प्राण ऊर्जा एवं प्रतिरोधक क्षमता का संबंध :–

प्राण ऊर्जा एवं प्रतिरोधक क्षमता का संबंध सूक्ष्म होने के साथ साथ व्यापक भी है और पारस्परिक भी। प्राण ऊर्जा के कम होने की स्थिति में प्रतिरोधक क्षमता में अल्पता आना स्वाभाविक है और इसी प्रकार यदि किसी जीवाणु अथवा विषाणु द्वारा शरीर पर आक्रमण होता है तो प्रतिरोधक क्षमता में आंशिक कमी आती है जो कि परिणामस्वरूप प्राण ऊर्जा पर प्रभाव डालती है। जीवाणु या विषाणु की प्रबलता पर ही प्राण ऊर्जा का व्यय निर्भर करता है। अधिक प्रबल जीवाणु अथवा विषाणु को शरीर से निकालने के लिए अधिक प्राणशक्ति का व्यय होना स्वाभाविक है।

14.5.1 रोग पहले जीवद्रव्य शरीर में दिखाई देते हैं :– दिव्यदर्शी धारणा के अनुसार बीमारी को भौतिक शरीर में दिखाई देने से पहले ही जीवद्रव्य शरीर में देखा जा सकता है। दिव्यदर्शन न जानने वाले यह जाँच सकते हैं या महसूस कर सकते हैं कि रोगग्रस्त अंग की आंतरिक आभा सामान्य से छोटे या बड़े आकार की है।

उदाहरणत :– किसी व्यक्ति को सर्दी या खांसी होने से पहले जीवद्रव्य गले और फेफड़ों के पास प्राणशक्ति कम हो जाती है तो दिव्यदर्शन के अध्ययन से इसे भूरे रंग में देखा जा सकता है। इन क्षेत्रों की जांच से आंतरिक आभा में खोखलापन महसूस किया जा सकता है। अन्य उदाहरण के लिए जब किसी व्यक्ति को पीलिया होने वाला हो तक दिव्यदर्शन द्वारा यह देखा जा सकता है कि उस रोगी का सौर जालिका (सोलर प्लैक्सेस) और जिगर भूरे रंग के हैं। भौतिक परीक्षण व जांच करने से वह रोगी सामान्य और स्वस्थ्य दिखाई देगा। यदि इस रोगी का इलाज न किया गया तो बीमारी उसके दिखाई देने वाले भौतिक शरीर पर प्रकट हो जाएगी।

14.5.2 मनः कायिक रोगों की कार्य पद्धति :– क्रोध, भय, लंबे समय तक का चिड़चिड़ापन और कुंठा जैसे अनियंत्रित तथा दबाये गये या दमित आवेग व भावनाएं जीवद्रव्य शरीर पर अनचाहे शक्तिशाली प्रभाव डालते हैं। जैसे क्रोध और कुंठा से सौर जालिका चक्र और पेट के आसपास प्राणशक्ति की कमी पैदा होती है या सौर जालिका चक्र और अगले हृदय चक्र के आसपास प्राणशक्ति का घनापन बढ़ सकता है। पहले मामले में अपच या पतले दस्त हो सकते हैं। लंबे समय तक होने से यह अल्सर या पित्ताशय की समस्या में बदल सकता है। दूसरे मामले में हृदय से संबंधित अन्य कई रोग हो सकते हैं। यह देखा गया है कि नकारात्मक आवेग किसी रोगी में एक खास किस्म की बीमारियां पैदा करते हैं, लेकिन दूसरे रोगी में वही आवेग दूसरे प्रकार के रोगों को पैदा करते हैं।

क्रोध और बहुत अधिक डर पूरे जीवद्रव्य शरीर को कमजोर या ओजहीन बनाते हैं, जिससे शरीर हर किस्म की बीमारी को अपनाने लायक हो जाता है। नकारात्मक आवेगों से जीवद्रव्य शरीर में अस्थिरता आ जाती है, जिससे पूरा भौतिक शरीर रोगी हो जाता है। आपने यह महसूस किया होगा कि प्रबल गुस्से या कलह के बाद आपको शारीरिक थकान हो जाती है या आप बीमार पड़ जाते हैं। यह इसलिए होता है कि जीवद्रव्य शरीर और

दिखाई देने वाले भौतिक शरीर दोनों से प्राणशक्ति या ओजस्वी ऊर्जा निकल जाती है जिससे शरीर रोगों को आमंत्रित करने योग्य हो जाता है।

14.6 प्राण ऊर्जा द्वारा रोगोपचार :—

प्राण ऊर्जा द्वारा रोगोपचार की विधि के लिए सात चरणों का सैद्धांतिक व प्रायोगिक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। प्राण चिकित्सा इन्हीं सात चरणों पर आधारित है तथा इनका पालन रोगोपचार में महत्वपूर्ण है। यह सात चरण इस प्रकार हैं—

1. हाथों को संवेदनशील बनाना
2. आंतरिक आभा की जांच
3. झाड़ बुहार (सफाई) : सामान्य और स्थानीय
4. रोगी की ग्रहणशीलता को बढ़ाना
5. प्राणशक्ति द्वारा ऊर्जित करना : हाथ चक्र पद्धति
6. प्रक्षेपित प्राणशक्ति को स्थिर करना
7. प्रक्षेपित प्राणशक्ति को मुक्त करना।

1. हाथों को संवेदनशील बनाना :—

आभा के अवलोकन के लिए एक खास अवधि की जरूरत होती है। यह जानने के लिए कि रोगी के जीवद्रव्य शरीर का कौन सा भाग कमजोर या घना है—जीवद्रव्य ऊर्जा क्षेत्र या आंतरिक आभा को महसूस करने के लिए कम से कम अपने हाथों को संवेदनशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

दोनों हाथों के बीच तीन इंच की दूरी रखें। लगभग दस मिनट तक अपनी हथेली के बीच में ध्यान केन्द्रित करें। धीमी गति से सांस लें और छोड़ें। आप में से अधिकतर लोग एक गर्म, झुरझुरी संवेदना या कंपन महसूस करेंगे।

इस अभ्यास को नियमित रूप से करने पर हाथों की संवेदनशीलता बढ़ जाती है।

2. आंतरिक आभा की जाँच :—

आंतरिक आभा या जीवद्रव्य शरीर दिखाई देने वाले भौतिक शरीर को भेदकर बाहर की ओर लगभग चार से पाँच से इंच तक फैला रहता है। किसी रोग की अवस्था में यह शरीर या आंतरिक आभा सामान्य आकार से सिकुड़ जाती है। इसलिए इसकी जाँच आवश्यक है। जांच प्रक्रिया (स्कैनिंग) में आंतरिक आभा को जांचने से पहले बाहरी और स्वास्थ्य आभा के आकार—प्रकार को महसूस करने को सीखना सहायक होता है।

चूँकि बाहरी और स्वास्थ्य आभा आंतरिक आभा की अपेक्षा सूक्ष्म होती है, इसीलिए हाथों को और अधिक संवेदनशील बनाने के लिए यह प्रक्रिया की जाती है। इससे हमें बाहरी और स्वास्थ्य आभा के अस्तित्व का भी पता चलता है। आंतरिक आभा की जांच करके ही रोगग्रस्त क्षेत्रों का पता लगाया जा सकता है।

जब आप हाथ से जांच कर रहे हों तो हमेशा अपनी हथेलियों के बीच में ही ध्यान केंद्रित करें। हथेलियों के बीच ध्यान केंद्रित करने से हाथ चक्र को रोका या उत्तेजित किया जा सकता है, जिससे हाथ सूक्ष्म ऊर्जा या पदार्थ के प्रति संवेदनशील बनते हैं। ऐसा किये बिना आपको जांच प्रक्रिया में कठिनाई हो सकती है।

3. झाड़ बुहार (सफाई) : सामान्य और स्थानीय :—

झाड़—बुहार करना आम तौर पर सफाई की एक पद्धति है। इसका उपयोग आंतरिक प्राणशक्ति को ऊर्जित करने और उसे वितरित करने के लिए किया जाता है। जब पूरे

जीवद्रव्य शरीर की सफाई की जाती है, तो उसे सामान्य झाड़–बुहार करना कहा जाता है। जब शरीर के किसी खास अंग की सफाई की जाती है, तो उसे स्थानीय झाड़–बुहार कहा जाता है।

झाड़–बुहार करने के लिए हाथों का उपयोग किया जाता है। हाथों की दो स्थितियां होती हैं–एक कटोरीनुमा हाथों की स्थिति और दूसरी फैली या खुली अंगुलियों वाले हाथ की स्थिति। हाथ की इन दोनों स्थितियों का उपयोग एक के बाद एक किया जाता है। रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ को हटाने के लिए कटोरीनुमा हाथों की स्थिति बहुत उपयोगी होती है; जबकि स्वास्थ्य किरणों की उलझन को ठीक करने या उन्हें खोलकर अलग–अलग करने के लिए खुली अंगुलियों वाले हाथों की स्थिति बहुत प्रभावशाली होती है। कुछ गूढ़ विज्ञान के विद्यार्थियों द्वारा सामान्य झाड़–बुहार की प्रक्रिया को आभा मंडल की सफाई या उन्हें खोलकर अलग–अलग करने को कहा जाता है।

4. रोगी की ग्रहणशीलता बढ़ाना :–

यदि रोगी आराम से है और उपचार को अच्छी तरह ग्रहण करता है या कोई अधिक प्रतिरोध नहीं करता, तब उपचार करना आसान हो जाता है। यदि रोगी आराम से बैठा हो तो उसका शरीर बहुत प्राणशक्ति को ग्रहण कर सकता है। रोगी के शरीर में भेजी गई प्राणशक्ति निम्नलिखित कारणों से वापस हो सकती है : पहला, अगर इस प्रकार के उपचार के प्रति रोगी का झुकाव एकदम उल्टा या विपरीत हो; दूसरा, यदि रोगी उपचारक को पसंद न करता हो; और तीसरा, यदि रोगी ठीक नहीं होना चाहता हो।

इसलिए प्रतिरोध को कम करने के लिए रोगी के साथ तालमेल बैठाने की सलाह दी जाती है। तालमेल बैठाने के लिए रोगी को देखकर मुस्कुराना चाहिए। उसका अभिवादन करना चाहिए। शालीनता व भद्रता से पेश आना चाहिए। यदि रोगी प्राणिक हीलिंग के बारे में कुछ भी न जानता हो तो उपचारक को चाहिए कि वह रोगी को संक्षेप में और साफ–साफ प्राणशक्ति उपचार की प्रकृति के बारे में सब कुछ बताए।

यदि रोगी की ओर से अधिक प्रतिरोध हो, तो उससे इलाज के समय ग्रहणशील स्थिति में रहने का अनुरोध करें। रोगी से उसकी हथेलियां ऊपर उठाने और सिर को थोड़ा–सा नीचे की ओर झुकाने का निवेदन करें। रोगी से आँखें बंद कर लेने को कहें। इससे उसका प्रतिरोध कम होगा और उपचारक के लिए भी बहुत आसानी होगी।

अविश्वासी रोगी की ग्रहणशीलता बढ़ाने के लिए इलाज के समय मन में निम्नलिखित प्रतिज्ञापूर्ण वाक्यों को कई बार दोहराने के लिए कहें : ''मैं अपनी इच्छा से, पूरी तरह और आभारी होकर पूरी प्राणशक्ति ऊर्जा को स्वीकार करता हूं ... मुझे इसमें विश्वास है, इससे मुझे लाभ हो।''

या, जब रोगी को ऊर्जित किया जा रहा हो, तब उसे अपने शरीर और प्रभावित अंग को मन ही मन देखने के लिए कहें जो प्रकाश या प्राणशक्ति से भरा जा रहा है। या उससे यह महसूस करने के लिए कहें कि वह प्रकाश या प्राणशक्ति को अपने शरीर में खींच रहा है और अपने रोगग्रस्त अंग को उस प्रकाश से भरा रहा है। ऐसा करने से प्राणशक्ति को ग्रहण करने या आत्मसात करने की मात्रा में बहुत अधिक बढ़ोत्तरी होगी।

5. **प्राणशक्ति द्वारा ऊर्जित करना : हाथ चक्र पद्धति :–**जब किसी रोगी के जीवद्रव्य शरीर में प्राणशक्ति को भेजा जाता है, तब उपचारक को चाहिए कि वह अपने आसपास के वातावरण से वायु–प्राणशक्ति या वायुमंडल में फैली हुए वायु की ओज शक्ति को भी

लगातार प्राप्त करता रहे। इससे उपचारक में प्राणशक्ति खत्म नहीं होगी या पूरी तरह निकल नहीं जाएगी। यदि उपचारक में प्राणशक्ति खत्म हो जाए तो उसका शरीर रोगों को ग्रहण करने या संक्रमित होने योग्य हो जाएगा।

प्राण शक्ति को ग्रहण करने और शरीर में भेजने या प्रक्षेपित करने के कई रास्ते या ढंग हैं। सबसे सुरक्षित और आसान रास्ता हाथ चक्रों द्वारा भेजा जाना है। एक हाथ चक्र से वायु–प्राणशक्ति को ग्रहण किया जाता है और दूसरे हाथ से प्राणशक्ति या ओजस्वी ऊर्जा को रोगी के शरीर में भेजा जाता है। दाहिना और बायां–दोनों हाथ समान रूप से या तो प्राणशक्ति को तेज गति और क्रम से ग्रहण करता है और उसको बाहर निकालता भी है। प्राणशक्ति को ग्रहण करना हो या प्राणशक्ति को छोड़ने की बात हो, यह मुख्य रूप से संकल्प और इच्छा–शक्ति की बात है। आप चाहें तो दाहिने हाथ चक्र का प्रयोग प्राणशक्ति को छोड़ने या प्रक्षेपित करने के लिए और बायें हाथचक्र का इस्तेमाल प्राणशक्ति को ग्रहण करने के लिए कर सकते हैं। इसी प्रकार बायें हाथचक्र का प्रयोग प्राणशक्ति ग्रहण करने और दाहिने हाथ चक्र का इस्तेमाल प्राणशक्ति को छोड़ने या प्रक्षेपित करने के लिए कर सकते हैं। यह उपचारक की अपनी बात है कि वह किसे प्रमुखता देता है। दाहिने हाथ वाले उपचारक के लिए बायें हाथ–चक्र से प्राणशक्ति को ग्रहण करना और दाहिने हाथचक्र से प्राणशक्ति का प्रक्षेपण करना आसान होता है। बायें हाथ वाले उपचारक के लिए इसका उल्टा आसान होता है।

प्राणशक्ति को किसी एक हाथचक्र से ग्रहण किया जाता है और दूसरे हाथचक्र से निकाला या छोड़ा जाता है। अपना ध्यान या एकाग्रता हाथ चक्रों पर केंद्रित की जानी चाहिए (हथेली के बीच में) और साथ ही उस अंग पर भी जिसका इलाज किया जा रहा हो।

6. प्रक्षेपित प्राणशक्ति को स्थिर करना :–

प्राणिक हीलिंग में भेजी गई या प्रक्षेपित प्राणशक्ति की अस्थिरता एक बड़ी समस्या है। रोगी के शरीर में भेजी गई प्राणशक्ति धीरे–धीरे शरीर के बाहर निकल जाती है जिससे बीमारी दोबारा हो सकती है। यह सामान्य उपचार किए जाने वाले अंग की पूरी तरह सफाई करके या झाड़–बुहार करके और भेजी गई प्राणशक्ति को स्थिर करके दूर की जा सकती है।

प्रक्षेपित प्राणशक्ति दो तरह से स्थिर की जा सकती है :

1. ऊर्जित करने के बाद दृष्टिगत करें कि आप प्रभावित अंग को हल्के नीले रंग से रंग रहे हैं। यदि आप दृष्टिकरण (विज्युलाइजेशन) में कुशल नहीं हैं, तो हल्का नीला (तीन बार) कहते हुए रंग दें।
2. अपनी इच्छा और मन से भेजी गई प्राणशक्ति को वहीं जमें रहने या स्थिर रहने का निर्देश देकर।

7. प्रक्षेपित प्राणशक्ति ऊर्जा को मुक्त करना :–

हीलर ने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि वह जब किसी अजनबी का उपचार कर रहा होता है, तो उससे अलग होना आसान होता है। परंतु जब वह अपने बच्चों, रिश्तेदारों या मित्रों का इलाज करता है, तो अपने को उनसे अलग नहीं कर पाता। यह इसलिए होता है कि उपचारक की प्रवृत्ति अधिक लगाव या परिणाम प्राप्त करने में बहुत उतावलेपन की होती है, क्योंकि उसका रोगी के साथ भावनात्मक संबंध होता है। दिव्यदर्शी इस संबंध को एक ईथरीय या ऊर्जा डोर (प्रकाश डोर) के रूप में देखते हैं, जो उपचारक को रोगी के साथ बांधती है। इस डोर के कारण भेजी गई प्राणशक्ति में वापस उपचारक के पास लौट

आने के गुण होते हैं। इससे रोगी का उपचार तेजी से होने के बदले धीरे–धीरे होता है। इस गुण को दूर करने के लिए उपचारक को चाहिए कि वह ''काल्पनिक'' कैंची या चाकू को मन में आकार दे और उससे ईथरीय डोर या प्रकाश डोर को काटे।

साथ ही इलाज के तुरंत बाद ही रोगी के बारे में कुछ न सोचें, क्योंकि ऐसा करने से ईथरीय संबंध फिर से जुड़ सकते हैं। सामान्य परिस्थितियों में जब उपचारक शांत और अलग होता है, तब भेजी गई प्राणशक्ति मुक्त होती है और ईथरीय डोर अपने आप कट जाती है।

अभ्यास प्रश्न–

सही / गलत

1. जीवद्रव्य शरीर को सामान्य दृष्टि से देखा जा सकता है।
2. प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता में गहन संबंध है।
3. सभी पाँच कोशों में प्राण ऊर्जा व्याप्त होती है चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म।
4. प्लीहा चक्र पेट के दांयी ओर स्थित होता है।
5. ललाट चक्र 'पीनियल ग्रंथि' और तंत्रिका तंत्र को नियंत्रित व ऊर्जित करता है।

14.7 सारांश :–

प्राण ऊर्जा उच्चात्मा की मूर्त अभिव्यक्ति है जो शरीरगत विभिन्न ऊर्जा मार्गों या जीवद्रव्य नाड़ियों द्वारा प्रवाहित होती है। बिना प्राण के हम एक मृत प्रायः जीव के समान है जो न देख सकने में सक्षम है और न चलने–सुनने में। प्राण ऊर्जा अत्यंत सूक्ष्म है और आत्मिक शरीर में ही इसका अनुभव संभव है। चक्रों द्वारा भौतिक शरीर के विभिन्न अंगों को ऊर्जा प्राप्त होती है तथा शरीर में समस्थिति बनी रहती है। प्राण ऊर्जा का सीधा संबंध प्रतिरक्षा या प्रतिरोधक क्षमता से होता है। प्राण ऊर्जा के कम होने की अवस्था में शरीर कमजोर पड़ जाता है और प्रतिरोधक क्षमता में कमी आ जाती है। इसके परिणाम स्वरूप शरीर विभिन्न व्याधियों से आसानों से प्रभावित हो जाता है।

प्राण शक्ति उपचारक को प्राण शक्ति उपचार के सातों चरणों का भली–भाँति प्रयोग करना चाहिए जिससे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि हो तथा शरीर में भौतिक रूप से व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व ही उसकी चिकित्सा की जा सके।

14.8 शब्दावली

1. **दिव्यदर्शी** – अतीन्द्रिय शक्ति के अधिकारी
2. **किर्लियन फोटोग्राफी** – ऐसी फोटोग्राफी तकनीक जिससे अदृश्य सूक्ष्म पदार्थ अथवा जीवद्रव्य को देखा जा सकता है।

14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. गलत
2. सही
3. सही
4. गलत
5. सही

14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राणशक्ति उपचार–प्राचीन विज्ञान और कला, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।,
2. एडवांस्ड प्राणिक हीलिंग, मास्टर चो कोक् सुई, (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
3. प्राण प्राणायाम प्राण विद्या, स्वामी निरंजनानंद सरस्वती (2001), योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर।

14.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्राण ऊर्जा का अर्थ समझाते हुए प्राण चिकित्सा से संबंधित चक्रों का संक्षिप्त में वर्णन कीजिए।
2. प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता के संबंध पर प्रकाश डालिए।
3. प्राण ऊर्जा द्वारा रोगोपचार के सात चरणों की विवेचना कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी–
    - ऊर्जा केंद्र या चक्र
    - जीवद्रव्य शरीर

इकाई – 15 प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के उपाय

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 प्रतिरोधक क्षमता
    15.3.1 प्रतिरोधक क्षमता के प्रकार
    15.3.2 प्रतिरक्षा प्रणाली के अंग
15.4 जीवद्रव्य शरीर व उसके कार्य
    15.4.1 जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर का आंतरिक संबंध
15.5 रोग के आंतरिक व बाह्य कारक
15.6 प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के उपाय
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
15.11 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने जाना कि प्राण ऊर्जा के अंतर्गत जीवद्रव्य शरीर का क्या महत्व है। चक्र या ऊर्जा केन्द्रों द्वारा किस प्रकार कौन सा अंग प्रभावित होता है, यह आपने अध्ययन किया। प्राण ऊर्जा व प्रतिरोधक क्षमता का पारस्परिक संबंध होने के कारण यह एक दूसरे के पूरक हैं। प्राण ऊर्जा की कमी की अवस्था में प्रतिरोधक क्षमता स्वतः कम हो जाती है। प्राण ऊर्जा द्वारा किस प्रकार सात चरणों में रोगोपचार करना है – यह आपको ज्ञात हुआ।

प्रस्तुत इकाई में आप प्रतिरोधक क्षमता के विषय में विस्तारपूर्वक जानेंगे। इसके साथ–साथ जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर के संबंध को भली–भाँति समझ पायेंगे। रोग के आंतरिक व बाह्य कारक क्या–क्या है तथा किस प्रकार प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाया जाय – यह विस्तारपूर्वक समझ पायेगें।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे –

- कि प्रतिरोधक क्षमता क्या है।
- कि प्रतिरोधक क्षमता के कितने प्रकार हैं।
- कि प्रतिरोधक क्षमता से जुड़े कौन – कौन से शारीरिक अंग हैं।
- कि जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर में क्या संबंध है।
- कि जीवद्रव्य शरीर के क्या–क्या कार्य हैं।
- कि रोग के आंतरिक कारक क्या हैं।
- कि रोग के बाह्य कारक क्या हैं।
- कि किस प्रकार प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

15.3 प्रतिरोधक क्षमता

मानव शरीर अक्सर 'युद्ध की स्थिति' में वर्णित किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव शरीर लगातार ऐसे बाहरी तत्वों से लड़ता रहता है जो शरीर के लिये अहितकर हैं तथा शरीर को नुकसान पहुँचाने की कोशिश करते रहते हैं। इन बाहरी तत्वों में बैक्टीरिया (Bacteria), वाइरस (virus) टोक्सिन (Toxin), फफूंद (Fungi) व परजीवी (Parasite) शामिल हैं। यह तत्व अपने उत्पन्न होने की सही परिस्थिति में शरीर पर हमला कर शरीर को कमजोर बना देते हैं जिसके परिणामस्वरूप शरीर सही तरह से कार्य नहीं कर पाता है। अगर प्रतिरोधक क्षमता न हो तो शरीर पर इन तत्वों का हमला ही होता रहेगा और शरीर व उसके अंग विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाएगें। इसलिए प्रतिरोधक क्षमता का शरीर की समावस्था बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान है। रोग प्रतिरोधक क्षमता के विकास के लिए शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली एक ऐसी सेना का निर्माण करती है जो कि बाहरी हानिकारक तत्वों से हमारे शरीर की रक्षा कर सकें और शरीर की समावस्था (Homeostasis) को बनाए रख सके।

प्रतिरक्षा प्रणाली अत्यन्त जटिल प्रणाली है। यह ऐसे लाखों बाहरी तत्वों की पहचान कर सकती है जो शरीर को नुकसान पहुँचा सकते हैं और यह ऐसे स्राव एवं कोशिकाओं का भी निर्माण कर सकती है जो इन बाहरी तत्वों को शरीर से हटाने में कारगर सिद्ध हो और शरीर व शरीर के विभिन्न अंगों की रक्षा करें।

प्रतिरक्षा प्रणाली की सफलता का रहस्य एक व्यापक और गतिशील संचार प्रक्रिया है जिसमें लाखों कोशिकाएँ आपस में संगठित रहती है और एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक संदेश भेजती रहती हैं।

प्रतिरक्षा तंत्र की कोशिकाओं को जैसे ही किसी बाहरी तत्व के शरीर में घुसने की आहट होती है यह तुरंत ऐसे शक्तिशाली रसायनों का निर्माण करने लगती है जो कि उन तत्वों से लड़ने में सक्षम हों।

प्रतिरक्षा तंत्र की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता यह हैं कि यह शरीर की अपनी कोशिकाओं एवं बाहरी तत्वों के बीच भेद करने की क्षमता रखता है।

15.3.1 प्रतिरोधक क्षमता के प्रकार :–

रोग प्रतिरोधक क्षमता के मुख्यतः दो प्रकार है जिनका वर्णन निम्न है –

1. **सहज रोग प्रतिरोधक क्षमता** (Innate immunity) **:–**
    - सहज रोग प्रतिरोधक क्षमता (Innate immunity) जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जन्मजात होती है तथा सूक्ष्मजीवों के प्रति स्वतः ही सुरक्षा प्रदान करती है।
    - सहज रोग प्रतिरोधक क्षमता बाहरी तत्वों से लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहती है। इसके लिए उसे किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती है। जिस किसी तत्व से शरीर को क्षति पहुँच रही होती है उस पर यह तुरंत ही आक्रमण कर उसे नष्ट कर देती है।
    - सहज रोग प्रतिरोधक क्षमता के प्रमुख रक्षक वह अंग है जो सबसे पहले संक्रमण को शरीर में जाने से रोकते हैं। यदि यह अंग ऐसा कर पाते हैं तो शरीर के लिए रोग से लड़ना आसान हो जाता है।

2. **अर्जित रोग प्रतिरोधक क्षमता** (Acquired immunity) :—

- अर्जित रोग प्रतिरोधक क्षमता (Acquired immunity) जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश में उपरांत क्रियान्वित होती है। यह क्षमता जीवाणुओं को पहचानने के बाद ही अपना कार्य शुरू करती है। यह पहले से किसी भी प्रकार के जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए तैयार नहीं होती है। एक बार जीवाणुओं के प्रति प्रतिकिया करने के बाद अर्जित रोग प्रतिरोधक प्रणाली शरीर की रक्षा के लिए रक्षात्मक प्रतिक्रियाओं का निर्माण तीव्र गति से करने लगती है।
- सहज रोग प्रतिरोधक प्रणाली की अपेक्षा अर्जित रोग प्रतिरोधक प्रणाली को पहले यह जानना आवश्यक होता है कि किस तरह के जीवाणु ने शरीर पर आक्रमण किया है। सारे बाहरी तत्वों की सतह पर एक अलग सा पैटर्न होता है जिसकी वजह से अर्जित प्रतिरक्षा प्रणाली कोशिकायें उन्हें पहचान लेती है।
- इन पैटर्न से युक्त तत्वों को पहचानकर अर्जित प्रतिरक्षा प्रणाली उन्हें बाहरी घोषित कर उन पर आक्रमण कर देती है।
- जीवाणु से लड़ने के लिए आवश्यक तैयारी कर उस जीवाणु से किस प्रकार लड़ना है, इसकी एक अभिकल्प तैयार कर अर्जित रोग प्रतिरोधक प्रणाली उस जीवाणु पर आक्रमण कर देती है। इसमें थोड़ा समय लगता है क्योंकि यह विशिष्ट जीवाणु के लिए विशिष्ट अभिकल्प तैयार करती है।

इस प्रकार यह दोनों प्रकार की प्रतिरोधक क्षमताएँ शरीर की बाहरी जीवाणुओं से रक्षा करती है और हानिकारक कोशिकाओं और जीर्ण—शीर्ण कोशिकाओं को शरीर से निकाल कर शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करती हैं।

15.3.2 प्रतिरक्षा प्रणाली के अंग :— यदि रोग क्षमता या रोग प्रतिरोधक क्षमता अथवा प्रतिरक्षण मजबूत होती है तो वातावरण में व्याप्त रोग के जीवाणु या विषाणु हमें रोगी नहीं बना पाते हैं। चिकित्सा शास्त्र की वह शाखा जिसमें रोगों के प्रति रोग क्षमता या इम्यूनिटी का अध्ययन किया जाता है, रोग क्षमता विज्ञान या इम्यूनोलॉजी (Immunology) कहलाती है। प्रतिरक्षा तंत्र के अंतर्गत वे सभी अंग आते हैं, जो किसी न किसी रूप में शरीर की प्रतिरक्षा में सहायक होते हैं, वे अंग निम्नलिखित है —

- लसीका
- प्लीहा
- थाइमस ग्रंथि
- यकृत ग्रंथि

1. **लसीका (Lymph) :—**लसीका रक्त प्लाज्मा के समान स्वच्छ, पानी जैसा द्रव्य होता है, जिसका संगठन अंतरालीय द्रव्य (Interstitial fluid) के जैसा होता है, परंतु इसमें प्लाज्मा की अपेक्षा प्लाज्मा प्रोटीन्स की मात्रा कम रहती है। ऊतकों में चयापचय के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले कुछ व्यर्थ पदार्थ — कार्बन डाई ऑक्साइड, यूरिया आदि भी इसमें मिले रहते हैं। इसमें कोशिकाओं की पतली, छिद्रमय भित्तियों में प्रवेश करने वाली

श्वेत रक्त कोशिकायें जिन्हें ल्यूकोसाइट्स (Leucocytes) भी कहा जाता है, पाई जाती है। लसीका ग्रंथियों में उत्पन्न लिम्फोसाइट्स भी बड़ी लसीका वाहिकाओं में पायी जाती है।

लसीका पर्व अथवा लिम्फ नोड्स छलनी (filter) का कार्य करते हैं। इन नोड्स के द्वारा लसीका छन जाती है जिससे ये बाह्य हानिकारक पदार्थ एवं रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणु (microorganism) आदि को रोक लेती है।

लिम्फ नोड्स में लसीका कोशिकाओं (लिम्फोसाइट्स) विशेष रूप से बी–लिम्फोसाइट्स की उत्पत्ति होती है तथा इसमें वृहत्भक्षक कोशिकायें (macrophages) विद्यमान रहती है, जिनसे उत्पन्न एण्टीबॉडीज एवं एन्टीटॉक्सिन्स (antitoxins) द्वारा रोगोत्पादक जीवाणु आदि नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार लसीका पर्व (lymphnodes) रोगोत्पादन जीवाणु आदि को रक्त में जाने से रोक कर अथवा उन्हें नष्ट कर के संक्रमण को शरीर के अन्य भाग में फैलने से रोकते हैं।

2. प्लीहा (Spleen)

उदरीय गुहा में बाईं पसलियों के नीचे एवं आमाशय के बाहरी किनारे पर स्थित नलिकाविहीन ग्रंथि के रूप में कार्य करने वाला यह अंग प्रतिरक्षा तंत्र की एक मजबूत कड़ी है। प्लीहा का मुख्य कार्य रक्त को छानना (filter) एवं भक्षक कोशिकाओं – लिम्फोसाइट्स और मोनोसाइट्स का निर्माण करना है।

प्लीहा में उपस्थित प्रचुर मात्रा में विद्यमान भक्षक कोशिकायें (macrophages) रक्त से क्षय (damage) या मृत लाल कोशिकाओं को एवं रक्त प्लेटलेट्स, सूक्ष्म जीवाणुओं तथा अन्य कोशिकीय विजातियों को हटाने में सहायता प्रदान करती है।

भक्षक कोशिकायें जीर्ण लाल रक्त कोशिकाओं (R.B.C.) के हीमोग्लोबिन के आयरन (लौह तत्व) को भी हटाती है तथा अस्थि मज्जा (bone marrow) में लाल रक्त कोशिकाओं के उत्पादन के लिये इसे परिभ्रमण अथवा परिसंचरण में लौटा देती है। हीमोग्लोबिन (Hb) के टूटने से बिलिरूबिन पिगमेण्ट का उत्पादन होता है, जो यकृत में परिस

3. थाइमस ग्रंथि (Thymus Gland)

थाइमस ग्रंथि वक्षीय गुहा (thorasic cavity) में स्टर्नम के पीछे श्वास प्रणाल (trachea) के विभाजन के स्तर पर स्थित लसिकाभ ऊतक से निर्मित गुलाबी–भूरे रंग की एक नलिकाविहीन ग्रंथि है। भ्रूणावस्था में थाइमस ग्रंथि लिम्फोसाइट्स का निर्माण करती है तथा यह एण्टीबॉडीज बनाने में सहायता प्रदान करती है। जन्म के समय यह ग्रंथि बड़ी होती है और लगभग 12 से 15 ग्राम तक पायी गई है। युवावस्था में यह मात्र सूत्र के समान रह जाती है।

नवजात शिशु में यह ग्रंथि एण्टीबॉडीज बनाती है तथा रोग क्षमता या इम्यूनिटी संस्थान के प्रारंभिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह मुख्यतः टी–कोशिकाओं का निर्माण करती है जो कि इम्यूनिटी (रोगक्षमता) बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4. यकृत (Liver)

यकृत शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि है। यह उदर गुहा के ऊपरी दाहिने भाग में स्थित होता है। प्रतिरक्षा तंत्र में सम्मिलित यह अंग रक्त की मृत लाल कोशिकाओं को रक्त से अलग कर लेता है एवं हिमेटिन नामक लौह तत्व को संचित कर लेता है। यकृत औषधियों एवं

विषैले पदार्थों का निर्विषीकरण (detoxification) कर शरीर की रक्षा करता है। यह शरीर का तापक्रम बनाये रखता है जो कि उपापचय अथवा चयापचय के लिये अति आवश्यक तथ्य है। इस प्रकार प्रतिरक्षा प्रणाली के अंग शरीर को समुचित रूप से सुरक्षा करते हैं व शरीर के प्रत्येक अंग की कार्य प्रणाली में समानता व स्थिरता बनाए रखते हैं और दुष्प्रभावपूर्ण बाहरी तत्वों से शरीर की रक्षा करते हैं।

15.4 जीव द्रव्य शरीर व उसके कार्य :–

जीवद्रव्य शरीर दिखाई देने वाले भौतिक शरीर को भेदकर बाहर की ओर लगभग चार से पांच इंच तक फैला रहता है। यह अदृश्य चमकदार ऊर्जा क्षेत्र दिखाई देने वाले भौतिक शरीर के आकार में ही होता है। यह आंतरिक आभा या आभा मंडल कहलाता है। जब जीवद्रव्य शरीर बीमार हो जाता है, तब जीवद्रव्य शरीर की प्राणशक्ति में किसी विशेष जगह या पूरी जगह पर आंशिक रूप से कमी हो जाती है। इस स्थिति को प्राणशक्ति की कमी होना कहा जाता है। पीड़ित अंग के पास की आंतरिक आभा दो इंच या उससे कम आकार में सिकुड़ जाती है।

उदाहरण के लिए नजदीक की वस्तुएं न देख पाने वाले व्यक्ति की आंखों के आसपास की प्राणशक्ति कम होती है। उसके आंखों के पास की आंतरिक आभा दो इंच तक छोटी हो सकती है। कुछ मामलों में ऐसा भी पाया जाता है कि आंखें प्राणशक्ति की कमी के साथ–साथ प्राण शक्ति घनी भी हो जाने से पीड़ित हो सकती हैं। बीमारी जितनी अधिक होगी, प्रभावित आंतरिक आभा उतनी ही छोटी होगी। कुछ मामलों में प्रभावित आंतरिक आभा आधा इंच या उससे कम आकार तक घनी हो जाती है। बे समय तक किसी विशेष स्थान या स्थानों में अधिक मात्रा में प्राणशक्ति होने के कारण भी बीमारी होती है। यह स्थिति प्राणशक्ति का घनापन या संकुचन होना कहलाती है। पीड़ित क्षेत्र में आंतरिक आभा सात इंच से अधिक तक उभर जाती या फूल जाती हैं अत्याधिक पीड़ित व्यक्तियों में तो आंतरिक आभा ढाई फीट तक या अधिक उभर जाती है। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति का हृदय बढ़ जाता है, उनमें प्राण शक्ति का घनापन हृदय, बायें कंधे, बांयी ऊपरी भुजा के चारों ओर होता है। इस स्थिति में प्रभावित क्षेत्र की आंतरिक आभा एक फीट तक मोटी हो सकती है।प्राण शक्ति की कमी या घनी होने के कारण चारों ओर फैले जीवद्रव्य शरीर की नाड़ियां या नलिकाएं आंशिक रूप से या अधिक रूप से अवरूद्ध हो जाती हैं। इस कारण प्राणशक्ति प्रभावित अंग के चारों ओर अंदर या बाहर की ओर आराम से आ–जा नहीं सकती। दिव्यदर्शियों के अनुसार ये प्रभावित क्षेत्र हल्के भूरे से गहरे भूरे–रंग तक के दिखाई देते हैं। यदि प्रभावित अंग में जलन हो तो इसका रंग मटमैला लाल होता है; कैंसर रोग में मटमैला पीला; एपेंडिसाइटिस में मटमैला हरा; और कान की कुछ बीमारियों में इसका रंग मटमैला संतरे का–सा होता है।

दिखाई देने वाले भौतिक शरीर की सतह से जीवद्रव्य किरणें सीधी, खड़े रूप में निकलती हैं, ये किरणें स्वास्थ्य किरणें कहलाती हैं, जो आंतरिक आभा को भेदकर (पार कर) बाहर आती हैं। इन स्वास्थ्य किरणों का पुंज स्वास्थ्य आभा या स्वास्थ्य किरणें कहलाता है। ये स्वास्थ्य किरणें दिखाई देने वाले भौतिक शरीर के आकार में होती हैं और आसपास फैले कीटाणुओं और रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थों को रोकने के लिए एक सुरक्षित आवरण के रूप में कार्य करती हैं। जैविक विष (जहरीली वस्तुएं), व्यर्थ पदार्थ, कीटाणु और रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थों को स्वास्थ्य किरणें छोटे–छोटे छेदों द्वारा लगातार बाहर फेंकती हैं। यदि

व्यक्ति बीमार हो तो स्वास्थ्य किरणें भी कमजोरी से थोड़ी–सी नीचे की ओर लटक जाती हैं और पूरा शरीर रोगों से संक्रमित होने योग्य हो जाता है। जैविक विष, व्यर्थ पदार्थ, कीटाणु और रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ को शरीर से दूर रखने की स्वास्थ्य किरणों की क्षमता में भी कमी आ जाती है। स्वास्थ्य किरणों को फिर से ताकतवर और कठोर बनाकर उपचार की शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

स्वास्थ्य आभा या आंतरिक आभा के चारों ओर एक और चमकदार ऊर्जा क्षेत्र होता है, जिसे बाहरी आभा कहते हैं। यह आंतरिक और स्वास्थ्य आभा को भेदकर बाहर निकली होती है और दिखाई देने वाले भौतिक शरीर से आमतौर पर लगभग एक मीटर दूर तक फैली होती है। सामान्यतः यह रंगीन और उल्टे अंडे के आकार की होती है। इसका रंग व्यक्ति की भौतिक, भावनात्मक और मानसिक दशा से प्रभावित होता है। दिव्यदर्शियों के अनुसार बीमार व्यक्तियों की बाहरी आभा में कुछ छेद होते हैं, जिनसे प्राणशक्ति रिसती रहती है। इसलिए बाहरी आभा को एक ऐसा शक्ति क्षेत्र माना जा सकता है, जो प्राणशक्ति के रिसाव को रोकने या इसे जमा रखने का कार्य करता है। यानि यह आवश्यक सूक्ष्म ऊर्जा के लिए एक डिब्बे या कवच का कार्य करता है।

संक्षिप्त में जीवद्रव्य शरीर के कार्य का उल्लेख इस प्रकार है –

1. यह प्राणशक्ति को सोखकर संपूर्ण शरीर में उसका वितरण कर उसे ऊर्जित करता है। प्राणशक्ति वह ओजस्वी ऊर्जा या जीवन–शक्ति है, जो पूरे शरीर का पोषण करती है। ऐसा होने पर शरीर अपने विभिन्न अंगों की मदद से ठीक प्रकार से तथा सामान्य ढंग से कार्य कर सकता है। प्राणशक्ति के बिना शरीर मृत हो जाता है।
2. यह दिखाई देने वाले भौतिक शरीर के सांचे या उसकी अनुकृति की तरह होता है। वर्षों की लगातार चयापचयन (मेटाबोलिज्म) की प्रक्रिया के बावजूद यह दिखाई देने वाले भौतिक शरीर के आकार–प्रकार और बनावट को बनाये रखने में सहायता देता है। ठीक प्रकार से कहा जाए तो दिखाई देने वाले शरीर के अनुरूप ही जीवद्रव्य शरीर का निर्माण एक सांचे की तरह होता है। यदि जीवद्रव्य शरीर में कुछ गड़बड़ हो तो दिखाई देने वाले भौतिक शरीर में भी गड़बड़ी होगी। इन दोनों का आपस में इतना अधिक गहरा संबंध होता है कि जो चीज एक को प्रभावित करती है, वह दूसरे को भी प्रभावित करती है। यदि पहला बीमार होता है, तो दूसरा भी रोगग्रस्त हो जाता है। यदि पहला रोगमुक्त होता है, तो दूसरा भी निरोगी हो जाता है। कोई बाधा पहुंचाने वाले या रूकावट डालने वाले तत्व न हों तो यह प्रक्रिया धीरे–धीरे या लगभग जल्दी ही पूरी होती है।
3. जीवद्रव्य शरीर चक्रों या तेजी से घूमने वाले ऊर्जा केन्द्रों की सहायता से संपूर्ण भौतिक शरीर और उसके विभिन्न भागों व अंगों के ठीक प्रकार से कार्य करने के लिए उत्तरदायी होता है और उन्हें नियंत्रित करता है। इसमें वे अंतःस्रावी ग्रंथियां भी सम्मिलित हैं, जो कुछ बड़े चक्रों की बाहरी अभिव्यक्ति हैं। बहुत से रोग आंशिक रूप से किसी एक या अधिक चक्रों के ठीक प्रकार से कार्य न करने के कारण होते हैं।
4. जीवद्रव्य शरीर अपनी स्वास्थ्य किरणों व स्वास्थ्य आभा द्वारा रोगाणुओं और रोगग्रस्त जीवद्रव्य पदार्थ से बचने के लिए एक सुरक्षित आवरण का कार्य करता है।

प्रदूषक, बेकार कचरा और रोगाणुओं को स्वास्थ्य किरणों द्वारा बारीक छेदों के माध्यम से बाहर निकालकर पूरे भौतिक शरीर को साफ रखा जाता है।

इस प्रकार जीवद्रव्य शरीर प्रतिरोधक क्षमता का विकास कर एक कवच का कार्य करता है क्योंकि यह अंगों के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए उत्तरदायी होता है।

15.4.1 जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर का आंतरिक संबंध :– जीवद्रव्य शरीर और दिखाई देने वाले भौतिक शरीर दोनों का आपसी संबंध इतना अधिक होता है कि यदि एक को कुछ हो जाए तो दूसरा भी उससे प्रभावित हो जाता है। जैसे यदि जीवद्रव्य शरीर का गला कमजोर हो तो इसका प्रभाव भौतिक शरीर पर खांसी, सर्दी, गले में खराश, टॉन्सिलिटीस, या गले की अन्य बीमारियों के रूप में पड़ता है। किसी दुर्घटना में यदि किसी की चमड़ी छिल जाए तो जहां से खून बह रहा होता है, वहां से प्राणशक्ति का रिसाव होता है। शुरू में जिस स्थान की चमड़ी कट गई हो या मोच आ गई हो, वह स्थान कुछ समय के लिए प्राणशक्ति के रिसाव के कारण चमकीला हो जाता है। प्राणशक्ति के घने होने या उसमें कमी होने से यदि जीवद्रव्य शरीर कमजोर हो जाता है, तो भौतिक शरीर या तो ठीक से काम नहीं कर सकेगा या फिर बीमारियों को ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाएगी। उदाहरण के लिए कमजोर सौर जालिका (सोलार प्लैक्सेस) और जिगर का प्रभाव पीलिया या यकृत शोथ रोग के रूप में हो सकता है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जीवद्रव्य शरीर के उपचार की प्रक्रिया में ही भौतिक शरीर का भी उपचार हो जाता है। प्राणशक्ति से आंखों को लगातार साफ करने और ऊर्जित करते रहने से नजदीक से न देख सकने की समस्या से धीरे – धीरे छुटकारा पाया जा सकता है। हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति का एक या दो बार में पीड़ित हृदय, कंधे और ऊपरी बायीं भुजा के आसपास की प्राणशक्ति का घनत्व कम करके उपचार किया जा सकता है। पूरी तरह उपचार होने के लिए कई माह लग सकते हैं। सिर के आसपास के क्षेत्र को अधिक ऊर्जा देकर और प्राणशक्ति के घनत्व को कम करके कुछ ही मिनटों में सिरदर्द दूर किया जा सकता है।

15.5 रोग के आंतरिक व बाह्य कारक :–

रोगों की जानकारी प्राप्त करते समय बाहरी व आंतरिक कारकों या दिखाई देने वाले और दिखाई न देने वाले कारणों की ओर भी ध्यान देना जरूरी होता है। बाहरी कारक वे होते हैं, जो रोग पर अपना सीधा प्रभाव डालते हैं जैसे जीवाणु, कुपोषण, जैव विष, प्रदूषण, कसरत न करना, गलत ढंग से सांस लेने की आदत, पानी कम पीना आदि। आंतरिक कारक यानी आवेश और जीवद्रव्य शरीर कारक जैसे नकारात्मक आवेश, अवरूद्ध शिरोबिन्दु, प्राणशक्ति की कमी और घनापन, चक्रों का ठीक प्रकार से काम न करना आदि आंतरिक कारण रोग में सहायता देते हैं।

जैसा कि उदाहरण के लिए आवेशात्मक कारक से जिगर को नियंत्रित करने वाला सौर जालिका चक्र कमजोर हो सकता है और वायरस के आक्रमण से जिगर में दर्द पैदा हो सकता है। यहां वायरस बाहरी कारक है। नकारात्मक आवेश और सौर जालिका चक्र व जिगर में कमजोरी आंतरिक कारक हैं, जो जिगर को वायरस से संक्रमित होने योग्य बनाते हैं।यदि किसी व्यक्ति का सौर जालिका चक्र और जिगर अच्छी अवस्था में है और उसमें ओजस्विता भी अधिक हो तो इसमें रोग होने की संभावना कम होती है। उसके शरीर की

प्रतिरोधी क्षमता या विषाणुरहित बनाने की ताकत और निराकरण का तंत्र वायरस या अन्य विषाक्त वस्तुओं से छुटकारा पा सकता है। प्राणिक हीलिंग उपचार द्वारा सौर जालिका चक्र और जिगर को साफ करके और उन्हें शक्ति देकर फिर से सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है। इस प्रक्रियाको दवा द्वारा या बिना दवाई के किया जा सकता है।

नीचे बताई गई परिस्थितियों में रोग पैदा हो सकते हैं :

1. बाहरी व भीतरी कारकों की उपस्थिति।
2. केवल आंतरिक कारकों की अत्यधिक उपस्थिति होने पर। जैसे यदि किसी व्यक्ति में बहुत अधिक गुस्सा और कुंइा हो तो उसके सौर जालिका चक्र के चारों ओर प्राणशक्ति का घनापन छा जाएगा। यदि गुस्सा व कुंठा अधिक समय तक हो तो हृदय के आसपास भी यह घनापन बढ़ जाएगा। यदि वह अपने भोजन पर भी ध्यान नहीं देता है तो भी उसे हृदय का बढ़ जाना जैसा हृदय रोग हो सकते हैं। इसी तरह लगातार के तनाव और दबाव से आंखों के चारों ओर प्राणशक्ति का घनापन उत्पन्न हो सकता है, जो लंबे समय तक रहने पर 'ग्लाकोमा' रोग में बदल सकता है। (नोटः सभी 'ग्लाकोमा' रोग आवेश के परिणाम नहीं होते)
3. अत्याधिक रूप से केवल बाहरी कारकों के उपस्थित होने पर। जैसे आपका जीवद्रव्य शरीर चाहे कितना ही पूर्ण या आदर्श स्थिति में क्यों न हो, यदि जहर की अत्यधिक मात्रा खायी जाए तो उससे खतरा अवश्य ही होगा। गलत ढंग से पढ़ने की आदत से भी आंखें खराब हो सकती हैं।

15.6 प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के उपाय :–

जब रोग जीवद्रव्य शरीर में ही हो और उसके लक्षण दिखाई देने वाले भौतिक शरीर पर न प्रकट हुए हों तो रोग का उपचार आसानी से और तेजी से किया जा सकता है। समुचित दवाई लेकर बीमारी लेकर बीमारी को उभरने से रोका जा सकता है। जिस स्थान पर रोग दिखाई देने लगे, वहां पर जितना जल्दी हो सके, उतनी जल्दी उपचार की प्रक्रिया करनी चाहिए। जितनी जल्दी प्राणशक्ति उपचार (प्राणिक हीलिंग) किया जाए, उतनी ही तेजी से उपचार भी होता है। यदि रोग पूरी तरह से विकसित हो चुका हो तो उपचार करने में अधिक समय लगता है, क्योंकि इसके लिए अधिक समय और अधिक प्राणशक्ति की जरूरत होती है। तेजी से ठीक होने के लिए यह आवश्यक है कि रोग का इलाज जितनी जल्दी हो, किया जाए।

खराब मौसम के कारण कुछ व्यक्ति न केवल बदलते तापमान से बीमार पड़ते हैं, बल्कि सौर और वायु प्राणशक्ति (ओजस्वी ऊर्जा) में कमी के कारण भी बीमार पड़ते हैं। इस कारण अधिकतर व्यक्ति मानसिक व शारीरिक रूप से सुस्त दिखाई देते हैं या संक्रामक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। इससे बचने के लिए वायुमंडल ओर भूमि से लगातार प्राणशक्ति प्राप्त करते रहना चाहिए।

शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और रक्षात्मक तंत्र मुख्यतः लसिका तंत्र व कंकाल तंत्र के द्वारा नियंत्रित होता है। इसमें से कंकाल तंत्र या अस्थि तंत्र मूलाधार चक्र द्वारा नियंत्रित व ऊर्जित होता है और लसिका तंत्र का नियंत्रण व ऊर्जन कंठ चक्र द्वारा होता है।

मूलाधार चक्र का मुख्य कार्य मांसपेशियों और अस्थि तंत्र, रीढ़ की हड्डी, साफ रक्त का निर्माण, अधिवृक्क ग्रंथियों, शरीर के ऊतक और आंतरिक अंगों को नियंत्रित करना व ऊर्जा देना है। इस चक्र के गलत ढंग से कार्य करने पर प्रतिरोधक क्षमता में कमी आ सकती है

व शरीर बाहरी रोगों के प्रति संवेदनशील हो जाता है। इसलिए मूलाधार या मूल चक्र को नियमित रूप से साफ व ऊर्जित करना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप शरीर में प्रतिरोधक क्षमता का विकास बना रहे और शरीर स्वस्थ व हृष्ट–पुष्ट बना रहे।

कहा जाता है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है' क्योंकि यदि शरीर ही स्वस्थ अनुभव नहीं करेगा तो मन भी प्रफुल्लित नहीं महसूस करेगा। मन के स्वस्थ न रहने पर किसी भी कार्य में अरूचि होने की संभावना अधिक रहती है इसलिए शरीर को स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है।

इसी प्रकार सौर जालिका चक्र, जो कि निम्न भावनाओं का केन्द्र है, शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को काफी हद तक प्रभावित करता है। सौर जालिका चक्र का मुख्य कार्य रक्त के गुण को प्रभावित करना है क्यों कि यह यकृत को नियंत्रित और ऊर्जित करना है तो कि रक्त में घुले हुए दूसरे दूषित पदार्थों को साफ करता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया है कि यकृत प्रतिरक्षा तंत्र का प्रमुख अंग है और इसका प्रतिरोधक क्षमता व शारीरिक समावस्था बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान है।

सौर जालिका चक्र अगर सही ढंग से कार्य न करें तो शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ना निश्चित है। निम्न भावनाओं का केंद्र होने के फलस्वरूप अगर अधिक मात्रा में इन नकारात्मक भावनाओं का स्तर मन में बढ़ जाता है तो बाकी चक्रों का स्तर सामान्य से गड़बड़ा जाता है और शरीर विभिन्न रोगों के प्रति संवेदनशील हो जाता है। इसलिए सौर जालिका चक्र को नियमित रूप से साफ व ऊर्जित करना अत्यंत आवश्यक है।

कंठ चक्र का शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता को बनाए रखने में बहुत महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि यह चक्र लसिका तंत्र व उसकी ग्रंथियों को नियंत्रित व ऊर्जित करता है और जैसा कि हम जानते हैं कि लसिका तंत्र प्रतिरक्षा तंत्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। लसिका तंत्र का मुख्य कार्य श्वेत रक्त कण के एक प्रकार, जिन्हें लिम्फोसाइट्स (Lymphocytes) कहते हैं, का निर्माण करना है जो कि शरीर में प्रवेश करने वाले हानिकारक व मित्र जीवाणुओं को पहचान कर उन्हें अलग करता है। लिम्फोसाइट्स (Lymphocytes) रोगोत्पादक जीवाणुओं को नष्ट कर उन्हें रक्त के माध्यम से शरीर के अन्य भाग में फैलने से रोकते हैं।

लसिका तंत्र की तरह थाइमस ग्रंथि भी कंठ चक्र के द्वारा ही नियंत्रित व ऊर्जित होती है। थाइमस ग्रंथि द्वारा टी–लिम्फोसाइट्स (T-Lymphocytes) अथवा टी–कोशिकाओं (T - Cells) का उत्पादन होता है जो कि बाहरी जीवाणुओं, रोगाणुओं, फफूंद, परजीवी, कैंसर कोशिकाओं व प्रतिरोपित, संक्रामक ऊतकों व कोशिकाओं से शरीर का बचाव करते हैं और प्रतिरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

प्लीहा चक्र प्लीहा को नियंत्रित व ऊर्जित करता है। प्लीहा उन सभी जीवाणुओं, विषाणुओं आदि को शरीर से छानकर अलग करती है जो शरीर को हानि पहुंचा सकते हैं।

इस प्रकार इन सभी चक्रों को नियमित रूप से साफ व ऊर्जित करने से शरीर में प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है और बाहर के हानिकारक तत्वों का शरीर पर आक्रमण कम होता है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इन चक्रों का उपचार उन्नत प्राण चिकित्सक द्वारा ही होना चाहिए, ताकि पूर्ण रूप से चिकित्सा हो सके।

अभ्यास प्रश्न

सही / गलत

1. रोग प्रतिरोधक क्षमता – सहज और ऊर्जित दो प्रकार की होती है।

2. प्लीहा का मुख्य कार्य रक्त छानना एवं भक्षक कोशिकाओं का निर्माण करना है।
3. अस्थि तंत्र कंठ चक्र द्वारा नियंत्रित व ऊर्जित होता है।
4. सौर जालिका चक्र उच्च सकारात्मक भावनाओं का केन्द्र है।
5. यकृत शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि हैं।

15.7 सारांश

प्रतिरोधक क्षमता शरीर की रक्षा तंत्र है जिसके द्वारा शरीर पर हानिकारक तत्वों के आक्रमण को प्रभावहीन करा जा सकता है। प्राण चिकित्सा द्वारा प्रतिरक्षा तंत्र से जुड़े विभिन्न अंगों की नियमित सफाई व ऊर्जन करने से व उन अंगों से जुड़े सभी मुख्य चक्रों को समावस्था में रखने से प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

रोग पहले जीवद्रव्य शरीर में दिखाई पड़ता है और यदि तभी इसकी चिकित्सा हो जाए तो रोग भौतिक शरीर में उत्पन्न ही नहीं होता। प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने से शरीर में रोग की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होगी क्योंकि शरीर स्वंय उसकी चिकित्सा रोग परिलक्षित होने से पहले ही कर लेगा। और इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है।

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सही
2. सही
3. गलत
4. गलत
5. सही

15.9 संदर्भ ग्रंथ सूची :—

1. प्राणशक्ति उपचार – प्राचीन विज्ञान और कला, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
2. एडवांस्ड प्राणिक हीलिंग, मास्टर चो कोक् सुई (2006), ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग फाउन्डेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली।
3. मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान, प्रो. अनन्त प्रकाश गुप्ता (2010), सुमित प्रकाशन, आगरा।

15.10 निबंधात्मक प्रश्न :—

1. प्रतिरोधक क्षमता को समझाते हुए प्रतिरक्षा प्रणाली के अंगों पर प्रकाश डालिए।
2. जीवद्रव्य शरीर और भौतिक शरीर के आंतरिक संबंध पर विवेचना करें।
3. प्रतिरोधक क्षमता के विकास में प्राण चिकित्सा की भूमिका स्पष्ट करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणी :—
    - प्रतिरोधक क्षमता के प्रकार।
    - रोग के आंतरिक व बाह्य कारक।

इकाई–16 अभ्यंग चिकित्सा का अर्थ, परिभाषा, सिद्धान्त व उपयोग

16.1. प्रस्तावना
16.2. उद्देश्य
16.3. अभ्यंग चिकित्सा का अर्थ
16.3.1 अभ्यंग चिकित्सा की परिभाषा
16.3.2 अभ्यंग चिकित्सा के सिद्धान्त
16.3.3 अभ्यंग चिकित्सा की उपयोगिता
16.4. अभ्यंग चिकित्सा का बाल्य जीवन पर उपयोग
16.4.1 अभ्यंग चिकित्सा का शारीरिक प्रभाव
16.4.2 अभ्यंग चिकित्सा के गुण
16.5 सारांश
16.6 शब्दावली
16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
16.9. सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री
16.10 निबंधात्मक प्रश्न

16.1. प्रस्तावना

इस बात को हम सभी जानते है कि हमारा भारत ही व देश है जो प्राचीनतम अनेकानेक गूढ़ विधाओं का स्वास्थ्य वर्धक कई पद्धतियों का धुव्र केन्द्र है।

आप सभी जानते है कि आज नवीनतम रूप मे जो फल–फूल रहा है वह की न कही प्राचीन से सम्बद्ध है, जैसे वर्तमान की अभ्यंग चिकित्सा (Massage) का विज्ञान उतना ही पुराना है जितना कि एक मॉ जबसे अपने बच्चे को थपक देकर सुलाती है। हर वर्ग में अभ्यंग का प्रचलन है, मल्ल शिक्षण कार्य मे इसका उपयोग शरीर के सुगंठन और निर्माण के लिए होता आया है। इस बात को तो आप जानते है कि जो बॉडी बिल्डर होते है वे अपने शरीर के अभ्यंग पर अर्थात् मालिश पर विशेष घ्यान देते है। मालिश सम्बन्धी कई विधाओ का हमारे प्राचीन ग्रंथो मे विशद वर्णन मिलता है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों मे मालिश चिकित्सा का अत्यधिक महत्व बताया गया है।

जिस प्रकार प्रतिदिन का भोजन व दैनिक क्रियाएं हमारे जीवन के लिए आवश्यक है उसी प्रकार स्वस्थ्य शरीर के लिए अभ्यंग भी आवश्यक है यह हमारे सौन्दर्य की वृद्धि करता है तथ रोगो का सफल उपचार भी होता है किसी न किसी रूप में प्रकृति स्वयं मालिश करने की प्रेरणा देती है क्योंकि की पर, पीड़ा होने पर हमारा हाथ उस स्थान को स्वतः दबाने लगता है। उस स्थान पर स्वतः एक प्राथमिक चिकित्सा होने लगती है यह क्रिया पीड़ा में होने वाले उपचार का ही संकेत है।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि किसी न किसी रूप में यह आदि काल से ही चला आ रहा है। परम्परा से आते–आते यह चिकित्सा सम्बन्धी गुणों, उपचार के क्षेत्र मं आया इसका

भी ठीक–ठीक पता नही पता रोम, यूनान आदि देशों के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वहाँ पर सौन्दर्य बढ़ाने के लिए महिलाओं अभ्यंग चिकित्सा का प्रयोग करती थी अध्ययन से पता चलता है कि आज से 1000 वर्ष पूर्व अफ्रीका की कुछ जातिंया शरीर में रक्त शुद्धि के लिए मालिश का प्रयोग करती थी।
प्राचीन इतिहास से यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम कैप्टन कुक ने पाश्चात्य देशों को मालिश के अद्यौगिक गुणों का ज्ञान कराया था। इसके पश्चात लगभग 1860 ई0 में डाक्टर स्काट ने मर्दन क्रिया पर, पेरिस नगर मे एक ऐसा भाषण दिया कि सभी चिकित्सकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया।

16.2. उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई मे आप–

- अभ्यंग चिकित्सा के अर्थ व परिभाषा को जान सकेंगे।
- इसमें आप इस चिकित्सा के सिद्धान्तो से परिचित होगें।
- अभ्यंग की उपयोगिता को समझ सकेगे।
- आप जान सकेगे कि अभ्यंग का बाल्यकाल मे क्या प्रभाव पड़ता है।
- जिस प्रकार एक कुशल वैद्य में उपचार के गुण समाहित होते है उसी प्रकार एक मालिश के गुणों से आप परिचित होगें।

16.3. अभ्यंग चिकित्सा का अर्थ–

अभ्यंग चिकित्सा एक प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति है, जिसके द्वारा शारीरिक व मानसिक कष्टो को दूर किया जा सकता है। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त व कफ का संतुलन होना शरीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अभ्यंग के द्वारा इनकी स्थिति को सम बनाया जा सकता है।
अभ्यंग अर्थात् मालिश यह शब्द अतिसामान्य और प्रचलित शब्द है, इस विषय में सभी लोग परिचित है लेकिन वैज्ञानिक रूप से इस मालिश शब्द को समझना इसके उपयोग की जानकारी होना आवश्यक है।
यह मालिश अर्थात् अभ्यंग चिकित्सा कष्ट निवारक है, शारीरिक अंगो को स्वभाविक स्वरूप देती है। ऊतको मे ऊर्जा लाती है तथा आन्तरिक अंगो को संरक्षण प्रदान करती है ये सभी चिकित्सा विधियों मे पहले से ही शामिल है।
मालिश एक ऐसा शब्द है जो सामूहिक स्तर पर व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप से शारीरिक कैशल के महत्व को बताता है जो कि हाथो से स्नापुतंत्रो, मांसपेशियों तथा सामान्य रक्तसंचार को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

16.3.1. अभ्यंग चिकित्सा की परिभाषा–

1. शरीर, मन तथा प्राण ये तीनो का समन्वचय ही स्वास्थ्य है। मालिश करने से न केवल शारीरिक तत्वो का उपचार होता है, बल्कि सभी नस–नाड़ियॉ भी इससे प्रभावित होती है, जिससे वे ऊर्जित होती है।
2. मालिश प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली की वह विधि है जिससे शरीर की मांसपेशियो तथा संधियो पर दबाव डालकर, विजातीय तत्वो को बाहार निकाला जाता है।

3. ईसा के 500 वर्ष पूर्व हीरोडिकस(Herodicus) जिसने जिमनास्टिक व्यायामका अविष्कार किया था वे अपने रोगियों को मालिश करने व कराने में बहुत जोर देते थे।
4. हिप्पोक्रेटीज ने जो ईसा से 460 वर्ष पूर्व यूनान में पैदा हुए थे उन्होने अपनी कई प्रसिद्ध किताबों में मालिश के गुणो की चर्चा की है।

16.3.2. अभ्यंग चिकित्सा के सिद्धान्त–

कुछ सर्वविदित जानकारियो के साथ–साथ इस अभ्यंग चिकित्सा के कुछ चिकित्सकीय सिद्धान्त भी है। जैसे–

1. अभ्यंग के व्यवहारिक पक्ष को समझना जैसे– मालिश कर्ता का व्यवहार कैसा है। क्या वह नम्र, दयालु व शिष्टाचारी है। आदि
   तथा मालिश लेने वाला, मालिश के प्रति क्या सोच रखता है। क्या वह इसे चिकित्सा मानता है। आदि।
2. अभ्यंग के वैज्ञानिक पक्ष को समझना भी मालिश देने वाले व मालिश लेने वाले दोनो के लिए अनिवार्य है। यह तभी सार्थक होगा जब शरीर विज्ञान को दोनो जानते व समझते हो।
3. इस चिकित्सा के बारे मे दोनो को (लेने वाला, देने वाला) पूर्ण विश्वास होना चाहिये।
4. ग्रहणशील व्यक्तियो पर इसका प्रभाव अधिक होता है व जल्दी होता है।
5. सकारात्मक व्यक्तियों पर मालिश चिकित्सा एक टॉनिक का कार्य करती है।
6. भावनात्मक सिद्धान्त के रूप देखे जो इससे एक–दूसरे मं आत्मीयता का संचार होता है।
7. मुख्य रूपसे नियम के अर्न्तगत जो सिद्धान्त लागू होता है वह है कि इसमें लिंग का विशेष ध्यान दिया जाता है– जैसे

पुरूष वर्ग की मालिश पुरूष द्वारा तथा महिलाओं की मालिश महिला द्वारा। नवजात शिशु व बच्चों के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही होती इसे परिवारिक परिवेश व मॉ के वात्सल्य स्नेहशील छाया मे ही किया जाता है।

16.3.3. अभ्यंग चिकित्सा की उपयोगिता– मनुष्य के जन्म लेते ही उसके लिए मालिश की उपयोगिता अनुभव होने लगती है। हर प्राणी जाने–अनजाने में इसे अपनाता है। इसका उपयोग करता है मनुष्य ही नही, बल्कि पशु–पक्षी भी इसका उपयोग करते है।

शारीरिक मांसपेशियों को सुगठित करने वाली, शारीरिक थाकरन को मिटाने वाली सप्त धातुओं को पुष्ट करने वाली, सुखपूर्वक निंदा को देने वाली, श्वसन क्रिया को नियमित करने वाली रक्त का शुद्धीकरण करने वाली, वात, कफ नाशक या मालिश क्रिया अति उपयोगी है।

सम्पूर्ण शरीर मे तेल मालिश करके स्वच्छ जल मे स्नान करने से बल मे वृद्धि होती है। वर्तमान की भागदौड़ भरी जिन्दगी में मनुष्य ने सारी सुविघॉए जुटा ली है लेकिन शारीर का ध्यान रचाने के लिए समय नही है आज स्वास्थ्य की दृष्टि से मानव शरीर दुर्बल हो रहा है। रोज नये–नये रोग बढ़ रहे है। अस्पतालों की भी खूब भरमार है लकिन स्वास्थ्य की दृष्टि से कोई विशेष साकारात्मक बदलाव नजर नही आता, तब ऐसे मे उपयोगी हो जाता है कि प्राकृतिक जीवन पद्धति को पुनः अपनाना चाहियें।

जैसे कि प्रातः काल उठना, व्यायाम करना, खुली हवा मे घूमना, प्रातः कालीन धूप को सेकना पूरे शारीर मे तेल की मालिश करना तब साफ स्वच्छ जल से स्नान करते थे इससे पूरा शरीर स्वस्थ्य रहता है। इन्दियों को भी बल मिलता है ऐसे मे प्रातः काल की जब सारी कियाएं कर ली जाती है तब पेट सम्बन्धी मुख्यतः कब्ज की कोई परेशानी कभी नही होती।

आज प्रातः कालीन की इन कियाओं का लोप हो गया है देर से उठना, बिस्तर मे ही चाय पीना, ये सभी अप्राकृतिक कियाएं है प्रातः कालीन धूप सेकना खुली हवा मे टहलना इत्यादि कियाओं के लिए जो किसी पे समय ही नही है इसलिए दिनभर की भागदौड़ के बाद जो शरीर व मन की स्थिति हो जाती है उसके लिए जो सर्वोत्म उपयोगी चिकित्सा है वह है अभ्यंग चिकित्सा। इससे न अधिक समय लगता है न ही अधिक खर्चा, इन सब बातो में विचार करे तो मालिश की उपयोगिता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

मानव व शरीर का अधिकांस भाग मांसपेशियों से ढका हुआ है। इसलिए इन मांसपेशियों का स्वस्थ्य रहना बहुत आवश्यक है अभ्यंग करने से मांसपेशियां फूलती है उनमे गति का संचार होता है उनकी कार्य क्षमता बढ़ने से मांसपेशियों में रक्त संचार सुचारु रूप से होता है। अभ्यंग से मांसपेशियों में दो प्रमुखकार्य होते है। पहला तो यह है कि अभ्यंग से मांसपेशियों की गतिशीलता बढ़ती है जिससे शक्तिशाली हो जाता है। इनके शरीर का सारा कार्य स्वभाविक रू॰ से ठीक–ठीक होने लगता है, तथा पाचन क्रिया को सहायता मिलती है।

मालिश के समय जो गर्मी पैदा होती है तीव्रता होती है, वह तीव्रता रोग निवृति में सहायक होती है इससे रक्त मे मिले विषाक्त द्रव्य छँटकर अलग हो जाते है। तथा पसीने व यूरिन (मूत्र) के द्वारा बाहर निकल जाते है। स्वास्थ्य विशेषज्ञ मानते है थकान को दूर करने के लिए अभ्यंग चिकित्सा सबसे उत्तम है।

आयुर्वेद में कहा गया हे कि तेल सर्वप्रथम पैर के तलवों पर फिर सिर में इसके बाद ही अन्य अंग–प्रत्यंगों पर मलना चाहियें। नाभि, हाथ–पैर के नाखून, दोनों कान, नासाछिद्र व आंखों के पपोटो पर भी, तेल लगाना आवश्यक है। ऐसा करने से आयु की वृद्धि होती है। अनिद्रा रोग दूर होते है बुढ़ापा देर से आता है स्वास्थ्य उत्तम रहता है सैन्द्रर्य में वृद्धि होती है तेल मालिश के बाद स्नान तो करना ही चाहिय, अन्यता तौलियो को गीला करके शरीर को खूब रगड़ना चाहिये, अन्यथ शरीर के रोम कूपों में तेल मिश्रित मल भर जाता है जिसमे उन रोम कूपों से मल निष्कासन का कार्य बाधित हो जाता है यदि ऐसा होता है तो स्वास्थ्य लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी।

इसलिए उत्तम स्वास्थ्य व आयु वृद्धि के लिए तेल मालिश के बाद स्नान की अनिवार्यता को वाग्भट्ट ने भी स्वीकार किया है। वाग्भट्ट जी ने कहा है कि तेल मालिश के बाद स्नान करने से बुढ़ापे के लक्षण जल्दी प्रकट नही होते। थकान दूर होती है वायुदोष दूर होते है आंखो की ज्योति बढ़ती है शरीर में बल आता है नींद अच्छी आती है त्वचा की कांति बढ़ती है शारिरिक अंग पुष्ट होते है इसलिए सिर, कान तथा पैरों मे तेल का प्रयोग विशेष रूप से करना चाहियें।

ऋषि चरक ने भी इस तेल अभ्यंग के बारे में कहा है कि जैसे पेड़ की जड़ में जल सिचंन करने से उसमें अंकुर निकलते है। उसी प्रकार तेल की मालिश से शरीर की धातुएं वृद्धि करती है।

इन्होंने एक बात और बताई है कि जीर्ण कोष्ठ बढ़ता (पुराना कब्ज) से परेशान लोगों को तेल मालिश वर्जित है। शास्त्रों में तो यह भी लिखा है कि रविवार, पूर्णिमा व अमावस्या को तेल मालिश नही करनी चाहियें।

अतयन्त स्वास्थ्यवर्धक तथा रोगो का नाश करने हेतु दानो ही दृष्टियों से मालिश अत्यन्त उपयोगी है। वात रोग से सम्बन्धित जितने भी विकार है, उन्हें दूर करने के लिए मालिश सर्वश्रेष्ठ उपचार है। आयुर्वेद ग्रथों में मालिश की उपयोगिता को सिद्ध किया है–

वमनं कफनाशाय वातनाशाय मर्दनम्।
शयन प्तिनाशाय, त्वरनाशाय लङ्ङ्.नम्।।

अर्थात् वमन करने से कफ का नाश होता है। मालिश करने से वात सम्बन्धी रोगो का नाश होता है। विश्राम (शयन) करने से पित्त सम्बन्धी रोगो का नाश होता है। तथा उपवास अर्थात् लंघन करने से ज्वर दोष (बुखार) का नाश होता है।

जब वातविकार सम्बन्धी कोई रोग का लक्षण उभरता है तो शरीर के किसी अंग–विशेष में दर्द होता है। इस स्थिति में अभ्यंग अर्थात् मालिश के द्वारा उस पीड़ा का निवारण करके विशेष लाभ लिया जा सकता है। प्रायः हम देखते है कि जब सिर में दर्द होता है तो पिण्डलियों, भुजाओं, हाथों, पैरो का गर्दन (मालिश) करते है। यदि किसी अनुभवी व्यक्ति के सधे हुए हाथों से यह मालिश उपचार क्रिया हो तो लाभ अतिउत्तम होता है। तथा सभी प्रकार के रोगो का शमन होता है।

आयुर्वेद का जो सिद्वान्त है। प्राकृतिक चिकित्सा का भी वही सिद्धान्त है कि चिकित्सा करनी पड़ी इससे बेहतर तो यह है कि रोग पैदा ही न हो। रोग मुक्त शरीर के लिए प्राकृतिक जीवन अपनाया जाय प्राकृतिक चिकित्सा के अर्न्तगत शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मालिश चिकित्सा प्राचीन समय से लाभकारी सिद्ध हुई है। इससे शरीर की शक्ति बढ़ती है वात सम्बन्धी रोग पैदा होने की संभावना कम हो जाती है। इसलिए अनिवार्य नित्य कर्म की तरह मालिश्ज्ञ करना, दिनचर्या का आवश्यक अंग होना चाहियें।

16.4. अभ्यंग चिकित्सा का बाल्य जीवन पर उपयोग–

घर–घर मे आस–पड़ोस मे जहॉ कही भी छोटे बच्चे होते है उनकी दादी–नानी से मालिश होते हुए देखा जा सकता है हमारे देश मे तो कम से कम 6 माह तक शिशुओं की मालिश करने की अनिवार्यता है।शिशुओं की मालिश शुद्ध घी या मक्खन से करनी चाहिये। जैतून के तेल से भी मालिश की जा सकती है, प्रातः कालीन धूप मे यदि मालिश की जाय तो शिशुओं के लिए अधिक लाभप्रद होता है इससे उन्हे विटामिन डी मिलता है। जो उनकी हड्डीयों तथा अन्य अंगो को रोगो से बचाकर उनमे मजबूती भरता है कुछ बच्चे जन्म से या किसी कारण जन्म के बाद दुर्बल ही रह जाते है उनकी मछली के तेल से मालिश करनी चाहिये।

बाल्य जीवन में जो सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ता है वह पड़ता है मॉ के स्पर्श का इसलिए अधिक से अधिक बच्चे के मॉ द्वारा ही बच्चे की मालिश होनी चाहिये क्योंकि मालिश करने वाले की विचार धारा का प्रभाव मालिश लेने वाले पर पड़ता है। हर मॉ की ममता अपने बच्चे के प्रति सकारात्कम होती है। वह चाहती है कि उसका बच्चा हष्ट–पुष्ट, शक्तिशाली, लम्बीआयु वाला बुद्धिमान हो, मालिश शिशु के जीवन का आधार है।

जिस प्रकार प्रतिदिन का भोजन व दैनिक क्रियाएं हमारे जीवन के लिए आवश्यक है उसी प्रकार स्वस्थ्य शरीर के लिए अभ्यंग भी आवश्यक है यह हमारे सौन्दर्य की वृद्धि करता है

तथ रोगो का सफल उपचार भी होता है किसी न किसी रूप में प्रकृति स्वयं मालिश करने की प्रेरणा देती है क्योंकि की पर, पीड़ा होने पर हमारा हाथ उस स्थान को स्वतः दबाने लगता है। उस स्थान पर स्वतः एक प्राथमिक चिकित्सा होने लगती है यह क्रिया पीड़ा में होने वाले उपचार का ही संकेत है।

16.4.1. अभ्यंग चिकित्सा का शारीरिक प्रभाव– जैसे

- **रक्त परिसंचरण तंत्र पर प्रभाव–**धमनियों मे उत्तेजना आती है लालरक्त कणों की वृद्धि होती है। रोग प्रतिरोध क्षमता बढ़ती है चयापचय की क्रिया तीव्र होती है।
- **स्नायु संस्थान पर प्रभाव–**स्नायुओं मे उत्तेजना आती है, स्नायुविक विकार दूर होते है। शरीर मे हल्कापन आता है।
- **मांसपेशियों पर प्रभाव–**मांसपेशियों मजबूत बनजी है, मांसपेशियों का तनाव कम होता है। दूषित पदार्थ दूर हो जाता है मांसपेशियॉ सुडौल व सुगठित बनती है उनकी गति व सक्रियता बढ़ती है।
- **अस्थि संस्थान पर प्रभाव–**अस्थ्यिॉ मजबूत बनती है, अस्थियॉ का सामान्य रूप विकसित होता है इससे बालकों को सूखा रोग नही होता है।
- **पाचन संस्थान पर प्रभाव–**कब्ज दूर होती है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है भूख अधिक लगती है ऑतों को अतिरिक्त बल मिलता है मल निष्कायन की गति बढ़ती है यकृत को बल मिलता है पेट की विभिन्न ग्रंथियो की क्रियाशीलता बढ़ती है।
- **वृक्को पर प्रभाव–**मालिश करने से वृक्को की कार्यशीलता बढ़ती है जिससे रक्त साफ होकर यूरिक ऐसिड शरीर से बाहर निकल जाता है।
- **त्वाचा पर प्रभाव–**त्वचा मुलायम बनती है रोम कूप, साफ होते है त्वचा में रोगो को रोकने की शक्ति बढ़ती है।
- **श्वसन तंत्र पर प्रभाव–**फेफड़ो की आक्सीजन ग्रहाशीलता बढ़ती है प्रश्वास क्रिया के साथ कार्बनडाइ बाहर निकलती है। फेफड़े मजबूत होते है।

इन सभी के साथ–साथ शरीर की कमजोरी, जोड़ो का दर्द, आदि दूर होकर शरीर सुन्दर बनता है।

16.4.2. अभ्यंग चिकित्सा के गुण–

अभ्यंग चिकित्सा अर्थात् मालिश करने वाले व्यक्ति के निम्न लिखित गुण होने चाहिये।

- चिकित्सक ऐसा हो जो रोगी को दिये गये समय पर स्वयं प्रतिबद्ध हो।
- नियामितता बहुत जरूरी है। यह रोगी के लिए भी नुकसानदायक है और व्यवसाय के लिए भी।
- अनुशासन का विशेष ध्यान रखें, मालिश के समय न तो स्वंय किसी से बात करे न ही रोगी को करने दें।
- चिकित्सा को साफ–सुथरे कपड़े व्यवस्थित रूप से पहनने चाहिये। इससे व्यक्तित्व निखरता है।

- मालिश करने वाला पूर्ण शारीरिक शक्ति सम्पन्न होना चाहिये। क्योंकि कमजोर व्यक्ति दूसरो की मालिश नही कर सकता।
- मालिशकर्ता को अभ्यास द्वारा कुशलता व नियमित अध्ययन द्वारा ज्ञान बर्लित करते रहना चाहिये।
- मलिशकर्ता के हाथ ठंडे नही होने चाहिये, नाखून कटे हो, चूड़ी, घड़ी, अंगूठी आदि उतार देने चाहियें।
- मालिशकर्ता का मन व ह्रदय पवित्र होना चाहिये इसे व्यवसाय समझकर नही सेवा भाव समझकर करना चाहिये।
- मालिश कर्ता को संवेदनशील होना चाहियें।

अभ्यास प्रश्न– निम्नलिखित के उत्तर हॉ या नही में दीजिए–

1. क्या मालिशकर्ता को मालिश का कार्य व्यवसाय समझकर करना चाहियें?
2. क्या मालिश करने से रोग प्रतिरोधी क्षमता बढ़ती है?
3. क्या छोटे शिशुओं को मालिश करने से नुकसान होता है?

2. **निम्न प्रश्नों के अतिसंक्षिप्त उत्तर दें।**

1. मालिश करत को शक्ति सम्पन्न क्यों होना चाहियें?
2. भोजन को पचाने में मालिश किस प्रकार सहायक है?

16.5. सारांश–

अभ्यंग अर्थात् मालिश वह चिकित्सा पद्धति है जिसका वर्णन प्राचीन सभी ग्रथों में किया गया है इसके प्रयोग से शरीर के सभी विकारो का नाश तो होता ही है साथ–साथ मानसिक शान्ति भी प्राप्त होती है। मालिश चिकित्सा की वह पद्धति है जिसे हर आम आदमी जानता है तथा किसी न किसी रूप मे प्रयोग करता है। वर्तमान में तो इसका स्वरूप पूर्ण रुप से वैज्ञानिक हो चुका है।

इस मालिश क्रिया से मांसपेशिया सुदृढ़ बनती है मानसिक शक्ति आती है। स्नायु पेशियों को बल मिलता है रक्त संचार में तेजी आती है। बाल्य जीवन पर तो मालिश का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है जिन बच्चों की नियमित मालिश होती है वे तीव्रता से वृद्धि करते है। यह वह क्रिया है जो दिन भर की थकान का नाश करती है शरीर में स्फूर्ति लाती है इसमे एक ध्यान रखने योग्य बात यह है कि जब मालिश की जाय, पाली जाय, उस समय मन, चित्त शांन्त होना चाहिये तथा उस क्रिया के प्रति पूरी श्रद्धा, विश्वास बनाये रखना चाहिये।

16.6. शब्दावली–

अभ्यंग	=	मालिश
ऊतक	=	शरीर की सबसे छोटी इकाई कोषों का समूह
समन्वय	=	एक रुप (एक साथ)
ऊर्जित	=	शक्ति से भरा हुआ
चिकित्सा प्रणली	=	उपचार का एक तरीका
विजातीय तत्व	=	त्याज्य पदार्थ
सार्थक	=	सफल

आत्मीयता	=	अपनापन

16.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1. नही
2. हॉ
3. नही

1. क्योंकि दूसरे को मालिश करते समय ताकत लगती है।
2. मालिश से जराग्नि प्रदीप्त हाती है।

16.8. सन्दर्भ ग्रंथ सूची–

1. डा0 राजेश दीक्षित – शरीर रचना एंव किया विज्ञान।
2. सत्यपाल – वैज्ञानिक मालिश
3. प्रो0 रामहर्ष सिंह – स्वस्यवृत विज्ञान
4. राकेश जिन्दल – प्राकृतिक आयुर्विज्ञान

16.9. सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री–

शरीर किया विज्ञान को समइने कि लिए–पाचंनतत्र, श्वसन तंत्र, मांस संस्थान, आदि सम्बन्धी चार्टस्।

16.10. निबंधात्मक प्रश्न–

1. अभ्यंग चिकित्सा पद्धति के उद्देश्यों को समझाते हुए, वर्तमान मे इस की उपयोगिता को समइाइये?
2. अभ्यंग चिकित्सा का मानव शरीर में क्या प्रभाव पड़ता है। इसे बताते हुए, बाल्यजीवन पर इसका महत्व बताइये?
3. एक अभ्यंग चिकित्सक के गुणों को समझाइयें?

इकाई–17 अभ्यंग की विधियॉ व अभ्यंग में प्रयुक्त तेल

17.1. प्रस्तावना
17.2. उद्देश्य
17.3. अभ्यंग की विधियॉ
    17.3.1. तेल अभ्यंग की विधियॉ
    17.3.2. स्व–अभ्यंग क्रिया
    17.3.3. अभ्यंग के प्रकार
17.4. अभ्यंग चिकित्सा के प्रयुक्त तेल
    17.4.1. अभ्यंग चिकित्सा के नियम
    17.4.2. अभ्यंग चिकित्सा कक्ष की व्यवस्था
17.5. सारांश
17.6. शब्दावली
17.7. अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
17.8. सन्दर्भ ग्रंथ सूची
17.9. सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
17.10. निबन्धात्मक प्रश्न

17.1. प्रस्तावना–

जब हम अपने प्राचीनतम् इतिहास का अध्ययन करते है तो हमे इस बात की जानकारी मिलती है कि आदिकाल से ही दूसरों को आराम, विश्राम तथा कष्ट निवारण हेतु एक कला का उपयोग होता आया है वह है हाथो का शरीर से स्पर्श करने की कला का उपयोग आपने इसबात से देखा भी होगा कि जब बड़े–बुजुर्ग हमारे सिर पर व पीठ पर हाथ फेरते है तो एक प्रकार का प्रेम, आत्मीयता तथा सन्निकटता का आभास होता है किसी भी प्रकार का दुःख होने पर जब कोई हमारी पीट पर थपथपाता है तो लगता है जैसे दुःख कम हो गया हो, अच्छा काम करने पर कोई पीठ थपथपाता है तो गर्व का अनुभव होता है। ये सब स्पर्श का ही परिणाम है क्योंकि ऐसा करने से एक प्रकार की शरीरिक एवं मनोवैज्ञानिक ऊर्जा का परस्पर मिलन होता है। जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर अचेतन मन को प्रभावित करता है। इससे एक–दूसरे के अनुकूल प्रवृतियों का निर्माण होता है जब इस तरीके अर्थात् क्रियाविधि को चिकित्सा के कार्य में लाया जाता है तो उसे अभ्यंग अर्थात् मालिश कहते है।

17.2. उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई मे आप–

- जानेगे कि क्या अभ्यंग मे अलग–अलग तेलो का अपना महत्व है।
- इसमे आप मालिश करने की कई विधियो का अध्ययन करेगे।
- इसमे आप मालिश करने के नियमो को जान सकेगें।
- इसमे आप स्थान के महत्व के बारे मे जान सकेगे।

17.3. अभ्यंग की विधियॉ–

किसी की कार्य की विधि, स्थान, समय व स्थिति के अनुसार अलग–अलग होती है। अलग–अलग देशों में मालिश करने की अलग विधि है। बहुतम सी विधियों के बारे में अभी हम जान भी नही पाये है लेकिन जितना भी जानते है। उससे यह पता चलता है कि इन सभी विधियों का उद्देश्य एक ही है कि इससे शरीर पुष्ट बने और मांसपेशिया सबल हो और रक्त–संचार मे तेजी आये वर्तमान मे तेल मालिश की कुछ विधियॉ ऐसी है, जो वैज्ञानिको द्वारा भी स्वीकृत है

17.3.1. तेल अभ्यंग की विधियां– साधारण रुप से सभी लोग जिन विधियों का प्रयोग करते है उनमे से तेल मालिश ही सबसे अधिक प्रयुक्त होती है जिसकी कई विधियॉ है–

1. गति मालिश
2. थपकी
3. मसलना
4. गूँथना
5. घर्षण
6. मरोड़ना
7. रोलिंग
8. खड़ी थपकी
9. अंगुलियो से ठोकना
10. कंटोरी थपकी

17.3.2. स्व अभ्यंग कियाएॅ–

जब व्यक्ति को स्वयं ही अपनी मालिश करनी हो तो पहले अपने पैरो मे तेल लगा ले, फिर स्वयं थपकी, रोलिंग, मरोड़ आदि विधियॉ अपनाकर मालिश करे। फिर हाथो में तेल लगाये और सभी विधियो को करे। हाथो के बाद पेट व छाती की मालिश करे। नाभि के चारो ओर अंगुलियां रखकर उसे दांये से बांये चक्कर मे घुमाएं पीठ पर स्वयं की सुविधा अनुसार जितना हो सके, उसी प्रकार करे। तत्प्रश्चात गर्दन व चेहरे की मालिश करे। तथा अन्त में सिर की मालिश करें। हाथो को कंघी की तरह बनाकर बालो की जड़ो मे मालिश करें।

17.3.3. अभ्यंग के प्रकार–

मालिश के निम्नलिखित प्रकार है–

1. तेल मालिश	Oil Massage
2. सूखी मालिश	Dry Massage
3. पांव की मालिश	Massage with Feet
4. ठंडी मालिश	Cold Massage
5. गर्म–ठंडी मालिश	Hot-Cold Massage
6. पाउडर की मालिश	Massage with talcum powder
7. बिजली से मालिश	Massage with electrical equipment

मुख्यतः जो ज्यादा प्रयोग मे लायी जाती है वह दो प्रकार की मालिश है– एक सूखी मालिश। दूसरी चिकनाई युक्त अर्थात् तेल मालिश।

सूखी मालिश– बिना तेल लगाये जब हाथों से सूखा घर्षण किया जाता है तो वह सूखी मालिश कहलाता है। इसे हल्के दर्द या आलस्य की स्थिति में किया जाता है। आलस्य दूर करने के लिए हाथ, पैर, माथे, सिर पर हथेलियों से घर्षण करना सूखी मालिश के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रकार की सूखी घर्षण युक्त मालिश से रक्त संचार मे तीवता आती है। फलस्वरुप पीड़ा दूर हो जाती है।

इस सूखी मालिश को स्नान के पूर्व या बाद मे, घूमने या व्यायाम के पहले या बाद मे, पूरे शरीर में तेज–तेज घषर्ण करने से रक्त संचार तेल हो जाता है। इससे वायुविकार अर्थात् समस्त वातरोग शान्त हो जाते है। पहले सूखी घर्षण युक्त मालिश करे, तत्पश्चात स्नान करें, फिर पूरे शरीर को गीले तौलिये से रगड़ने पर विशेष लाभ मिलता है ज्वर की स्थिति में हाथ पैर के तलवे, माथे आदि पर गीले कपड़े की पट्टी निचोड़कर रगड़ने से रोगी की आराम मिलता है। इससे शरीर की अतिरिक्त गर्मी दूर हो जाती है।

तेल मालिश– लाभ आदि– पूरे शरीर मे तेल मालिश उसे कहते है जब पूरे शरीर में तेल या अन्य लाभदायक चिकने पदार्थ मलकर घर्षण क्रिया की जाती है। व्यायाम से पूर्व शरीर में तेल लगाकर मालिश करने से शारीरिक अंगो से सूखापन समाप्त हो जाता है। चिकिनाई बनी रहती है जिससे शरीर मे लचीलापन बना रहता है।

इस प्रकार के लचीले शरीर से व्यायामक रने में सरलजा होती है, कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति फुर्तीला हो जाता है। हर कार्य को कर सकता है उसे पीठ दर्द, कमर दर्द की शिकात नही होती इस प्रकार से जब वह कार्य करता है तब त्वचा में प्रतिपल संकुचन और आकुचंन होता है। यह क्रिया शरीर के रोमकूपों को खोलती है इससे न केवल बाहर बल्कि भीतर के अंगो की खुश्की भी दूर हो जाती है। फल स्वरुप अंग–प्रत्यंग में स्निग्धता और कांति बनी रहती है।

जब तेल मालिश को सूर्य के प्रकाश मे किया जाता है तब सूर्य के प्रकाश में शरीर की कोशिकएं इस चिकनाई से विटामिन डी बनती है जिससे अस्थियों में कैल्शियम और फास्फोरस अधिक होने मे सहायता मिलती है। ये तत्व शरीर की अस्थियों को मजबूती देते है। इस प्रकार ये हड्डियों को मजबूत बनाते है यह विटामिन डी सूर्य के किरणों की उपस्थिति मे ही बनता है इसलिए तेल लगाकर धूप मे बैठना लाभकारी होता है। जब किसी बच्चे को सूखारोग या हड्डी की कमजोरी होती है। तब उस बच्चे को ऐसी स्थिति में तेल लगाकर धूप स्नान कराना बहुत लाभदायी होता है।

तेल मालिश करने से शरीर में संकुचन होता है, जिससे कोशिकाएं मजबूत होती है। उनमें शक्ति आ जाती है कोशिकाओं के शक्तिशाली होने से शरीर की झुर्रियॉ दूर हो जाती है। अंगो मे एक चमक पैदा होती है। मांसपेशियो की शिथिलता दूर होती है इसका अत्यन्त लाभकारी कार्य यह है, कि यह कोशिकाओं के अंदर लाभकारी तत्वों का निर्माण करता है। तथा आन्तरिक जमे हुए मल को रोमकूपो से बाहर निकाल देता है।

वर्तमान समय में भी पूर्व कि भातिं ही सभी चिकित्सक, वैद्य आदि पूर्ण स्वस्थ रहने के लिए मालिश करने कि सलाह देते है, यह रोग को दूर भगाता है। शरीर के लिए अत्यन्त लाभकारी उपयोग है, इसलिए नित्य कर्म मे इसे भी सामिल करके हमें अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

17.4. अभ्यंग चिकित्सा मे प्रयुक्त तेल

- ❖ कमजोर रोगियो को जैतून का तेल।
- ❖ जोड़ो के दर्द, गठिया, सायटिका मे लाल रंग की बोतल का तेल।
- ❖ सिर दर्द में, कद्दू रोगन, बादाम रोगन या हल्के नीले रंग की बोतल का तेल।
- ❖ चर्म रोगो मे हरे रं की बोतल का तेल।

इन सभी के अतिरिक्त सरसों का तेल, नारियल तेल, अरण्डी का तेल तथा विशेष रुप से तैयार किया गया आयुर्वेदिक तेल भी मालिश मे प्रयोग किया जाता है।

17.4.1 अभ्यंग चिकित्सा के नियम–सामान्य तौर पर, अंगुलियों को तेल मे डुबोकर किसी अंग विशेष को मलना, रगड़ना इसे हम मालिश कह देते है यदि ऐसा मानते है तो वह क्रिया रगड़ने तक ही रह जाती है, यदि इसी क्रिया को वैज्ञानिक पक्ष को समझते हुए, कुछ नियमो का पालन करते हुए मालिश्ज्ञ की जाय तो निश्चित ही आशातीत लाभ मिलेगा।

मालिश करने के कुछ सामान्य नियम इस प्रकार है–

1. मालिशकर्ता का स्वभाव शांत होना चाहिये। मन प्रसन्नचित होना चाहिये, इन्ही भावो का प्रभाव रोगी पर पड़ता है यदि मन मे द्वन्द है, अस्थिरता है तो कार्य सार्थक नही हो सकता।
2. मालिशकर्ता के स्वार्थी नही होना चाहिये उसे परमार्थ भाव से यह चिकित्सा करती चाहियें।
3. मालिरूा करने का स्थान खुला व हवादार होना चाहिये तथा उस स्थान पर प्रातः काल सूर्य का प्रकाश आता हो।
4. इस बात का ध्यान रखा जाय कि एक रोगी के लिए जो चादर बिछाई गई है वह दूसरे रोगी की मालिश के लिए प्रयोग न की जाय अर्थात् उस चादर को बदल दिया जाय।
5. गर्दन और सिर की मालिश रोगी को बिठाकर करनी चाहिये।
6. सामान्यतः गर्म मालिश पौरो के तलवो से आरम्भ करके ह्रदय व सिर की ओर लाते है। इससे शिराओं की सक्रियता आती है।
7. सामान्यतः ठण्डी मालिश सिर से पैरों की ओर करनी चाहिये। इस प्रभाव धमनियों पर पड़ता है।
8. मालिश के बाद रोगी की सामर्थ्य अनुसार ठडे या गर्म जल से उसे स्नान कराना चाहिये। अन्यथा रोगी की स्थिति देखकर, तौलिये को गीला करके शरीर को रगड़ना चाहिये।

17.4.2. अभ्यंग चिकित्सा कक्ष की व्यवस्था– मालिश नियमो के साथ–साथ मालिश कक्ष की व्यवस्था पर भी ध्यान देना एक चिकित्स का ही पक्ष है क्योंकि स्थान विशेष का अपना अलग महत्व होता है। जैसे–

1. मालिश कक्ष साफ–सुथरा, हवादार च सुरक्षित स्थान पर हो।
2. कोलाहल से दूर हों।
3. सूर्य का प्रकाश, उस कक्ष पर पर्याप्त पड़ता हो।
4. वहां पर स्वच्छ जल की उचित व्यवस्था हों।
5. जमीन पर बिछे कम्बल या तखत पर बिछा वस्त्र साफ हों।

अभ्यास प्रश्न– निम्न प्रश्नों के अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए–

1. कमजोर रोगियों की मालिश किस तेल से करनी चाहिये?
2. गर्म मालिश को कहां से शुरु करते है?
3. ठण्डी मालिश को कहां से शुरु करते है?

4. चर्म रोग मे किस रंग की बोतल का तेल लगाना चाहिये?
5. क्या अभ्यंग चिकित्सा पद्धति वैज्ञानिक है?

17.5. सारांश–

मनोवैज्ञानिक आधार हे कि जब कोई हमारी पीठ थपथपाता है। हमारे सिर पर हाथ फेरता है तो एक आत्मीय शक्ति का संचार होता है लगता है जैसे आधा दुःख दूर हो गया है। यही मालिश चिकित्सा है मालिश अर्थात् मलना, सहलाना इसे कई विधियों से किया जाता है लेकिन उद्देश्य एक ही रहता है कि शरीर पुष्ठ बने और मांस–पेशियां सबल हो।
यही चिकित्सा की एक ऐसी पद्धति है जिसमें स्वयं के द्वारा, स्वयं को ही उपचार दिया जा सकता है व्यक्ति स्वंय को कई प्रकार से मालिश करके लाभ ले सकता है।निष्कर्ष रूप मे हम यह कह सकते है कि जब यह चिकित्सा निःस्वार्थ भाव से शुद्ध मन से, सेवाभाव से की जाय तो हर प्रकार के रोग में उत्तम लाभ मिलता है ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वहां का वातावरण शान्त, स्वच्छ व प्रकृति के अनुरुप हो।

17.6. शब्दावली–

स्पर्श	=	छूना
सन्निकटता	=	एकदम पास (नहदीक)
स्व	=	स्वयं (अपने आप)
स्वार्थी	=	अपने बारे मे ही सोचना
परमार्थ	=	दूसरो के बारे मे सोचना (हित की बाते)
कोलाहल=		शोरगुल

17.7. अभ्यास प्रश्नो के उत्तर–

1. जैतून के तेल से करनी चाहिये।
2. गर्म मालिश पैरो के तलवों से आरम्भ करके ह्रदय व सिर की ओर लाते है।
3. ठण्डी मालिश सिर से पैरो की ओर करते है।
4. चर्म रोगो में हरे रंग की बोतल का तेल लगाना चाहिये।
5. हॉ यह पद्धति वैज्ञानिक है।

17.8. सन्दर्भ ग्रंथ सूची–

1.	सत्यपाल	वैज्ञानिक मालिश
2.	प्रो0 रामहर्ष सिंह	स्वस्थ्वृत विज्ञान
3.	डा0 ओमप्रकाश सक्सेना	वृहद प्राकृतिक चिकित्सा
4.	डा0राजीव शर्मा	एक्यूप्रेशर चिकित्सा कोर्स
5.	रामगोपाल शर्मा	प्राकृतिक चिकित्सा

17.10. निबंधात्मक प्रश्न–

1. अभ्यंग चिकित्सा के द्वारा स्वयं को कैसे लाभ पहुचाया जा सकता है। तथा इसकी विभिन्न विधियॉ क्या है इसे अपने शब्दों मे स्पष्ट कीजिए?
2. यदि आप अभ्यंग चिकित्साक होते तो किन–किन नियमों का पालन करते तथ किस प्रकार की व्यवस्था बनाते इसे स्पष्ट कीजिए?
3. अभ्यंग चिकित्सा के सन्दर्भ मे अपने विचार व्यक्त कीजिए?

इकाई–18– विभिन्न रोगो मे अभ्यंग का प्रयोग एवं सावधानियां

18.1. प्रस्तावना
18.2. उद्देश्य
18.3. विभिन्न रोगो मे अभ्यंग का प्रयोग
 18.3.1. रक्त परियंचरण तंत्र पर अभ्यंग का प्रभाव
 18.3.2. मानव मस्तिष्क पर अभ्यंग का प्रभाव
 18.3.3. मांससंस्थान पर अभ्यंग का प्रभाव
18.4. अभ्यंग चिकित्सा करते समय सावधानियां
 18.4.1. अभ्यंग चिकित्सा करने समय ध्यान रखने योग्य बाते
 18.4.2. अभ्यंग चिकिम्सा के प्रति साकारात्मक सोच
18.5. सारांश
18.6. परिभाषिक शब्दावली
18.7. अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
18.8. सन्दर्भ ग्रंथ सूची
18.9. सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री
18.10. निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

अभ्यंग एक प्रकार की मांस पेशियों की कसरत है जिससे मांसपेशियो मे गति उत्पन्न होती है इस बात को हम स्वयं पर भी अनुभव कर सकते है। जब हम अपने ही शरीर के किसी भाग को तेजी से मलते या रगड़ते है तो उस भाग मे कुछ गर्मी या उत्तेजना होती है। जो कि उस मलने का प्रभाव होता है इस मालिश क्रिया से रोगो को दूर किया जा सकता है मालिश करने से रक्त मे मिले विष तत्व अलग हो जाते है जो पसीने व मूत्र के साथ बाहर निकल आते है इस प्रकार रक्त शुद्ध हो जाता है शरीर ओजस्वी हो जाता है। शरीर मे ताजगी आ जाती है थकान को दूर करने के लिए रोगो को दूर भगाने के लिए इस अभ्यंग चिकित्सा से बढ़कर अन्य कोई भी क्रिया नही है चिकित्सा की अनेक वैज्ञानिक पद्धतियों के विकसित होने के बाद भी श्वास के रुक जाने पर ह्रदय गति के रुक जाने पर, मालिश के द्वारा ही पहले उपचार शुरू किया जाता है।

18.2. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई मे आप

- अभ्यंग के प्रयोग को समझ सकेगें।
- शरीर के विभिन्न तंत्रो पर इस क्रिया विधि का अध्ययन करेगें।
- अभ्यंग करते समय की सावधानियो को जानेगें।
- आप जान सकेगे कि हमारी सोच का भी हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

18.3. विभिन्न रोगो में अभ्यंग का प्रयोग

जब साधारण मालिश करते है तो उसके लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता नही होती लेकिन जब किसी को रोग की स्थिति मे मालिश देनी होती है तब विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है यदि असावधानी हो जाय तो रोगी को नुकसान भी हो सकता है।

अनिद्रा, नाड़ी दुर्बलता, रक्तचाप बढ़ना, सायटिका दर्द, मोटापा, पतलापन, आदि रोगों मे मालिश करने से आशातीत लाभ होते है। इसलिए आवश्यक है कि मालिशकर्ता को शारीरिक क्रिया विधि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। अनिद्रा मे पीठ व सिर की मालिश, नाड़ी दुर्बलता मे प्रातः कालीन धूप में पूरे शरीर की मालिश। बड़े हुए रक्त चाप मे ऊपर से नीचे की ओर हल्के हाथो से धीरे–धीरे मालिश करनी होती है। तथा सायटिका के दर्द मे पैर, टांग व पीठ की मालिश लाभ पहुचांती है धूप में जैतून के तेल से मलिश करने पर यह विशेष लाभ देती है। मोटापा की स्थिति तेल मालिश नही करनी चाहिए। इसमे ठडी मालिश लाभ करती है तथा सूची मालिश भी की जा सकती है तथा पतलेपन की स्थिति मे पूरे शरीर की तेल मालिश करनी चाहिये।

18.3.1. रक्त परिसंचरण तंत्र पर अभ्यंग का प्रभाव– हमारी स्वयं की बंद मुटठी से मिलता–जुलता ही मनुष्य के ह्रदय का आकार होता है। ह्रदय मांस से बना एक कोष्ठ है जिसके भीतर रक्त भरा रहता है। यह भीतर सक एक खड़े मांस के परदे द्वारा दो कोठरियों मे विभक्त है प्रत्येक कोठरी के ऊपर नीचे फिर दो भाग है। रक्त ऊपर की कोठरी से नीचे की कोठरी मे तो आराम से आ जाता है। लेकिन नीचे से ऊपर की कोठरी मे नही जा सकता यह कभी सिकुड़ता ह कभी फैलता है इस ह्रदय में ही रकत की परपिंग होती है अर्थातृ शुद्धिकरण होता है। पूरे शरीर से अशुद्धरक्त शुद्ध होने हेतु ह्रदय मे लाया जाता है फिर शुद्ध किया हुआ रक्त से पूरे शरीर मे भेजा जाता है।

इसलिए मालिश का मुख्य कार्य रक्तसंचार में तेजी लाना है। इससे धकनियों मे उतेजना आती है। लाल रक्तकणों की वृद्धि होती है। तथा लसिका तंत्र अधिक सक्रिय हो जाता है।

18.3.2. मानव मस्तिष्क अभ्यंग का प्रभाव–पूरे शरीर मे फैले हुए नाड़ी मंडलो को केन्द्र मस्तिष्क मे ही होता है मस्तिष्क ही सारे शरीर का नियन्त्रण करता है। यही हमारे बुद्धि विवके का स्थान भी कहा जाता है। शरीर के सभी अंगो को यह अपने अधिकार मे रखता है।जब यह मस्तिष्क ही पूरे शरीर का प्रतिनिधित्व करता है तो इसे पूर्ण स्वस्थ रखना आवश्यक है। इसकि नियमित मालिश करनी चाहिये, बालों के जड़ो को नियमित तेल द्वारा पोषण देना चाहिये तथा हाथ की अंगुलियो को मिलाकर कटोरी जैसी आकृति बनाकर उसमें शुद्ध भरकर मस्तिष्क को नियमित छपछपाना भी मस्तिष्क स्वस्थ रखने की ही एक यौगिक क्रिया है। गर्मी के दौरान माथे पर मिट्टी पट्टी रखने से भी मस्तिष्कीय क्रिया विधि को लाभ मिलता है।

18.3.3. मांस सस्थान पर अभ्यंग का प्रभाव–

शरीर मे स्थित ग्रेथियों व कोमल अंगो की रक्षा हेतु मांसपेशियां होती है। मांसपेशियो ही शरीर को सुडोल बनाती है।मांसपेशियो की मालिश करने से उनके काम करने की शक्ति बढ़ जाती है। थकान कम होती है मांसपेशियो लचकदार बनती है उनका सही प्रकार से वृद्धि व विकास होता है।

मालिश एक प्रकार की कसरत है। मांस–पेशियो के लिए इसी क्रिया के कारण पाचन क्रिया का बल मिलता है रक्त प्रवाह अबाध गति से बहता है शरीर ह्रष्ट–पुष्ट बनता है।

विदेशों मे विशेषकर यूरोप व अमेरिका मे अभ्यंग से चिकित्सा करने के सन्दर्भ में बहुत मात्रा मे चिकित्सालय खुल रहे है। जहां पर अभ्यंग चिकित्सक, वैज्ञानिक तरीके से मालिश करके रोगियों का उपचार करते है।

गठिया रोग– गठिया रोग में मालिश का बहुत अधिक लाभ मिलता लाभ मिलता है इसके लिये शुद्ध सरसों का तेल या तिल का तेल ही प्रयोग में लाना चाहिये ंतब लाभ और भी उत्तर हो जाता है जब मालिश धूप में की जाती है इस बात का विशेष ध्यान रहें कि मालिशकर्ता को उतनी ही ताकत से मालिश करनी चाहिये जितना कि रोगी आसानी से सह सकें। मालिश करनी चाहिये जितना कि रोगी आसानी से सह सके। मालिश करते समस रीढ़ और जोड़ो पर विशेष ध्यान देना चाहिये मालिश क्षणिक नही होनी चाहियें मालिश मे कुछ समय जो लगना ही चाहिये जिससे कि रक्त में पर्याप्त गर्मी और उसकी गति मे तीव्रता उत्पन्न हो जाय मालिश प्रतिदिन नियमित रुप से और कुछ दिनों तक करनी चाहिये ध्यान रखने के योग्य बात यह है कि इस गठिया रोग में मालिश चिकित्सा के साथ–साथ अन्य प्राकृतिक नियमों का, जैसे–खान–पान रहन सहन आदि भी ध्यान रखना चाहिये जिससे परिणामस्वरूप उपचारी व्यक्ति को अधिक लाभ मिल सकेगा।

अनिद्रा– आज मशीनी युग में मनुष्य मशीन की तरह तेज गति से भागने मे लगा है। मनुष्य को हर पल सुख–सुविधा की समाग्री एकत्र करने की ही धुन लगी रहती है इस कार्य में वह स्वयं को भूल जाता है उसे खाने–पीने, सोने व विश्राम की चिन्ता ही नही रहती जब ये अनावश्यक बाहरी चिन्ताएं एस पर सवार हो जाती है तब उस स्थिति में न उसे नींद आती है न ही उसका भोजन पचता है। ऐसे में कई पेट के रोग उसे घेर लेते है नींद उड़ जाती है। उसे नींद लाने के लिए दवाइयां खानी पड़ती है। ये दवाइयॉ उसके पूरे शरीर में खुश्की पैदा कर देती है ये दवाइयां इतनी गर्मी पैदा करती है कि वास्तविक नींद भी उड़ जाती है जिससे वह व्यक्ति और अधिक परेशान हो जाता है, उसके जीवन मे निराशा आ जाती है।तब ऐसी अवस्था में प्राकृतिक उवचार द्वारा उस व्यक्ति को पूर्ण रूप से, स्वस्थ्य बनाया जा सकता है। लेकिन आवश्यकता ये है कि वह व्यक्ति प्राकृतिक उपचार पूरा विश्वास करता हो। समय लगने पर अधीर न होता हो, अपने प्रति सकारात्मक सोच रखता हो।अभ्यंग चिकित्सा से जब ऐसे व्यक्ति का उवचार प्रारम्भ किया जाता है तो उसके साथ और भी कई क्रियाएं अपनाई जाती है सर्वप्रथम तो उस रोगी को चाहिये, कि वह दौड़ भाग से अवकाश ले, पूर्ण विश्राम करे। शवासन का अभ्यास करे, प्रातः जल्दी उठकर खुले वातावरण में टहलें, गहरी श्वसन क्रिया करे, रात को सोने से पूर्व भी शवासन का अभ्यास करे यदि पेट साफ नही रहता तो एनिमा लें।तत्पश्चात् जो सर्वउपयोगी चिकित्सा दे वह है अभ्यंग।

यह नींद लाने का सबसे उत्तम साधन है। इसके लिए पीठ व सिर की मालिश विशेष तौर पर होनी चाहिये इस रोग में मालिश हल्के हाथों से होनी चाहिये। प्रातःकाल पूरे शरीर की मालिश तथा रात्री सोने से पूर्व पीठ व सिर की मालिश (सूखी मालिश) अवश्य ही करनी चाहिये। मालिश में ताल से हाथ चलाना, थपथपना, कम्पन्न तथा हाथ से कटोरी बना कर धपकी देना रोगी को अधिक लाभ पहुचाता है, ऐसी सथित में व्यक्ति को चाहिये कि वह स्वंय ना करके, दूसरे व्यक्ति से अपनी मालिश करवाये। सर्दियों में इसे धूप मे भी किया जा सकता है तथा मौसम के गर्म होने पर या तो छांव में करे या प्रातःकाल की कोमल धूप में मालिश करें। मालिश के पश्चात मौसम के अनुरुप रोगी व्यक्ति को स्नान करायें, यदि

गरम पानी से स्नान कराया जा रहा है तो ध्यान रहें कि रोगी का सिर ठंडा रहे इसके लिए सिर पर गीला तौलिया रख सकते है स्नान के पश्चात कुछ समय विश्राम करें। फिर कुछ खाने के लिए लेना चाहिये।लेकिन ध्यान रहे इनता कर लेने मात्र से ही अनिद्रा की बिमारी दूर नही होगी, उस व्यक्ति की वह अनावश्यक भाग दौड़ की चिंता को छोड़ कर, कुछ मनपसंद दूसरा कार्य करें। जैसे–स्वास्थ्य वर्धक पुस्तकों का अध्ययन करना आदि। इन सब बातों के साथ–साथ रोगी को चाहिये कि वह भोजन के प्रति सतर्क रहें, वह कुशल चिकित्सक के निर्देशन में उपवास भी कर सकता है। सकारात्मक सोच रखते हुए व धीरे–धीरे वह पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है।

बच्चो का पोलियो– बच्चों को पोलियों देने का जो मुख्य कारण है। वह है, टायफाइड बुखार का बिगड़ जाना, लेकिन वास्तविकता यह नही है। वास्तविक कारण है कि, जब टाइफाइड का बुखार होता है तब अधिक दवाईयों का प्रयोग किया जाता है, जिसके परिणाम स्वरुप रोग तो दब जाता है लेकिन उसका प्रभाव नस–नाड़ियो पड़े बिना नही रहता है। उसी का प्रभाव बच्चे के हाथ व पैरों पर पड़ता है यह प्रभाव कभी–कभी बच्चों को अपंग कर देता है यदि अंगो पर इसका प्रभाव ना पड़े तो आखों पर पड़ता है। आंखे कमजोर हो जाती है यदि ठीक समय पर समय पर उपचार न किया जाए तो बच्चे के पूरे जीवन पर इसका प्रभाव पड़ता है यदि बिना प्रतिप्रभाव के इसकी कोई सफल चिकित्सा है तो वह है प्राकृतिक चिकित्सा फिजियोथैरेपी।

इसके साथ यदि नियमित विधि पूर्वक किसी मालिश विशेषज्ञ से मालिश उपचार किया जाए तो लाभ मिलता है। ऐसी स्थिति में मालिश धूप में ही करें। रोगग्रस्त अंग के साथ–साथ पीठ की मालिश अवश्य की जाएं, पीठ के निचले भाग की मालिश गर्म–ठंडी की जाये, इसके लिए दो मिनट गर्म सेंक देने कि बाद ठंडे तैलिये से धर्षण करें, ऐसी क्रिया रोगग्रस्त अंग पर भी कर सकते है।

इस प्रकार से स्नान कराने के बाद मछली के तेल से धूप मे अच्छी प्रकार से मालिश करे, इससे बहुत लाभ होता है। इसमे रोगग्रस्त अंग की मालिश मांशपेशियों को मसलकर, झकझोर कर, मरोड़कर, ठोंककर, थपथपाकर, खड़ी थपकी, कटोरी थपक, कंपन आदि क्रियाओं द्वारा कि जाती है। इसमें मालिश करने वाले को तथा कराने वाले को जल्दी उकताना नही चाहियें, क्योंकि इसमें परिणाम धीरे–धीरे आते है साथ ही यह भी पूर्ण सत्य है कि इस स्थिति में मालिश और प्राकृतिक चिकित्सा ही कारगर उपचार है।

दैनिक कार्यो के माध्यम से भी हम मालिश को समझ सकते है। जब किसी चमकाना होता है, आकर्षक बनाना होता है तो हम उसे रगड़ते है, या फिर पॉलिश करते है ऐसे ही शरीर को आकर्षक, सुडौल, स्वस्थ्य, ह्रष्ट–पुष्ट, आदि बनाने कि लिए शरीर को रगड़ना या पालिश करना आवश्यक है,और यही मालिश क्रिया है, तो वह वैज्ञानिक मालिश बन जाती है।

हम सभी को अपने आस–पास इस तरह के क्रिया कलाप देखने को मिल जाते है, जैसे– परिवार में, या कहीं आस पड़ोस में जब नवजात शिशु पैदा होता है तब खान पान के साथ–साथ जिसका अधिक ध्यान दिया जाता है वह क्रिया मालिश क्रिया ही होती है। नवजात शिशु के पैदा होने के बाद मॉ का शरीर भी कमजोर हो जाता है और कुछ ढीला हो जाता है उस स्थिति में मॉ को भी मालिश कि आवश्यकता पड़ती है। यह काम दाई मॉ, या घर की ही किसी महिला द्वारा किया जाता है, ऐसा कम से कम एक या दो माह तक

तो किया ही जाना चाहियें। इससे माँ के शरीर को शक्ति मिलती है, शारीरिक सुडौलता पुनः आ जाती है, इसी के साथ–साथ हम सभी देखते है कि, नवजात शिशु कम से कम छः माह तक आटे कि लेई द्वारा, उसे तेल मे डूबा कर, मालिश कि जाती है।

18.4 अभ्यंग चिकित्सा करते समय सावधानियाँ

अभ्यंग चिकित्सा क्या है इसे कब कनते है क्यों करते है व कैसे करते है इन सब बातो की जानकारी के साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि अभ्यंग चिकित्सा के समय किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिये। जो अनिवार्य है क्योंकि इसे हम चिकित्सा के रुप मे देख रहे है। यह निम्न प्रकार है–

1. मालिश हेतु स्थान ऊँचा होना चाहिये।
2. मेज, कुशन, कर बल आदि साफ–स्वच्छ होने चाहिये।
3. मालिशकर्ता को मालिश के विभिन्न प्रकार ज्ञात होने चाहिये।
4. कक्ष मौसम के अनुसार, अर्थात् वातानुकूलित होना चाहिये।
5. मालिश लेने वाले को मालिश के समय गहरा श्वसन करना चाहिये।
6. मालिश कर्ता के हाथ साफ होने चाहिये।
7. नाखुन कटे हुए होने चाहिये।
8. मालिश के समय रोगी से या अन्य बाहरी व्यक्तियो से बातचीत न करें।
9. एक व्यक्ति के मालिश मे प्रयोग किया गया चादर, दूसरे व्यक्ति के मालिश मे प्रयोग न करें।

18.4.1. अभ्यंग चिकित्सा करते समय ध्याान रखने योग्य बाते– अभ्यंग चिकित्सा के समय जो विशेष ध्यान रखने योग्य बात है वह यह है कि चिकित्सक को अपने इस व्यवसाय के प्रति ईमानदार व सेवाभावी होना चाहिये। सभी के साथ समानता का व्यवहार करना चाहियें। मृद्भाषी होना चाहिये क्योंकि भाषा का प्रभाव औषधी से ज्यादा पड़ता है। उसकी सोच की जो तंरगे फैलती है वह व्यक्ति को प्रभावित करती है। दोनो के मध्य आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है जब चिकित्सा लेने वाला व चिकित्सा देने वाला, दोनो एक–दूसरे को समझने लगते है तो चिकित्सा का परिणाम सुखदायी होता है।

18.4.2. अभ्यंग चिकित्सा के प्रति सकारात्मक सोच– इस चिकित्सा के प्रति धान देने योग्य बाते व सावधानियाँ जिस प्रकार व्यक्ति पर प्रभाव डालती है ठीक उसी प्रकार तंरगे भी अपना प्रभाव डालती है।

व्यक्ति जैसा सोचता है करता है वह वैसा ही बन जाता है ऐसा प0श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कथन है। इसलिए हम सभी को इस चिकित्सा के प्रति सकारात्मक सोच रखनी चाहिये तथा इस से होने वाले गुण व उपयोगिता को सभी को बताना चाहिये। यह हमारी परम्परागत रीति कका ही स्वरुप है।

अभ्यास प्रश्न– निम्न प्रश्नों के उत्तर संक्षिप्त मे दीजिए–

1. मालिश के दो गुण बताइयें?
2. पूरे शरीर मे फैले नाड़ी मंडलो का केन्द्र कहाँ होता है?
3. श्रोग की स्थिति मे मालिश कं साथ–साथ क्या प्राकृतिक चिकित्सा उपचार भी दिया जा सकता है?
4. इस चिकित्सा पद्धति के प्रति रोगी व्यक्ति के भाव कैसे होने चाहिये।

18.5. सारांश–

जो मांशपेशियो मे गति उत्पन्न करे मालिश ऐसी कसरत हे यह शरीर को मलने की वह क्रिया है जो गर्मी उत्पन्न करती है जिससे पूरे शरीर में रक्त संचार ठीक प्रकार से होता है सावधनीपूर्वक मालिश किया करने से अनिद्रा, नाड़ी–दुर्बलता, रक्तचाप, मोटापा आदि मे लाभ होता है।मालिश चिकित्साक द्वारा किया गया उपचार किसी भी प्रकार का प्रतिप्रभाव नही डालता, फलस्वरूप व्यक्ति स्वयं को तरोताजा अनुभव करता है। शिथिल पड़ी मांसपेशियां, रोमांचित हो जाती है। विशेष रुप से की गई मालिश वाले व्यक्तियो, बच्चों व महिलाओ को शरीर सौष्ठव अलग ही दिखाई देता है इसलिए यह आदि समय से चली आ रही स्वास्थात्मक प्रक्रिया है।

18.6. शब्दावली–

प्रतिप्रभाव	=	दुष्परिणाम (साइड इफेक्ट)
वातानुकूलित	=	वातावरण के अनुसार गरम या ठंडा,
अबाध	=	बिना रूके
सायटिका	=	एकनर्व जो कमर से लेकर पैर तक होती है।

18.7 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर–

1. मांसपेशियॉ सुदृढ़, विजातीय द्रव्य निष्कासित।
2. मस्तिष्क में।
3. हॉ दिय जा सकता है।
4. धैर्यपूर्ण व विश्वासी होने चाहियें।

18.8. सन्दर्भ ग्रंथ सूची–

1. डा0राजेश दीक्षित – शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान।
2. सत्यपाल – वैज्ञानिक मालिश
3. डा0ओम प्रकाश सक्सेना – वृह्रद प्राकृतिक चिकित्सा
4. राकेश जिन्दल – प्राकृतिक आयुर्विज्ञान
5. डा0 राजीव शर्मा – ऐक्यूप्रेशर चिकित्सा कोर्स

18.9. सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री–

1. शरीर क्रियाविज्ञान सम्बन्धी चाट्‌र्स।
2. प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्रो का भ्रमण।

18.10. निबंधात्मक प्रश्न–

1. रक्त परिसंचरण तंत्र पर मालिश की क्रियाविधि को समझाइये?
2. यदि आप अभ्यंग चिकित्स होते तो किन बातो को ध्यान मे रखकर चिकित्सा करते विस्तृत व्याख्या कीजिए?
3. मालिश चिकित्सा लेते समय, रोगी का चिकित्सक के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये। अपने शब्दों के आधार पर समझाइये?

इकाई 19 एनीमा का परिचय एवं विधि

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 एनीमा का परिचय
19.3.1 प्राकृतिक चिकित्सा में प्रयुक्त एनीमा का परिचय
19.3.2 योग में प्रयुक्त एनीमा (वस्ति कर्म) का परिचय
19.3.3 आयुर्वेद में प्रयुक्त एनीमा (वस्ति कर्म) का परिचय
19.3.4 आधुनिक चिकित्सा में प्रयुक्त एनीमा का परिचय
19.4 एनीमा की विधि
19.5 सारांश
19.6 शब्दावली
19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
19.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
19.9 सहायक पाठ्य सामग्री
19.10 निबन्धात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, जैसा कि आपने प्राकृतिक चिकित्सा के प्रथम मूल भूत सिद्धान्त में जाना कि सभी रोग एक, उनके कारण एक तथा उनकी चिकित्सा भी एक ही होती है। रोग एक और उनके कारण एक का अर्थ है कि सभी रोगों का मूल कारण शरीर में विजातीय पदार्थों रुपी गन्दगियां होती है। शरीर के जिस अंग, जिस संस्थान अथवा जिस स्थान पर ये विजातीय तत्व रुपी गन्दगी एकत्र होती है, उसी अंग की कियाशीलता बाधित होती है और उसी अंग अथवा संस्थान से सम्बधी रोग उत्पन्न हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शरीर में स्थित इन गन्दगियों अर्थात विजातीय पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना ही सभी रोगों की मूल चिकित्सा है।

प्रिय पाठकों, अब आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि शरीर में विजातीय पदार्थों रुपी गन्दगियां कहां से आती है ? तथा इन्हे शरीर से बाहर निकालने की विधि अथवा उपाय क्या हैं ? मानव शरीर में आहार और विहार की विकृति के कारण विजातीय पदार्थ एकत्र होते हैं। यद्यपि प्राकृतिक चिकित्सा के सभी पांचों अंग जैसे मिट्टी चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य किरण चिकित्सा, वायु तत्व चिकित्सा एवं आकाश अथवा उपवास चिकित्सा शरीर से इन विजातीय पदार्थों को बाहर निकालने का कार्य करते हैं किन्तु इनमे से जल चिकित्सा के अर्न्तगत वर्णित एनिमा किया शरीर से विजातीय पदार्थों को बाहर निकालने की अत्यन्त प्रभावी, सरल एवं उपयोगी विधि है। एनिमा एक ऐसी लाभकारी, उपयोगी एवं दुष्प्रभाव रहित किया है जिसका वर्णन प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों से लेकर योग के ग्रन्थों में एवं आधुनिक चिकित्सा तक में प्राप्त होता है। इसके साथ साथ प्राकृतिक चिकित्सा में तो यह किया एक अचूक शस्त्र के रुप में प्रयोग की जाती है जिसका प्रयोग प्राय सभी रोगों में किया जाता है। यद्यपि अलग अलग स्थानों

पर इस क्रिया का वर्णन नामभेद अथवा विधिभेद अवश्य रखता है किन्तु मूलरुप से उद्देश्य में समानता पायी जाती है। इस क्रिया को विधिपूर्वक रोगी को देने से रोगी के पाचन तंत्र का शोधन होता है एवं अन्य शारीरिक व मानसिक रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रिय पाठकों, एनिमा के विषय में जानने के उपरान्त आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि इस क्रिया का वर्णन किन किन ग्रन्थों में और किस किस रुप में किया गया है ? एनीमा का परिचय क्या है ? इसके प्रयोग करने की विधि क्या है ? इन प्रश्नों पर इस इकाई में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

19.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- एनीमा के अर्थ की विवेचना कर सकेगें।
- एनीमा का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- एनीमा को परिभाषित करने में सक्षम हो सकेगें।
- एनीमा की विभिन्न विधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेगें।
- एनीमा सम्बन्धी आवश्यक दिशा निर्देशों का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गये प्रश्नों के उत्तर दे सकेगें।

19.3 एनिमा का परिचय

एनिमा पाचन तंत्र के अन्तिम भाग अर्थात बडी आंत के शोधन की क्रिया है। जिसे अभ्यान्तर स्नान, जल बस्ति, आंत स्नान, आंत शोधन क्रिया व डूस आदि नामों से जाना जाता है। एनीमा एक अत्यन्त प्राचीन एवं प्रचलित शोधन क्रिया है जिसका वर्णन प्राकृतिक चिकित्सा के साथ साथ आयुर्वेद के ग्रन्थों, हठयोग के ग्रन्थों एवं आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी प्राप्त होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर में पंच तत्वों के समयोग एवं विजातीय पदार्थों के निष्कासन हेतु एनीमा क्रिया का उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में वात, पित्त व कफ दोषों को सम बनाने हेतु एवं शरीर शोधनार्थ पंचकर्म प्रकरण में एनिमा के समतुल्य वस्ति क्रिया को वर्णित किया गया है जबकि हठयोग में योग साधना के पथ पर आगे बढने के लिए शरीर को साफ, स्वच्छ बनाने के लिए एनीमा के समान बस्ति क्रिया का उल्लेख किया गया है। एनीमा के लाभों को देखते हुए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी शरीर शोधन करने के उद्देश्य से एनिमा क्रिया को वर्णित किया गया है।

19.3.1 प्राकृतिक चिकित्सा में प्रयुक्त एनीमा का परिचय– प्रिय पाठकों, प्राकृतिक चिकित्सा को शोधन चिकित्सा का नाम भी दिया जाता है क्योकि इस चिकित्सा पद्धति के अर्न्तगत शरीर के शुद्धिकरण पर विशेष बल दिया जाता है। शरीर शुद्धिकरण के अर्न्तगत प्राकृतिक चिकित्सा में पाचन तंत्र के शोधन हेतु एनीमा क्रिया को वर्णित किया गया है। प्राकृतिक चिकित्सा उपचार में उपवास काल में अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करने के कारण पाचन तंत्र, विशेष रुप से बडी आंत की कियाशीलता कम हो जाती है। इस अवस्था में पाचन तंत्र के शोधन हेतु एनीमा क्रिया अत्यन्त आवश्यक एवं लााभकारी क्रिया है जिसका प्रयोग प्रायः सभी प्रकार के रोगों से ग्रस्त रोगियों को स्वस्थ बनाने हेतु किया जाता है।एनिमा लेने के लिए एनिमा यंत्र की आवश्यक्ता पडती है। एनिमा यंत्र में एक स्टील अथवा प्लास्टिक का पात्र होता है जिसमें एक से दो लीटर एनिमा द्रव्य अथवा जल ग्रहण करने की क्षमता होती है। इस पात्र में नीचे की ओर पार्श्व में एक छिद्र होता है जिसमें एक पाईप लगा होता है।

इस पाईप के अन्तिम सिरे पर एक नौजल लगा होता है। इसी स्थान पर एक वाल्व लगी होती है जो पाईप से निकलने वाले एनिमा द्रव्य की मात्रा को नियंत्रित करने का कार्य करती है। इस नौजल के साथ रबर के बने एनीमा कैथेटर को जोडा जाता है। एनिमा कैथेटर रबर का बना छह से आठ इंच लम्बाई का एक लचीली रबर का बना पाईप होता है जिसके द्वारा एनिमा द्रव्य बडी आंत में पहुंचाया जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा में प्रयुक्त एनिमा यन्त्र– इस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा में रोग के अनुसार विभिन्न प्रकार के एनीमा द्रव्यों से रोगी को एनीमा दिया जाता है।

19.3.2 योग में प्रयुक्त एनीमा (वस्ति कर्म) का परिचय–प्रिय पाठकों, योग के प्राचीन ग्रन्थों घेरण्ड संहिता एवं हठयोग प्रदीपिका में शरीर शोधनार्थ एवं वात पित्त कफ नामक त्रिदोषों को सम बनाने हेतु एनिमा के समान वस्ति कर्म को वर्णित किया गया है। हठयोग में योग साधना के प्रथम अंग के रुप में वर्णित षट्कर्म में वस्ति कर्म को प्रमुखता से वर्णित किया गया है। इस क्रिया पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं।

जल वस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्ता च द्विविधौ स्मृतौ।
जल वस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ।।
(घे0 सं0 1/45)

अर्थात वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है– जल वस्ति और स्थल वस्ति । जल वस्ति का अभ्यास जल में किया जाता है। स्थल वस्ति का अभ्यास भूमि पर, सूखे स्थल पर किया जाता है। योग में इस क्रिया का उपदेश एक अत्यन्त सरल एवं प्राकृतिक क्रिया के रुप में किया गया है जिसमें बिना किसी बाह्य उपकरण का प्रयोग करते हुए शरीर का शोधन किया जाता है।जिज्ञासु पाठकों, योगी पुरुष को शरीर में स्थित वायु को सम बनाने हेतु एवं शरीर शुद्धि हेतु इस क्रिया का उपदेश किया गया है। घेरण्ड संहिता में इस क्रिया के महत्व पर भी प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जल वस्ति का अभ्यास प्रमेह, उदरावर्त क्रूर वायु का निवारण करता है जिसके परिणाम स्वरुप शरीर साफ, स्वच्छ, निर्मल एवं सुन्दर बनता है।

19.3.3 आयुर्वेद में प्रयुक्त एनीमा (वस्ति कर्म) का परिचय–आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का परिरक्षण एवं रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करने के उद्देश्य से शरीर शोधनार्थ पंचकर्मो का उपदेश किया गया है। यद्यपि पंचकर्मों में पांच कर्मों अथवा क्रियाओं का उपदेश किया गया गया है जो सभी महत्वपूर्ण एवं उपयोगी क्रियाएं है किन्तु इनमें भी वस्तिकर्म को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पंचकर्मों में वस्तिकर्म के महत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि स्नेहन, स्वेदन, वमन एवं विरेचन कर्म मर्यादित है अर्थात इनका प्रभाव सीमित है किन्तु वस्ति कर्म व्यापक है अर्थात वस्ति कर्म का प्रभाव अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। यह वस्ति कर्म क्या है ? इसे समझाते हुए कहा गया कि वस्ति प्राणियों के मूत्राश्य को कहते है। प्राणियों के मूत्राश्य द्वारा निर्मित यंत्र द्वारा औषधियों को अभ्यान्तर प्रविष्ट कराना ही वस्ति कर्म है। इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में एनीमा यंत्र के रुप में प्राणियों के मूत्राश्य का प्रयोग करने के कारण इस क्रिया को वस्ति कर्म के रुप में वर्णित किया गया है। इसके साथ साथ एनीमा द्रव्य के रुप में विभिन्न औषधियों के प्रयोग का वर्णन भी किया गया है।

प्रिय पाठकों, आयुर्वेद शास्त्र एवं प्राचीन यौगिक ग्रन्थों में एनीमा क्रिया के समान वस्ति कर्म का उल्लेख किया गया है जिसका अभ्यास करने से मानव शरीर एवं स्वास्थ्य

पर बहुत सकारात्मक प्रभाव पडते है। इस क्रिया के प्रभावों एवं लाभों से प्रभावित होकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी एनीमा क्रिया का प्रयोग किया जाता है।

19.3.4 आधुनिक चिकित्सा में प्रयुक्त एनीमा का परिचय– आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी विभिन्न रोगों एवं अवस्थाओं में एनीमा क्रिया का प्रयोग किया जाता है। गंभीर एवं जटिल रोगों में पेट साफ नही होने की अवस्था में एनीमा क्रिया का प्रयोग आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में किया जाता है, इसके साथ साथ ऑपरेशन से पूर्व पेट की सफाई एवं आसान प्रसव क्रिया हेतु भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एनीमा क्रिया कराई जाती है। एनीमा क्रिया का प्रयोग पाचन तंत्र से सम्बन्धित विभिन्न रोगों, रक्त विकारों, त्वचा रोगों, स्त्री रोगों एवं तंत्रिका तंत्र से सम्बन्धित रोगों को ठीक करने में भी किया जाता है। पुरानी कब्ज, मन्दाग्नि, गठिया, सिर दर्द, मुख से दुर्गन्ध आना, मुख एवं जीभ पर छाले पडना, एवं पीलिया आदि रोगों के उपचार में आधुनिक चिकित्सक एनीमा प्रयोग की सलाह देते हैं। एनिमा के लाभों से प्रभावित होकर **अमेरिका के डॉक्टर विलसन** ने एनिमा को सब रोगो का नाशक कहा है।प्रिय विधार्थियों, इस प्रकार आपने एनीमा क्रिया का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया तथा जाना कि यह प्राचीन काल से चली आ रही शरीर शोधन की क्रिया है जिसका वर्णन प्राचीन योग के ग्रन्थों एवं आयुर्वेद से लेकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान तक में प्राप्त होता है। यद्यपि कुछ विद्वान **डॉ हाल** को एनीमा क्रिया के जनक के रुप में स्वीकार करते है किन्तु वास्तव में एनीमा क्रिया तो आदि काल से चली आ रही शोध क्रिया है जिसका वर्णन भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में अलग अलग ढंग से किया गया है। अब एनीमा क्रिया का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि इस एनीमा क्रिया की विधि क्या है ? किस विधि से इस क्रिया को करना चाहिए जिससे कि इस क्रिया का अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके, अतः अब एनीमा की विधि पर विचार करते हैं।

19.4 एनीमा की विधि

प्राकृतिक चिकित्सा में एनीमा की निम्न लिखित तीन विधियां प्रचलित हैं –

(1) बायीं अथवा दाहिनी करवट लेकर पार्श्व में लेट कर

(2) पीठ के बल सीधे लेट कर

(3) घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर

इन विधियों से एनीमा इस प्रकार लिया जाता है–

(1) बायीं अथवा दाहिनी करवट लेकर पार्श्व में लेट कर– प्राकृतिक चिकित्सा में एनीमा की सर्वाधिक प्रचलित विधि रोगी को बायीं अथवा दाहिनी करवट लिटा कर देने की है। सर्वप्रथम एक साफ, स्वच्छ एनीमा कक्ष का चयन करते हैं जिसमें रोगी को लिटाने के लिए एक तख्त बिछा हुआ हो और इस कक्ष के समीप ही शौचालय की भी व्यवस्था हो। तख्त की स्थिति इस प्रकार रखते है कि एक दिशा में तख्त की ऊँचाई चार से छह ऊपर की ओर दूसरी दिशा में इतनी ही नीचे की ओर हो। अब रोगी को तख्त पर इस प्रकार लेटाते हैं कि रोगी के सिर की स्थिति चार से छह इंच नीचे की ओर तथा पैरों की स्थिति ऊपर की ओर हो जाए। रोगी को एनीमा देने से पूर्व एनिमा यन्त्र को अच्छी प्रकार जल से धोकर साफ कर लेते हैं। तत्पश्चात् एनिमा पात्र में रोगी के रोग के अनुसार सामान्य, गुनगुना अथवा गर्म प्राकृतिक औषध द्रव्यों से युक्त जल भरते हैं। इस पात्र को एक दो से तीन फीट उॅचे स्थान पर टांग देते हैं जिससे एनीमा पात्र में स्थित एनीमा द्रव्य पाईप से होता

हुआ एनीमा कैथेटर से धारा रुप में निकलने लगता है। एनीमा देने से पूर्व एनीमा द्रव्य की कुछ मात्रा धारा रुप में बाहर अवश्य निकालना चाहिए, ऐसा करने से पाईप में स्थित वायु एनीमा द्रव्य के साथ बाहर निकल जाती है। अब पहले एनीमा पाईप में लगी वाल्व को बंद करते हैं जिससे कैथेटर से एनीमा द्रव्य निकलना बंद हो जाता है तत्पश्चात कैथेटर के अन्तिम सिरे पर घी, तेल अथवा वैसलीन आदि चिकनाहट युक्त पदार्थ लगाकर कैथेटर को रोगी की गुदा में प्रवेश कराते हैं। गुदा में एनीमा कैथेटर डालने पर वाल्व खोल देते हैं जिससे एनीमा द्रव्य बडी आंत में जाने लगता है। इस अवस्था में रोगी के पेट पर गोलाई में नाभि के चारों ओर हल्के हाथों से मर्दन किया जाता है जिससे कि आंतों में अधिक से अधिक ऊपर की ओर एनिमा द्रव्य जा सके और पाचन तंत्र का अधिक से अधिक शोधन हो सके। यदि रोगी को थोडी मात्रा में एनीमा द्रव्य आतों में जाने पर ही पेट दर्द अनुभव होने लगे तो वाल्व बंद करते हुए एनीमा द्रव्य को वहीं पर रोककर पेट का भलि भंति मर्दन करना चाहिए तथा पुनः वाल्व खोलकर प्रयाप्त मात्रा में एनीमा द्रव्य आतों में पहुचाना चाहिए।निश्चित मात्रा में एनीमा द्रव्य आंतों में जाने पर अथवा रोगी को असहज अनुभव होने पर एनीमा पाईप में लगी वाल्व को बंद कर देते हैं और कैथेटर को गुदा से बाहर निकाल लेते हैं। यद्यपि एनीमा द्रव्य के गुदा में जाने के कारण रोगी को तुरन्त शौच जाने की इच्छा होती है किन्तु एनीमा लेने के तुरन्त बाद ही शौच जाने से एनीमा का पूरा लाभ रोगी को नही मिल पाता है, अतः एनीमा लेने के तुरन्त बाद रोगी को शौच नही जाना चाहिए अपितु पॉच से पन्द्रह मिनट एनीमा द्रव्य को आंतों में ही रोकते हुए आस पास में हल्का भ्रमण करना चाहिए। भ्रमण करने का लाभ यह होता है कि जितना अधिक समय एनीमा द्रव्य आंतों में रहता है आंतों का उतने ही अच्छे प्रकार से शोधन होता है। एनीमा लेने के दस से पन्द्रह मिनट के उपरान्त अथवा शौच की इच्छा होने पर रोगी को शौच हेतु जाना चाहिए।

(2) पीठ के बल सीधे लेट कर – प्रिय पाठकों, एनीमा क्रिया केवल रोगी पुरुषों के लिए ही लाभकारी नही होती है अपितु स्वस्थ्य मनुष्य भी अपने शरीर का शोधन करने एवं अपने स्वास्थ्य को अधिक उन्नत बनाने के उद्देश्य एनीमा क्रिया का अभ्यास स्वतः ही कर सकता है। रोगी पुरुष जहां चिकित्सक की सहायता से एनीमा क्रिया लेता है तो वहीं स्वस्थ मनुष्य बिना किसी की सहायता लिए स्वतः ही एनीमा क्रिया ले सकता है। स्वतः एनीमा लेने में सीधे पीठ के बल लेटकर आसानी से एनीमा क्रिया की जा सकता है।

इस विधि के अर्न्तगत सर्वप्रथम पूर्व वर्णित दिशा निर्देशों के अनुसार एनीमा कक्ष एवं एनीमा पात्र का चयन करते हैं। अब एनीमा कक्ष में एनीमा पात्र की वाल्व को बंद करते हुए तख्त पर पीठ के बल सीधे तख्त पर इस प्रकार लेटते हैं कि पैरों की स्थिति सिर की तुलना में कुछ ऊपर की ओर रहे। तख्त पर लेटकर एनीमा कैथेटर को गुदा में प्रवेश कराते हैं जिससे कि एनीमा द्रव्य बडी आंत में प्रवेश करने लगता है। जिस समय एनीमा द्रव्य आंतों में भरता है उस अवस्था में स्वतः ही आने हाथों से नाभि के चारों ओर गौलाई में मर्दन करते हैं। यदि बीच में ही पेट दर्द होने लगे तब वाल्व बंद करते हुए हाथों को पेट पर अच्छी प्रकार घुमाते है। प्रर्याप्त मात्रा में एनीमा द्रव्य बडी आंत में आने पर एनीमा पाईप की वाल्व को बंद कर देते है और एनीमा कैथेटर को गुदा से बाहर निकाल लेते है।

एनीमा लेने के उपरान्त एनीमा कक्ष से बाहर आकर कुछ समय के लिए भ्रमण करते हैं जिससे कि एनीमा द्रव्य आंतों में भलि भांति शोधन क्रिया को कर सके। अब दस

से पन्द्रह मिनट के भ्रमण करने के उपरान्त अथवा शौच की इच्छा होने पर को शौच हेतु जाना चाहिए।

(3) घुटनों एवं हाथों (कोहनियो) के बल लेट कर

स्वस्थ एवं सक्ष्म मनुष्यों के द्वारा घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर एनीमा लिया जा सकता है। यह एनीमा लेने की अत्यन्त सरल एवं प्रभावी विधि है जिसके अर्न्तगत सर्वप्रथम पूर्व वर्णित विधिनुसार एनीमा कक्ष एवं एनीमा पात्र का चयन करते हैं। अब पहले एनीमा पात्र में एनीमा द्रव्य भरकर एनीमा द्रव्य की कुछ मात्रा कैथेटर के माध्यम से बाहर निकालते हैं। तत्पश्चात वाल्व को बंद करते हुए तख्त पर घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर एनीमा कैथेटर को गुदा में प्रवेश कराते हैं। गुदा में एनीमा कैथेटर डालने के उपरान्त एनीमा पाईप में लगी वाल्व को खोल देते है जिससे एनीमा द्रव्य आंतों में भरने लगता है। इस अवस्था में भी हाथों से नाभि के चारों ओर गौलाई में मर्दन करते हैं।पर्याप्त मात्रा में एनीमा द्रव्य बडी आंत में आने पर एनिमा पाईप की वाल्व को बंद करते हुए कैथेटर को गुदा से बाहर निकाल देते हैं और कुछ समय के लिए एनिमा कक्ष से बाहर आकर धीरे धीरे टहलते हैं। तत्पश्चात शौच की इच्छा होने पर को शौच जाना चाहिए। घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर एनिमा लेने की विधि इसलिए अधिक प्रभावी एवं लाभकारी है क्योंकि इस विधि से अधिक मात्रा में एनिमा द्रव्य आसानी से आंतों में चला जाता है किन्तु चूंकि इस मुद्रा में हृदय एवं मस्तिष्क पर अधिक दबाव पडता है अतः इस विधि में यह अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि ह्रदय रोगी, उच्च रक्तचाप एवं मस्तिष्क सम्बन्धित रोगों से ग्रस्त रोगियों को इस विधि से एनिमा नही देना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त तीनों विधियों में से देश, काल, परिस्थिति के अनुसार किसी एक विधि का चयन करते हुए एनिमा देना चाहिए। रोग व रोगी की अवस्था एवं सुविधा को ध्यान रखते हुए भी विधि का चयन किया जा सकता है। प्रिय पाठकों, एनिमा वह लाभकारी प्राकृतिक शोधन क्रिया है जिसका प्रभाव पाचन तंत्र के साथ साथ सम्पूर्ण शरीर पर पडता है। एनिमा के प्रभाव से सम्पूर्ण शरीर की नाडियों एवं तंत्रिकाओं का शुद्धिकरण होता है, वात दोष सम बनता है एवं कुपित वायु का शमन होता है। एनिमा क्रिया के प्रभाव से रक्त शुद्धिकरण की क्रिया भी त्रीव होती है जिसके परिणामस्वरुप ह्रदय पर भी इस क्रिया का सकारात्मक प्रभाव पडता है। उच्च रक्तपाप एवं मानसिक रोगों में भी एनिमा क्रिया लाभकारी प्रभाव रखती है। सरल शब्दों में एनिमा शरीर के अनेकों रोगों को अत्यन्त सरलता पूर्वक दूर करने की क्रिया है किन्तु इस क्रिया को करने अथवा रोगी पुरुष को देने में कुछ दिशा निर्देशों का ज्ञान होना अत्यन्त अनिवार्य होता है। इन दिशा निर्देशों के अनुसार एनिमा क्रिया देने अथवा लेने से किसी प्रकार के दुष्प्रभावों के स्थान पर अधिकतम लाभ की प्राप्ति होती है। एनिमा क्रिया सम्बन्धी कुछ सामान्य एवं आवश्यक दिशा निर्देश इस प्रकार हैं –

(1) एनिमा में स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। एनिमा कक्ष साफ, स्वच्छ एवं हवादार होना चाहिए। एनिमा पात्र को अच्छी प्रकार गर्म जल से धोकर साफ रखना चहिए तथा एक रोगी के एनिमा कैथेटर का प्रयोग दूसरे रोगी पर कदापि नही करना चाहिए, अन्यथा आंतों में सक्रमण की संभावना बढ जाती है।

(2) चूंकि गुदा एवं बडी आंत अनेकों संवेदनशील महत्वपूर्ण नाडियों का स्थल है एवं अत्यधिक कोमल अंग हैं अतः एनिमा द्रव्य के तापक्रम का विशेष ध्यान रखना चाहिए

तथा कभी भी बहुत अधिक अथवा बहुत कम तापक्रम के द्रव्यों का प्रयोग नही करना चाहिए।

(3) एनिमा सदैव खाली पेट ही लेना चाहिए तथा कभी भी भोजन के तुरन्त उपरान्त एनिमा क्रिया नही करनी चाहिए। यदि किसी कारणवश दिन में दो बार एनिमा क्रिया करनी हो तब भोजन और एनिमा के मध्य पाँच से छह घन्टे का अन्तर अवश्य रखना चाहिए तथा इसी प्रकार सावधानीपूर्वक एनिमा क्रिया के तुरन्त बाद भोजन नही करना चाहिए।

(4) एनिमा के तुरन्त बाद ही शौच नही जाना चाहिए, अपितु एनिमा द्रव्य को कुछ समय के लिए आंतों में ही रोकना चाहिए तथा शौच में बहुत अधिक बल का प्रयोग भी नही करना चाहिए। जितनी अधिक समय तक एनिमा द्रव्य आँतों में रुका रहेगा उसका उतना ही अधिक लाभ एनिमा लेने वाले पुरुष को प्राप्त होगा।

(5) एनिमा में एनिमा द्रव्य के रुप में सदैव प्राकृतिक पदार्थों जैसे नींबू, गिलोय, नीम व आडू के पत्ते, मठ्ठा एवं शहद आदि का ही प्रयोग करना चाहिए एवं कभी भी रासायनिक पदार्थो जैसे साबून, एसिड, गिलिसरीन अथवा अन्य रासायनिक दवाई आदि का प्रयोग नही करना चाहिए।

(6) एनिमा देते समय एनिमा कैथेटर के अन्तिम सिरे पर किसी स्निग्ध पदार्थ जैसे घृत अथवा तेल आदि का प्रयोग अवश्य करना चाहिए एवं एनिमा कैथेटर को अत्यन्त सावधानीपूर्वक गुदा में प्रवेश कराना चाहिए।

(7) एनिमा देते समय एनिमा पाईप में स्थित वायु को बाहर निकालकर ही एनिमा देना चाहिए अर्थात इस वायु को एनिमा द्रव्य के साथ आंतों में नही जाने देने चाहिए।

(8) एनिमा देते समय एनिमा द्रव्य को आंतों में देने की गति नियंत्रित रखनी चाहिए तथा अचानक पेट दर्द होने पर एनिमा द्रव्य को वहीं रोककर हाथों से पेट पर नाभि के चारों ओर गोलाई में मर्दन करना चाहिए।

(9) एनिमा को लम्बे समय तक एवं नियमित रुप से नही लेना चाहिए। नियमित रुप से एनिमा का आदि होने पर आंतों की स्वभाविक उर्त्सजन क्षमता क्षीण पड जाती है तथा एनिमा लेकर ही शौच जाने की आदत पड जाती है अतः एनिमा का प्रयोग बहुत समझदारी एवं सूझ बूझ के साथ करना चाहिए।

(10) रोगावस्था जैसे आंतों में संक्रमण, घाव, अल्सर, बवासीर एवं अन्य आंतों सम्बन्धित रोगों की अवस्था में एनिमा योग्य एवं कुशल चिकित्सक के मार्गदर्शन में ही लेना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त दिशा निर्देशों के अनुरुप एनिमा क्रिया कराने से और अधिक प्रभावी एवं लाभकारी बनती है एवं शरीर पर किसी प्रकार का दुष्प्रभाव नही पडता है। सही विधिनुसार एवं निर्देशानुसार एनिमा देने से रोगी मनुष्य के रोग दूर होते है एवं स्वस्थ मनुष्य का स्वास्थ्य और अधिक अच्छा अथवा उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य / असत्य**

(क) एनिमा क्रिया केवल रोगी मनुष्य को ही करनी चाहिए।

(ख) एनिमा में एनीमा द्रव्य के रुप में सदैव प्राकृतिक पदार्थों का ही प्रयोग करना चाहिए।

(ग) एक रोगी के एनीमा कैथेटर का प्रयोग दूसरे रोगी पर भी करना चाहिए।

(घ) एनिमा को लम्बे समय तक एवं नियमित रुप से नही लेना चाहिए।
(ड) एनिमा के तुरन्त बाद शौच अवश्य जाना चाहिए।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) प्राकृतिक चिकित्सा को -------- चिकित्सा का नाम भी दिया जाता है।
(ख) प्राकृतिक चिकित्सा में पाचन तंत्र के शोधन हेतु ------- क्रिया को वर्णित किया गया है।
(ग) आयुर्वेद शास्त्र में एनिमा यंत्र के रुप में -------- का प्रयोग वस्ति कर्म के रुप में किया गया है।
(घ) आयुर्वेदिक पंचकर्मो में ------- को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
(ड) यौगिक ग्रन्थों (घेरण्ड संहिता) में वस्ति कर्म के ------ प्रकारों का वर्णन किया गया है।

3– **एक शब्द में उत्तर दीजिए –**

(क) बडी आँत के शोधन की क्रिया क्या कहलाती है ?
(ख) आयुर्वेद शास्त्र में एनीमा के समतुल्य किस क्रिया को वर्णित किया गया है ?
(ग) हठयोग साधना के किस अंग में बस्ति कर्म को प्रमुखता से वर्णित किया गया है ?
(घ) घेरण्ड संहिता में बस्ति कर्म को कितने प्रकारों में बांटा गया है ?
(ड) प्राकृतिक चिकित्सा में एनीमा की कितनी विधियाँ प्रचलित हैं ?

4–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) एनिमा का समानार्थी शब्द है –
(a) वस्ति कर्म (b) नेति कर्म
(c) नौलि कर्म (d) धौति कर्म ।

(ख) आधुनिक चिकित्सक किस रोग में एनिमा प्रयोग की सलाह देते हैं –
(a) पुरानी कब्ज (b) पीलिया
(c) गठिया (d) सभी।

(ग) एनिमा लेने की विधि सर्वाधिक प्रभावी एवं लाभकारी विधि है –
(a) करवट लेकर पार्श्व में लेट कर (b) घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर (c) पीठ के बल सीधे लेट कर (d) पेट के बल उल्टे लेट कर ।

(घ) एनीमा के संदर्भ में सही कथन नही है –
(a) एनिमा सदैव खाली पेट लेना चाहिए।
(b) एनिमा कैथेटर के अन्तिम सिरे पर चिकनाहट युक्त घी अथवा तेल का प्रयोग करना चाहिए।
(c) एनिमा द्रव्य के रुप में सदैव रासायनिक पदार्थो का प्रयोग करना चाहिए।
(d) उपरोक्त सभी ।

(ड) एनिमा प्रारम्भ करते ही पेट दर्द होने पर क्या करना चाहिए –
(a) शौच जाना चाहिए (b) पेट को गौलाई में मर्दन करना चाहिए

(c) एनीमा द्रव्य देने की गति बढानी चाहिए (d) सभी ।

19.5 सारांश

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको यह स्पष्ट हुआ होगा कि एनीमा जिसे अभ्यान्तर स्नान, जल बस्ति, आंत स्नान, आंत शोधन क्रिया व डूस आदि नामों से जाना जाता है, शरीर शोधन की एक अत्यन्त प्राचीन एवं प्रचलित शोधन क्रिया है जिसका वर्णन प्राकृतिक चिकित्सा के साथ साथ आयुर्वेद के ग्रन्थों एवं हठयोग के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यह ऐसी लाभकारी शोधन क्रिया है जिसका प्रयोग प्राचीन काल के ऋषि, मुनि एवं योगीजन से लेकर आधुनिक चिकित्सक भी करते है। एनीमा के लाभों एवं प्रभावों के आधार एनीमा को सर्वरोगनाशक के विशेषण से भी सुशोभित किया गया है।

इकाई में एनीमा की तीन प्रमुख प्रचलित विधियों –बायीं अथवा दाहिनी करवट लेकर पार्श्व में लेटकर, पीठ के बल सीधे लेट कर एवं घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर को वर्णित किया गया है। इन तीनों में सर्वाधिक प्रचलित विधि करवट लेकर एवं सर्वाधिक प्रभावी विधि के रुप में घुटनों एवं हाथों (कोहनियों) के बल लेट कर एनीमा लेने पर प्रकाश डाला गया है। इकाई के अंत में एनीमा क्रिया सम्बन्धी कुछ सामान्य दिशा निर्देशों पर प्रकाश डाला गया है।

19.6 शब्दावली

विजातीय द्रव्य	शरीर में स्थित हानिकारक पदार्थ
प्रकरण	भाग अथवा अध्याय
समतुल्य	तुलनात्मक रुप में एकसमान
परिरक्षण	रक्षा करना अथवा बनाए रखना
मर्यादित	सीमित

19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	असत्य	क.	शोधन	क.	एनीमा	क.	a
ख.	सत्य	ख.	एनीमा	ख.	वस्ति	ख.	b
ग.	असत्य	ग.	प्राणियों के मूत्राशय	ग.	षट्कर्म	ग.	d
घ.	सत्य	घ.	वस्ति कर्म	घ.	दो	घ.	b
ड.	असत्य	ड.	दो	ड.	तीन	ड.	c

19.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान – डॉ0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदी नगर (उ0प्र0) ।
2. प्राकृतिक चिकित्सा – डॉ0 टी0 एन0 श्रीवास्तव, मैत्रेयी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. प्राकृतिक चिकित्सा – रामगोपाल शर्मा, प्रभात पेपरबैक्स , नई दिल्ली।
4. प्राकृतिक उपचार की विधियाँ – डॉ0 राजीव रस्तोगी, पापुलर बुक डिपो जयपुर।
5. घेरण्ड संहिता – स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, बिहार योग विधालय मुँगेर।

19.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1 कल्याण आरोग्य अंक (जनवरी एवं फरवरी 2001 ई0) – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. असाध्य रोगों की सरल चिकित्सा – डॉ0 नागेन्द्र कुमार नीरज,
3 मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
4. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 राजकुमार प्रुथी, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
5. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 आर0 एस0 विवेक , डायमण्ड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।

19.10 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. एनीमा का सामान्य परिचय एवं इतिहास का वर्णन किजिए।
2. एनीमा की प्रमुख विधियों पर प्रकाश डालिए।
3. एनीमा को समझाते हुए एनीमा क्रिया के सामान्य दिशा निर्देश लिखिए।

इकाई 20 एनिमा में प्रयुक्त होने वाले जल, तेल, औषध द्रव्य एवं एनीमा के लाभ

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 एनिमा में प्रयुक्त जल
20.4 एनिमा में प्रयुक्त तेल
20.5 एनिमा में प्रयुक्त विभिन्न औषध द्रव्य
20.6 एनिमा के सामान्य लाभ
20.7 सारांश
20.8 पारिभाषिक शब्दावली
20.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
20.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
20.11 सहायक पाठ्य सामग्री
20.12 निबन्धात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, पूर्व की इकाई में आपने एनीमा का परिचय प्राप्त किया और जाना कि एनिमा अत्यन्त प्राचीन शास्त्रोक्त शरीर शोधन की विधि है जिसका वर्णन प्राकृतिक चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ साथ योग एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। आपने पूर्व की इकाई में प्राकृतिक चिकित्सा में प्रचलित एनिमा की प्रमुख विधियों का भी अध्ययन किया। एनिमा क्रिया के परिचय एवं विधियों के अध्ययन के उपरान्त आपके मन में इस क्रिया के विषय में अधिक अच्छे प्रकार से जानने की जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी विशेष रुप से यह जिज्ञासा तो अवश्य ही उत्पन्न हुई होगी कि एनिमा क्रिया में किस प्रकार के जल का प्रयोग किया जाता है। जल के अतिरिक्त एनिमा क्रिया में क्या तेल का प्रयोग भी किया जाता है ? जल और तेल के अतिरिक्त किन किन औषध द्रव्यों का प्रयोग एनिमा क्रिया में किया जाता है ? प्रस्तुत इकाई में एनिमा में प्रयुक्त जल, तेल एवं अन्य औषध द्रव्यों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रिय पाठकों, एनिमा क्रिया में प्रयुक्त जल, तेल एवं औषध द्रव्य जहां बडी आंत के शोधन का कार्य करता है तो वही यह जल, तेल एवं औषध द्रव्य बडी आंत से रक्त वाहिनियों में अवशोषित कर लिया जाता है। रक्त में मिलने के उपरान्त इस द्रव्य का सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव पडता है इसीलिए एनिमा में प्रयुक्त जल, तेल एवं औषध द्रव्य का अपना विशिष्ट महत्व होता है। उपयुक्त प्रकार का जल, तेल एवं औषध द्रव्य किसी भी रोग को आसानी से एवं शीघ्रतापूर्वक ठीक करने की क्षमता रखता है जबकि रोग के विपरित प्रभाव रखने वाले जल, तेल एवं औषध द्रव्यों के प्रयोग से एनिमा क्रिया रोगी पर नकारात्मक प्रभाव रखती है। इसके साथ साथ एक स्वस्थ मनुष्य को एनिमा में किस तापक्रम का एवं किस प्रकार का जल, तेल एवं औषध द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए जिससे कि एनिमा क्रिया और अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सके ? यह एक जानने योग्य प्रश्न है

जिसके उत्तर के अभाव में एनिमा क्रिया का ज्ञान निश्चित ही अधूरा रह जाता है। साररुप में यह स्पष्ट होता है कि एनिमा क्रिया के प्रयोग से पूर्व उसमें प्रयुक्त जल, तेल एवं औषध द्रव्य का ज्ञान होना बहुत महत्पवूर्ण है। प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई में इसी विषय को विस्तारपूर्वक एवं सुव्यवस्थित रुप से समझाया गया है।

20.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- एनिमा में प्रयुक्त जल का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- एनिमा में प्रयुक्त तेल का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- एनिमा में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के औषध द्रव्यों को समझाने में सक्षम हो सकेंगे।
- एनिमा के विभिन्न प्रकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेंगे।
- एनिमा के लाभों को समझाने में सक्ष्म हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गये प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

20.3 एनिमा में प्रयुक्त जल

एनिमा क्रिया में प्रमुख रुप से शुद्ध जल का प्रयोग किया जाता है। साफ, स्वच्छ जल को उबालकर एवं छानकर एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग में लाया जाता है। एनिमा क्रिया को और अधिक प्रभावशाली एवं शोधक गुण से युक्त बनाने के उद्देश्य से जल में नींबू के रस को मिला दिया जाता है। यद्यपि शुद्ध जल से की गयी एनिमा क्रिया पूर्ण रुप से हानि रहित होती है किन्तु फिर भी अलग अलग तापक्रम अर्थात ठण्डे एवं गर्म जल का बडी आंत एवं शरीर पर अलग अलग प्रभाव देता है। इसके अतिरिक्त रोगी पुरुष के संदर्भ में एनिमा क्रिया मे प्रयुक्त जल के तापक्रम का महत्व और अधिक बढ जाता है। एनिमा में प्रयुक्त जल के तापक्रम के आधार पर एनिमा क्रिया को निम्न भागों में बांटा जाता है –

(क) सामान्य तापक्रम अथवा ठण्डे जल का एनिमा :

सामान्य तापक्रम (शरीर के तापक्रम) अथवा ठण्डे जल के एनिमा को शक्तिदायक एनिमा भी कहा जाता है। इस प्रकार के एनिमा में 300 से 500 मिली0 जल को एनिमा द्रव्य के रुप में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के एनिमा में जल को कुछ समय (आधे से एक घंटा) आंतों में रोकने के उपरान्त ही शौच के द्वारा पेट साफ किया जाता है। इस प्रकार के एनिमा को तुलनात्मक रुप से अधिक समय तक लिया जा सकता है। यह एनिमा आंतों के बल, क्षमता एवं क्रियाशीलता को बढाने वाला होता है। यह एनिमा कब्ज, गैस मधुमेह, उच्च रक्तचाप, आंतों के बुखार, कमजोर पाचन शक्ति आदि रोगों में लाभ प्रदान करता है। इसी के अर्न्तगत सामान्य से ठण्डे जल का प्रयोग भी एनिमा द्रव्य के रुप में किया जाता है। यह शीतल जल आंतों की क्रियाशीलता एवं संकुचन शक्ति को बढाता है इसीलिए उल्टी एवं दस्त रोग में यह एनिमा विशेष लाभ प्रदान करता है।

(ख) गुनगुने अथवा गर्म जल का एनिमा :

एनिमा क्रिया में जब गुनगुने अथवा गर्म जल का प्रयोग किया जाता है तब उसकी शोधन क्षमता और अधिक बढ जाती है अर्थात इस प्रकार के एनिमा से बडी आंत का शोधन और अच्छी प्रकार से होता है। इसीलिए इस प्रकार के एनिमा का प्रयोग जीर्ण कब्ज को दूर करने मे विशेष रुप से किया जाता है। किन्तु गुनगुने अथवा गर्म जल के प्रयोग से आंतों

की संकुचन क्षमता अथवा उर्त्सजन क्षमता पर प्रभाव पडता है। इस एनिमा का प्रयोग अधिक दिनों तक करने से आंतों पर नकारात्मक प्रभाव पडता है।

गर्म अथवा गुनगुने जल के एनिमा को कब्ज, पुराने बुखार, जीर्ण त्वचा रोगों एवं कैन्सर आदि गंभीर रोगों के उपचार में किया जाता है, किन्तु अल्सर, बवासीर, उच्च रक्तचाप, हृदय रोगी एवं मानसिक तनाव से ग्रस्त रोगी को गर्म जल का एनिमा नही देना चाहिए।

(ग) गर्म एवं ठण्डे जल का एनिमा :

एनिमा के इस वर्ग का उद्‌देश्य आंतों की भलि भांति शुद्धि करने के साथ साथ उनकी क्रियाशीलता एंव .क्षमता को बढाना होता है। इस विधि मे पहले गर्म जल से रोगी को एनिमा दिया जाता है जिससे रोगी की बडी आंत का शोधन अच्छी प्रकार से हो जाता है एवं आंत में उपस्थित पुराना जमा हुआ मल उखड जाता है। इस एनिमा के तुरन्त बाद रोगी को ठण्डे जल का एनिमा दिया जाता है। इसके प्रभाव से जहां मल का उर्त्सजन अच्छी प्रकार से होता है वहीं आंतों को बल भी प्राप्त होता है। पीलीया रोग में गर्म ठण्डे एनिमा का प्रयोग विशेष लाभकारी अथवा चमत्कारी प्रभाव रखता है। इसके अतिरिक्त पुराने जीर्ण रोगों जैसे अपच, मन्दाग्नि, मधुमेह, पुरानी कब्ज, पुराना बुखार, खांसी जुकाम एवं त्वचा रोगों में इस प्रकार के एनिमा का प्रयोग लाभ प्रदान करता है। इस एनिमा का प्रभाव पाचन तंत्र की क्रियाशीलता को भी तेजी से बढाता है। इसके प्रभाव से भूख नही लगना, भोजन का ठीक प्रकार नही पचना, पाचक रसों का अल्पस्रावण आदि रोग दूर होते है। इस एनिमा का प्रयोग आंतों के संक्रमण, अल्सर एवं बावासीर आदि रोगों में नही करना चाहिए।

20.4 एनिमा में प्रयुक्त तेलः

प्रिय पाठकों, वर्तमान समय के विकृत आहार सेवन के कारण आंतों मे शुष्कता उत्पन्न हो जाती है तथा मल पदार्थ आंतों मे ही सूखकर अनेंक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। आंतों की शुष्कता को दूर करने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा में अरण्ड के तेल (कैस्टर आयल) का एनिमा दिया जाता है। इस क्रिया के अर्न्तगत अरण्ड के बीजों का 50 मिली0 तेल एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग किया जाता है। इस 50 मिली0 तेल का एनिमा रोगी को देने के बाद उसे सामान्य तापक्रम के जल का एनिमा दिया जाता है।

अरण्ड के तेल (कैस्टर आयल) का एनिमा से आँतों की सफाई के साथ साथ आँतों मे चिकनाहट उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरुप मल निष्कासन क्रिया अच्छी प्रकार होती है। कब्ज, पेट का कडापन, पेट दर्द, पेट में गैस बनना, अल्सर आदि पाचन तंत्र के रोगों में यह एनिमा विशेष लाभ प्रदान करता है। इसके साथ साथ गर्भवती स्त्री को आसान प्रसव क्रिया हेतु भी इस एनिमा का प्रयोग किया जाता है। आँतों में आंव की अधिक मात्रा में चिपकने एवं दस्त की अवस्था में इस एनिमा को नही देना चाहिए।

20.5 एनिमा में प्रयुक्त विभिन्न औषध द्रव्य

प्रिय पाठकों, एनिमा क्रिया विभिन्न रोगो में बहुत लाभ प्रदान करने वाली क्रिया है। इस क्रिया मे रोंगों के अनुसार अलग अलग प्रकार के औषध द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण औषध द्रव्यों का वर्णन इस प्रकार है –

(क) त्रिफला चूर्ण के जल का एनीमा :

आयुर्वेद शास्त्र में त्रिफला चूर्ण को अत्यन्त गुणकारी एवं लाभकारी औषधि के रुप में वर्णित किया गया है। इसके अर्न्तगत हरड, बहेडा एवं ऑवला की एक, दो एवं चार मात्रा को मिलाकर त्रिफला चूर्ण तैयार किया जाता है। यह त्रिफला चूर्ण विशेष रुप से वात, पित्त एवं कफ नामक त्रिदोषों को सम बनाने का कार्य करता है। इस त्रिफला का प्रयोग एनिमा क्रिया में भी किया जाता है। इसके लिए 50 ग्राम त्रिफला चूर्ण को 250 मिली0 जल में भलि प्रकार उबालते हैं। इसके बाद इस द्रव्य को छानकर ठण्डा करते हुए इसे एनिमा के रुप में रोगी को दिया जाता है।

यह एनिमा आंतों के शोधन के साथ साथ वात, पित्त एवं कफ दोषों के असन्तुलन को दूर करता है अतः इन दोषों की विकृति से उत्पन्न रोगों में इस एनिमा का प्रयोग लाभकारी होता है।

(ख) पालक, पुनर्नवा, चौलाई एवं बथुआ के रस के जल का एनिमा :

पालक, पुनर्नवा, चौलाई एवं बथुआ हमारे आस पास के वातावरण मे प्रकृति द्वारा दी गयी अत्यन्त लाभकारी औषधीय गुण से युक्त वनस्पति है जिनका प्रयोग करने से शरीर एवं स्वास्थ्य पर बहुत लाभकारी प्रभाव पडता है। इन औषधीय गुणों से युक्त वनस्पतियों के रस को जल में मिलाकर एनीमा द्रव्य के रुप में ग्रहण करने से शरीर को विशेष लाभ प्राप्त होता है।

यह एनिमा द्रव्य बडी आंत से रक्त में मिलकर रक्त को पोषक तत्व प्रदान करता है जिससे शरीर में रक्त निर्माण प्रक्रिया त्रीव होती है एवं रक्तकणों की संख्या में वृद्धि होती है। इस प्रकार रक्तअल्पता, अधिक थकान, चक्कर आना एवं कमजोरी रोग से ग्रस्त रोगी को यह एनिमा लाभ प्रदान करता है।

(ग) अशोक की छाल एवं पत्तियों के रस के जल का एनिमा :

इस एनिमा के अर्न्तगत अशोक वृक्ष की छाल एवं पत्तियों को जल में अच्छी प्रकार भिगोकर इसे सूर्य के प्रकाश में रख देते हैं। 10 से 12 घन्टें तक भिगाए रखने से छाल एवं पत्तियों से रस एवं औषधीय गुण जल में आ जाते हैं। इस जल का प्रयोग एनिमा द्रव्य के रुप में किया जाता है। यह एनिमा विशेष रुप से महिलाओं के प्रजनन तंत्र से सम्बन्धित रोगों में शीघ्रता से दूर करता है।

(घ) नीम एवं आडू की पत्तियों के रस के जल का एनिमा :

इस एनिमा के अर्न्तगत नीम तथा आडू की पत्तियों को जल में अच्छी प्रकार उबालकर एक काढा तैयार कर लेते हैं। उबालने के पश्चात काढे को ठण्डा करते हुए छानकर एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग करते हैं। यह एनिमा एक श्रेष्ठ प्राकृतिक जीवाणुनाशक (Natural Antibiotics) का कार्य करता है। यह एनिमा रक्त शुद्धि का विशिष्ट गुण रखता है। इस एनिमा के प्रयोग से आंतों में कृमि (कीडे), पुराना कब्ज, मुख से दुर्गन्ध आना, संग्रहणी, आंतों में संक्रमण एवं त्वचा रोग (फुन्सीयां निकलना) में विशेष लाभ प्राप्त होता है।

(ड) प्याज एवं लहसुन के रस के जल का एनिमा :

इस एनीमा के अर्न्तगत 100 ग्राम प्याज एवं 25 ग्राम लहसुन के रस को जल में मिलाकर एनिमा द्रव्य तैयार किया जाता है। यह एनिमा कृमिनाशक गुण से युक्त होता है अर्थात इस एनिमा का प्रयोग आंतों में कृमि (कीडे) एवं पेट दर्द में लाभ प्रदान करता है।

(ग) निर्गुण्डी के काढे के जल का एनिमा :

इस एनिमा के अर्न्तगत निगुण्डी को जल में अच्छी प्रकार डालकर आग पर पकाते है। जब जल की मात्रा आधी रह जाती है तब उसे आग से उतार कर ठण्डा कर लेते हैं, इस प्रकार यह एक काढे के रुप में तैयार हो जाता है। इस काढे को छानकर एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग करते हैं।

यह एनिमा गर्म प्रकृति का होता है जिसके प्रभाव से रक्त संचार बढता है एवं जोडों के दर्द में शीघ्र लाभ प्राप्त होता है। सूजन को दूर करने में भी यह एनिमा बहुत लाभकारी होता है। गठिया, आर्थराइटिस, जोडों के दर्द एवं सूजन तथा स्नायु तंत्र के विकार आदि वात विकारों में यह एनिमा लाभ प्रदान करती है।

(ग) मठ्ठे का एनिमा :

इस एनिमा के अर्न्तगत एनिमा द्रव्य के रुप में मठ्ठे का प्रयोग किया जाता है। दही को अच्छी प्रकार मथकर उसमें से चिकनाई अर्थात घृत को अलग निकालकर उसका मठ्ठा बना लेते हैं। इस मठ्ठे में तीन भाग शुद्ध जल मिलाकर उसे पुनः अच्छी प्रकार मथ लेते हैं। अब इस मठ्ठे को एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग करते हुए मठ्ठे का एनिमा लेते हैं।

यह एनिमा शीतल प्रकृति का होता है जिसके प्रभाव से आंतों एवं पेट की गर्मी दूर होकर आंतों को शीतलता प्राप्त होती है। वर्तमान काल में उष्ण प्रकृतियुक्त आहार के अधिक सेवन के परिणामस्वरुप उत्पन्न पाचन तंत्र से सम्बन्धित रोगों को दूर करने में यह एनिमा विशेष लाभकारी प्रभाव रखता है। चूंकि मिर्च मसाले युक्त उत्तेजक गर्म प्रकृति के आहार के सेवन से उदर प्रदेश में अतिरिक्त गर्मी उत्पन्न होती है जिससे अम्लता, पेट दर्द, पेट में गैस व अफारा, प्रमेह, मधुमेह एवं अल्सर आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के उपचार में यह एनिमा विशेष लाभ प्रदान करता है। इसके साथ साथ इस एनिमा के प्रभाव से आँतों को बल प्राप्त होता है तथा आँतें बलशाली, स्वस्थ एवं सक्रिय बनती हैं।

(ग) शहद का एनिमा :

इस एनिमा में एनिमा द्रव्य के रुप में शहद का प्रयोग किया जाता है। इसके अर्न्तगत 100 मिली0 शहद को एनिमा द्रव्य के रुप में ग्रहण किया जाता है तथा इस एनिमा द्रव्य को अधिक समय तक आंतों में रोक कर रखा जाता है। शहद के एनिमा को रात्रिकाल में सोने से पूर्व भी लिया जा सकता है। इस एनिमा से आंतों को पोषण प्राप्त होता है और आंतों की शक्ति एवं क्षमता बढती है। आंतों की क्षीण उर्त्सजन क्षमता, कोष्ठबद्धता, भूख नही लगना एवं भोजन नही पचना, पेट में हर समय हल्का दर्द व भारीपन में इस एनिमा से तुरन्त लाभ प्राप्त होता है। शहद को एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग करते समय यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि शहद पूर्ण रुप से शुद्ध एवं प्राकृतिक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शहद में किसी प्रकार के रासायनिक पदार्थ की मिलावट नही होनी चाहिए।

प्रिय पाठकों, एनिमा एक ऐसी लाभकारी क्रिया है जिसमें औषध द्रव्य बडी आँत के माध्यम से तुरन्त रक्त में मिलकर अपना प्रभाव शरीर पर डालते है, इसीलिए अलग अलग प्रकार के औषध गुणों से युक्त एनिमा द्रव्य अलग अलग प्रकार के रोगों को शीघ्रतापूर्वक एवं सरलतापूर्वक ठीक करने की क्षमता रखते हैं। विभिन्न प्रकार के सामान्य एवं गंभीर रोगों के उपचार में एनिमा द्रव्य बहुत महत्वपूर्ण भूमिका वहन करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में चिकित्सक एनिमा को एक ब्रह्मास्त्र के रुप में प्रयोग करते हुए गंभीर रोगों पर विजय प्राप्त करते हैं। अलग अलग प्रकार के गुणों से युक्त एनिमा द्रव्यों के रोगों में लाभकारी प्रभाव को इस सारणी से आसानी से समझा जा सकता है –

कमांक	एनिमा द्रव्य का नाम	रोगों में लाभकारी
1	ठण्डे जल का एनिमा	सामान्य कब्ज, उल्टी दस्त, गैस, सिर दर्द, थकान एवं अनिन्द्रा रोग में लाभकारी
2	गर्म जल का (नींबू रस मिश्रित) एनिमा	जीर्ण कब्ज, पेट दर्द, गैस, रोग में लाभकारी
3	त्रिफला चूर्ण के जल का एनीमा	त्रिदोषों की विषमता दूर करने में लाभकारी
4	पालक, पुनर्नवा, चौलाई एवं बथुआ के रस के जल का एनिमा	रक्तअल्पता, थकान, चक्कर आना एवं कमजोरी रोग में लाभकारी
5	अशोक की छाल एवं पत्तियों के रस के जल का एनिमा	महिलाओं के प्रजनन तंत्र से सम्बन्धित रोगों में लाभकारी
6	नीम एवं आडू की पत्तियों के रस के जल का एनिमा	आंतों में कृमि, संक्रमण, कब्ज, मुख से दुर्गन्ध, संग्रहणी एवं त्वचा रोगों में लाभकारी
7	प्याज एवं लहसुन के रस के जल का एनिमा	आंतों में कृमि (कीडे) एवं पेट दर्द में लाभकारी
8	निर्गुण्डी के काढे के जल का एनिमा	गठिया, आर्थराइटिस, जोडों के दर्द एवं सूजन व अन्य वात विकारों में लाभकारी
9	मठ्ठे का एनिमा	अति अम्लता, पेट में गैस, मधुमेह एवं अल्सर रोग में लाभकारी
10	शहद का एनिमा	कोष्ठबद्धता, भूख नही लगना पेट दर्द व भारीपन रोग में लाभकारी

इस प्रकार अलग अलग प्रकार के एनीमा द्रव्यों के प्रयोग से अलग अलग प्रकार के रोग विशेष में लाभ प्राप्त होता है। एनीमा क्रिया के कुछ सामान्य लाभ इस प्रकार हैं –

20.6 एनिमा के सामान्य लाभ

आयुर्वेद शास्त्र में आचार्य सुश्रुत एनिमा क्रिया के समान वर्णित विरेचन क्रिया के निम्न लाभों पर प्रकाश डालते हैं। यह लाभ एनीमा क्रिया से भी प्राप्त होते हैं –

(1) एनिमा में अनेक प्रकार की औषधियों के संयोग के कारण यह त्रिदोषों का शमन करती है।

(2) एनिमा से मलों की संग्राही होती है अर्थात मलों का निष्कासन आसानी से होने लगता है। कब्ज आदि रोगों में एनिमा विशेष लाभकारी क्रिया है।

(3) एनिमा प्रयोग से क्षीण शुक्र व्यक्तियों में शुक्र वृद्धि करती है अर्थात इसके प्रयोग से प्रजनन तंत्र सम्बन्धित रोगों में लाभ प्राप्त होता है।

(4) एनिमा कृश व्यक्तियों का बृंहण करती है अर्थात दुबले पतले व्यक्तियों को लाभ प्रदान करती है।

(5) एनिमा प्रयोग से स्थूलों को कृशकाया प्राप्त होती है अर्थात मोटापे रोग में एनीमा प्रयोग लाभकारी प्रभाव रखती है।

(6) एनिमा प्रयोग करने से नेत्रों की ज्योति बढाती है। एनिमा प्रयोग करने से नाडियों में स्थित मलों का शोधन होता है जिसके परिणाम स्वरुप शरीर की समस्त इन्द्रियाँ स्वस्थ एवं व्रीव बनती है।

(7) वयःस्थापन करती है अर्थात वायु दोष को सुव्यवस्थित बनाती है। एनीमा क्रिया के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के वात रोगों में शीघ्र अतिशीघ्र लाभ प्राप्त होता है।

(8) वर्ण प्रसादन करती है। एनिमा क्रिया के प्रभाव से त्वचा का वर्ण, आभा एचवं कान्ति बढती है एवं सभी प्रकार के त्वचा रोगों में लाभ प्राप्त होता है।

(9) एनिमा क्रिया बल को बढाती है। एनिमा क्रिया के प्रयोग से शरीर से मलों का निष्कासन भलि भांति होता है एवं शारीरिक तथा मानसिक स्वच्छता बढती है। शरीर की मलों से निवृत्ति होने पर शारीरिक बल स्वभाविक रुप से ही बढता है।

(10) एनिमा क्रिया आयुष्कर एवं आरोग्यकर है। एनिमा क्रिया का प्रयोग करने से शरीर स्वस्थ बनता है, रोग दूर होते हैं एवं स्वस्थ दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार एनिमा क्रिया सम्पूर्ण शरीर पर लाभकारी प्रभाव रखती है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति एनिमा का सम्बन्ध केवल कब्ज रोग के साथ ही मानते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नही है, एनिमा क्रिया कब्ज रोग को दूर करने के साथ साथ शरीर पर अन्य लाभकारी प्रभाव भी रखती है। एनिमा क्रिया के प्रभाव से अनेक छोटे व बडे रोग शीघ्रता पूर्वक स्वतः ही दूर हो जाते हैं। एनिमा क्रिया के प्रभाव से कमजोर एवं पतले व्यक्तियों का शरीर मजबूत एवं सन्तुलित जबकि स्थूलकाय व्यक्तियों के शरीर की स्थूलता नष्ट होती है। एनिमा क्रिया वायु दोष से उत्पन्न रोगों को दूर करती है, त्वचा के वर्ण, आभा एवं कान्ति को बढाती हुई त्वचा रोगों को दूर करती है। शारीरिक एवं मानसिक रोगों को दूर करती हुई बल, आयु एवं आरोग्य को बढाती है। एनिमा क्रिया रोगी पुरुषों के साथ साथ स्वस्थ व्यक्तियों के लिए समान गुणकारी एवं लाभकारी क्रिया है जिसके प्रयोग से स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को उन्नत बनाए रख सकता है। एनिमा क्रिया के प्रभाव से व्यक्ति स्वस्थ एवं दीर्घ आयु को प्राप्त कर सकते हैं।

एनिमा की सामान्य सावधानियाँ–

प्रिय पाठकों, यद्यपि एनिमा एक लाभकारी एवं हानिरहित क्रिया है जिसका शरीर पर कोई दुष्प्रभाव नही पडता है किन्तु इस क्रिया में भी कुछ निम्न लिखित सावधानियों का पालन अवश्य करना चाहिए –

(1) एनिमा सदैव खाली पेट ही लेना चाहिए। भोजन करने के तुरन्त बाद कभी भी एनीमा नही लेना चाहिए।

(2) एनिमा क्रिया में सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए तथा एक रोगी का कैथेटर कभी भी दूसरे रोगी प्रयोग नही करना चाहिए। अपने कैथेटर को प्रयोग करने से पूर्व अच्छी प्रकार गर्म जल में धोकर अथवा गर्म पानी में उबालकर ही प्रयोग करना चाहिए।

(3) कैथेटर के अगले सिरे पर किसी स्निग्ध पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए जिससे बडी आँत (गुदा) की माँसपेशियों को हानि नही पहुँच पाये।

(4) गर्म तापक्रम पदार्थ का एनिमा देते समय विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है चूंकि बडी आँत अत्यन्त कोमल आन्तरिक अंग है जिस पर अधिक गर्म तापक्रम का एनीमा द्रव्य अत्यन्त हानिकारक प्रभाव रखता है अतः गर्म तापक्रम पदार्थ का एनिमा देते समय उसके तापक्रम का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(5) कभी भी सफाई करने वाले रासायनिक पदार्थ जैसे साबून अथवा अन्य कैमिकल को एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग नही करना चाहिए।

(6) यद्यपि एनिमा एक हानिरहित क्रिया है जो आँतों की क्षमता एवं क्रियाशीलता को बढाती है, किन्तु फिर भी इसका प्रयोग अधिक लम्बे समय तक नियमित रुप से नही करना चाहिए अर्थात तात्पर्य यह है कि एनिमा क्रिया का आदि नही होना चाहिए।

(7) रोगावस्था में एनिमा सदैव चिकित्सक की देख रेख में लेना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त सावधानियों को ध्यान में रखकर एनिमा क्रिया करने से किसी प्रकार की हानि नही होती है अपितु इस क्रिया से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य/ असत्य**

(क) एनिमा क्रिया में ठण्डे जल के प्रयोग से उसकी शोधन क्षमता और अधिक बढ जाती है।

(ख) प्याज एवं लहसुन के रस के जल का एनिमा आंतों में कृमि (कीडे) एवं पेट दर्द में लाभ प्रदान करता है।

(ग) निर्गुण्डी के काढे के जल का एनिमा शीतल प्रकृति का होता है।

(घ) एनिमा क्रिया के प्रभाव से नेत्रों की ज्योति बढती है।

(ड) शहद के एनिमा से आंतों को पोषण प्राप्त होता है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) एनिमा क्रिया मूल रुप से ––––––– रोग को दूर करती है।

(ख) मठ्ठे का एनिमा ––––––– प्रकृति का होता है।

(ग) नीम एवं आडू की पत्तियों के रस के जल का एनीमा एक श्रेष्ठ प्राकृतिक ––––––––– है।

(घ) जोडों के दर्द एवं सूजन को दूर करने में ––––––– के काढे के जल का एनिमा बहुत लाभकारी है।

(ड) अशोक की छाल एवं पत्तियों के रस के जल का एनीमा विशेष रुप से महिलाओं के –––––––– तंत्र से सम्बन्धित रोगों में शीघ्रता से दूर करता है।

3– **एक शब्द में उत्तर दीजिए –**

(क) सामान्य रुप से एनिमा में जल की कितनी मात्रा का प्रयोग करना चाहिए ?

(ख) उल्टी एवं दस्त रोग में कौन सा एनिमा विशेष लाभ प्रदान करता है ?

(ग) उच्च रक्तचाप एवं ह्रदय रोगी को कौन सा एनिमा नही देना चाहिए ?

(घ) आँतों का शुष्कता को दूर करने लिए किस औषध द्रव्य का एनिमा देना चाहिए ?

(ड) निर्गुण्डी के काढे के जल का एनिमा किस प्रकृति का होता है ?

4–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) प्राकृतिक चिकित्सा में किस तेल का एनिमा दिया जाता है –

(a) अरण्ड के तेल (b) सरसों के तेल

(c) तिल के तेल (d) नारियल के तेल।

(ख) एनीमा क्रिया को और अधिक शोधक बनाने के उद्देश्य से एनिमा के जल में क्या मिलाया जाता है –

(a) मठ्ठा (b) नींबू का रस

(c) शहद (d) सभी।

(ग) प्याज एवं लहसुन के रस के जल का एनिमा किस गुण से युक्त होता है –

(a) शोथ नाशक (b) रक्तवर्धक

(c) कब्जनाशक (d) कृमिनाशक ।

(घ) वात, पित्त एवं कफ दोषों के असन्तुलन को दूर करने के लिए किस एनिमा का प्रयोग किया जाता है

(a) निर्गुण्डी के काढे के जल का (b) त्रिफला चूर्ण के जल का

(c) मठ्ठे का (d) शहद का ।

(ङ) पीलिया रोग में किस एनिमा का प्रयोग विशेष लाभकारी अथवा चमत्कारी प्रभाव रखता है।

(a) ठण्डे जल का एनिमा (b) गर्म जल का एनिमा ।

(c) पहले गर्म फिर ठण्डे जल का एनिमा (d) पहले ठण्डे फिर गर्म जल का एनिमा

20.7 सारांश–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको एनीमा में प्रयुक्त जल, तेल एवं अन्य औषरध द्रव्यों का प्रयोग स्पष्ट हुआ होगा। इकाई में स्पष्ट किया गया है कि मूल रुप से एनिमा में साफ, स्वच्छ एवं उबले हुए जल का प्रयोग किया जाता है जिसे और अधिक शोधक बनाने के उद्देश्य से इस जल में नींबू के रस को भी मिलाकर प्रयोग किया जाता है। एनिमा के प्रकारों में ठण्डे जल का एनिमा, गर्म जल का एनिमा तथा गर्म–ठण्डे जल का एनिमा शरीर की स्थिति एवं रोगावस्था के अनुसार दिया जाता है। इसके साथ साथ विभिन्न रोगों को दूर करने में अलग अलग प्रकार के एनीमा द्रव्यों का प्रयोग करने से भी शीघ्र एवं प्रभावशाली रुप में लाभ प्राप्त होता है।

इस क्रम में आंतों मे उत्पन्न शुष्कता को दूर करने के लिए में अरण्ड के तेल (कैस्टर आयल) का एनिमा दिया जाता है। आंतों के शोधन के साथ साथ वात, पित्त एवं कफ दोषों के असन्तुलन को दूर करने हेतु त्रिफला चूर्ण के काढे के एनिमा का प्रयोग किया जाता है। पालक, पुनर्नवा, चौलाई एवं बथुआ नामक औषधीय गुणों से युक्त वनस्पतियों के रस के जल का एनिमा द्रव्य रक्त शोधन के साथ रक्त कणों की वृद्धि में सहायक होता है। अशोक की छाल एवं पत्तियों के रस के जल का एनिमा महिलाओं के प्रजनन तंत्र से सम्बन्धित रोगों को शीघ्रता से दूर करता है। नीम एवं आडू की पत्तियों के रस के जल का एनिमा एक श्रेष्ठ प्राकृतिक जीवाणुनाशक (Natural Antibiotics) का कार्य करता है जो आँतों में कृमि, कब्ज, मुख से दुर्गन्ध आदि रोगों में लाभ देता है। प्याज एवं लहसुन के रस के जल का एनिमा आंतों में कृमि एवं पेट दर्द में लाभ प्रदान करता है। निर्गुण्डी के काढे के जल का एनिमा जोडों के दर्द, गठिया, आर्थराइटिस, सूजन तथा स्नायु तंत्र के विकारों में लाभकारी है। इसी प्रकार मठ्ठे के एनिमा से आंतों एवं पेट की गर्मी दूर होकर आंतों को शीतलता प्राप्त होती है तथा शहद का एनिमा आंतों को पोषण प्रदान करता है जिससे आंतों की शक्ति एवं क्षमता बढती है। इकाई के अन्त में एनिमा क्रिया के प्रमुख लाभों पर एवं सावधनियों पर प्रकाश डाला गया है।

20.8 शब्दावली

अभिवृद्धि	अच्छी प्रकार विकसित होना
जीवाणुनाशक	जीवाणुओं को नष्ट करने की क्षमता
स्निग्ध	चिकनाई युक्त
स्थूलकाय	भारी शरीर, मोटापा युक्त शरीर
कृशकाय	पतला व कमजोर शरीर
आदि होना	आदत पडना
प्रकृति	स्वभाव एवं प्रभाव

20.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	असत्य	क.	कब्ज	क.	300 से 500 मिली0	क.	a
ख.	असत्य	ख.	शीतल	ख.	शीतल जल	ख.	b
ग.	असत्य	ग.	जीवाणुनाशक	ग.	गर्म जल	ग.	d
घ.	सत्य	घ.	निर्गुण्डी	घ.	अरण्ड का तेल	घ.	b
ड.	सत्य	ड.	प्रजनन	ड.	गर्म	ड.	c

20.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.प्राकृतिक आयुर्विज्ञान – डॉ0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदी नगर (उ0प्र0)।
2.प्राकृतिक चिकित्सा – डॉ0 टी0 एन0 श्रीवास्तव, मैत्रेयी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3.प्राकृतिक चिकित्सा – रामगोपाल शर्मा, प्रभात पेपरबैक्स , नई दिल्ली।
4.प्राकृतिक उपचार की विधियाँ – डॉ0 राजीव रस्तोगी, पापुलर बुक डिपो जयपुर।

20.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. कल्याण आरोग्य अंक (जनवरी एवं फरवरी 2001 ई0) – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. असाध्य रोगों की सरल चिकित्सा – डॉ0 नागेन्द्र कुमार नीरज,
3. मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
4. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 राजकुमार प्रुथी, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
5. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 आर0 एस0 विवेक , डायमण्ड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।

20.12 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. एनिमा में प्रयुक्त जल, तेल एवं विविध प्रकार के औषध द्रव्यों को सविस्तार समझाइये।
2. किन्ही पाँच प्रकार के एनिमा द्रव्यों से एनीमा देने की विधि एवं लाभों पर प्रकाश डालिए।
3. एनिमा क्रिया के सामान्य लाभों को लिखते हुए विभिन्न एनिमा द्रव्यों की रोगोपचार में भूमिका स्पष्ट किजिए।

इकाई 21 रोगों में एनिमा का प्रयोग एवं सावधानियां

21.1 प्रस्तावना
21.2 उद्देश्य
21.3 रोगों में एनिमा का प्रयोग
21.3.1 सामान्य कब्ज पेट दर्द एवं गैस में एनिमा का प्रयोग
21.3.2 उल्टी एवं दस्त रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.3 सामान्य सर्दी जुकाम एवं बुखार रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.4 पेट में कीडे रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.5 कब्ज रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.6 त्वचा रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.7 गठिया रोग में एनिमा का प्रयोग
21.3.8 रक्त विकारों में एनिमा का प्रयोग
21.3.9 कैन्सर रोग में एनिमा का प्रयोग
21.4. एनिमा प्रयोग में सावधानियां
21.5 सारांश
21.6 पारिभाषिक शब्दावली
21.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
21.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
21.9 सहायक पाठ्य सामग्री
21.10 निबन्धात्मक प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, आधुनिकता की भागदौड भरी स्पर्धायुक्त एवं विलासितापूर्ण जीवन शैली, अव्यवस्थित दिनचर्या एवं विकृत आहार विहार ने मानव स्वास्थ्य पर बहुत नकारात्मक प्रभाव डाला है। वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्यों की कोई निश्चित दिनचर्या नही है, सोने एवं जागने का निश्चित समय नही है, खाना खाने का भी कोई निश्चित समय एवं स्थान निर्धारित नही है। इसके साथ साथ समयाभाव अथवा अति व्यस्तता के कारण अधिकांश लोग शुद्ध सात्विक घर में बने ताजे एवं पौष्टिक भोजन के स्थान पर कान्फेन्सरी, फैक्टरी, रेंस्ता व फूड प्जाजा में बने क्रत्रिम व संरक्षित भोजन पदार्थों का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं जो विभिन्न क्रत्रिम हानिकारक रासायनिक पदार्थो (Synthetic colors, flavors and preservatives) से युक्त होता है। इसके साथ इस प्रकार के भोज्य पदार्थों में मुख्य रुप से मैदा, चीनी एवं नमक का प्रयोग अधिकाधिक होता है, इन तीनों पदार्थों को प्राकृतिक चिकित्सा में सफेद जहर (ConeFlour, Sugar and Salt are Three white

poisons) के रुप में जाना जाता है। इस प्रकार के भोजन में रेशे (Fibers) का अभाव होने के कारण यह भोजन आंतों में ही चिपक कर अनेकों रोगों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार के भोजन के दुष्प्रभाव से बचने एवं आंतों की क्रियाशीलता को बढाने के लिए आज समाज में अनेंक प्रकार की रासायनिक दवाईयों व चूर्ण आदि का प्रचलन तेजी से बढा है किन्तु इससे दुष्प्रभाव एवं रोग कम नही होता अपितु धीरे धीरे ओर ज्यादा बढता चला जाता है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे स्वस्थ रहें। मूल रुप से इस प्रकार के भोजन का त्याग करते हुए निश्चित दिनचर्या को अपनाते हुए शुद्ध सात्विक आहर विहार ही उत्तम स्वास्थ्य का आधार है किन्तु चूंकि हम वर्तमान परिवेश में रहते हैं और समाज के प्रत्येक पहलूओं का हमारे स्वास्थ्य पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव पडना स्वाभिक ही है अतः हम प्राकृतिक उपायों अथवा अभ्यासों का अधिकाधिक प्रयोग कर अपने स्वास्थ्य को उन्नत बनाए रख सकते है। यहां पर एनिमा एक ऐसी ही प्राकृतिक क्रिया है जिसके प्रयोग से हम केवल रोगों से बच ही नही सकते हैं अपितु विभिन्न रोगों को भी आसानी से दूर भी कर सकते हैं।

प्रिय पाठकों, पूर्व की ईकाई में आपने एनीमा के विषय में जाना तथा विविध औषध द्रव्यों के एनीमा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। अब आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि अलग अलग प्रकार के औषध द्रव्यों का एनीमा किन किन रोगों में लाभकारी होता है ? किस रोग में किस प्रकार का एनीमा देने से रोगी को लाभ प्राप्त होता है ? तथा एनीमा क्रिया में किन किन सावधनियों का प्रमुखता से ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुत इकाई में इसी विषय को समझाते हुए वर्तमान समय समाज में फैले कुछ सामान्य त्रीव एवं जीर्ण रोगों में एनीमा प्रयोग पर के प्रभाव एवं लाभों पर प्रकाश डाला गया है।

21.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- पेट दर्द व गैस रोग में एनीमा के प्रयोग को समझाने में सक्षम हो सकेगें।
- पेट दर्द एवं गैस रोग में एनीमा प्रयोग के महत्व को जान सकेगें।
- त्वचा रोग – फोडे फुसीं में एनीमा प्रयोग को वर्णन करने में सक्षम हो सकेगें।
- रक्त विकारों में एनीमा प्रयोग के महत्व को जान सकेगें।
- सिर दर्द एवं मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों में एनीमा प्रयोग के लाभों को जान पायेगें।
- एनीमा क्रिया की प्रमुख सावधानियों का ज्ञान प्राप्त करोगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गये प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

21.3 रोगों में एनिमा का प्रयोग

प्रिय विधाथियों, पूर्व की इकाई के अध्ययन से आपको एनिमा का परिचय, प्रयोग विधि एवं एनीमा द्रव्य में प्रयुक्त जल व तेल का ज्ञान हो गया है साथ ही आप इस तथ्य से भी अवगत हुए कि एनिमा का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को उन्नत बनाता है किन्तु अब आपके मन में यह प्रश्न भी अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा कि क्या रोगी व्यक्ति भी एनिमा का प्रयोग कर सकता है एवं दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कि किन किन रोगों में एनिमा का प्रयोग लाभ प्रद्रान करता है ? जिज्ञासु पाठकों, एनिमा शरीर शोधन की एक ऐसी लाभकारी

उत्तम क्रिया है जिसका प्रयोग लगभग सभी त्रीव एवं जीर्ण रोगों में लाभ प्रदान करता है, किन्तु यहां पर यदि हम वर्तमान समय में अधिक फैले त्रीव एवं जीर्ण रोगों पर दृष्टिपात करें तो पेट दर्द एवं पेट में गैस, उल्टी व दस्त, सामान्य सर्दी जुकाम एवं बुखार ऐसे सामान्य त्रीव रोग हैं जिनका सामाना अधिकांश मनुष्यों ने जीवन में अवश्य ही किया होगा, किन्तु आपको इन रोगों के उपचार में एनिमा के महत्व का ज्ञान अभी नही होगा। इन रोगों के उपचार में अग्रेंजी दवाईयों के सेवन की तुलना में एनिमा क्रिया का प्रयोग शीघ्रता, सरलता एवं बिना किसी दुष्प्रभाव के स्थाई लाभ प्रदान करता है। जबकि कब्ज, त्वचा रोग (फोडे फुन्सी), रक्त विकार, गठिया एवं कैन्सर ऐसे जीर्ण रोग है जिन्होने आधुनिक सभ्य एवं विकसित समाज में गहराई से अपनी जड़े जमा ली है। इन रोगों को दूर करने के लिए जहां अग्रेंजी जहरीली एवं उत्तेजक दवाईयों का प्रयोग प्रभावहीन सि़द्ध होता है तो वहीं इन रोगों में एनिमा क्रिया का प्रयोग शीघ्रतापूर्वक एवं स्थाई लाभ प्रदान करता है। प्रिय पाठकों, उपरोक्त तथ्यों को समझाने के बाद अब आपके मन में निश्चित ही इन रोगों में एनिमा क्रिया के अनुप्रयोग को जानने की जिज्ञासा अवश्य ही बढ गयी होगी, अतः अब हम कुछ सामान्य त्रीव रोगों जैसे सामान्य कब्ज ,पेट दर्द एवं गैस, उल्टी एवं दस्त, सर्दी जुकाम तथा बुखार में एनिमा क्रिया के प्रभावों पर विचार करते हैं –

21.3.1 सामान्य कब्ज, पेट दर्द एवं गैस रोग में एनीमा का प्रयोग–वर्तमान समय की भागदौड भरी एवं तनावग्रस्त जीवन शैली के कारण आज समाज में पाचन तंत्र के रोगों में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। समयाभाव के कारण बिना किसी निश्चित समय के जल्दी जल्दी में रासायनिक पदार्थों से युक्त भोजन का सेवन करने से कब्ज, पेट दर्द एवं पेट में गैस जैसे रोगों से ग्रस्त ऐसे रोगियों की संख्या बहुत अधिक है जो नित्य अनेक एलौपेथिक दवाईयों का प्रयोग करते हुए रोग को दबाते रहते हैं जबकि एनीमा क्रिया द्वारा इन रोगों की स्थाई चिकित्सा की जा सकती है। इन रोगों की उत्पत्ति के निम्न कारण होते हैं –

रोग के कारण : इन रोगों के निम्न लिखित कारण होते हैं –

(1) अधिक अम्लीय, वसा एवं तेल युक्त गरिष्ठ व मैदे से बनी वस्तुओं जैसे ब्रेड, नमकीन, बिस्किट, मैगी, चाउमिन व समोसे आदि का सेवन करना।

(2) अनिश्चित समय पर अनिश्चित मात्रा में आहार ग्रहण करना।

(3) दिनचर्या, रात्रिचर्या व ऋतुचर्या के अपालन से शौच में पेट साफ नही होने के कारण।

(4) उत्तेजक पदार्थ जैसे चाय, कॉफी कोल्ड डिंक्स पेप्सी, कोक आदि तथा गुटका, धूम्रपान एवं तम्बाकू सेवन करने के कारण।

(5) शारीरिक श्रम का अभाव, मानसिक तनाव की अधिकता तथा यौगिक आसन व प्राणायाम नही करने के कारण।

रोग के लक्षण : इन रोगों के शरीर में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) पेट में हल्का अथवा तेज दर्द होना।

(2) पेट में गैस बनना तथा दुर्गन्धयुक्त अपान वायु का निष्कासन होना।

(3) भूख नही लगना तथा भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न होना।

(4) पेट फूलना, पेट दर्द एवं सिर दर्द होना ।

(5) शारीरिक एवं मानसिक थकान के साथ कार्यों में अरुचि उत्पन्न होना।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –इन रोगों की उत्पत्ति में विकृत आहार एवं अव्यवस्थित दिनचर्या सबसे प्रमुख कारण है अतः सर्वप्रथम रोगी के आहार को नियंत्रित करते हुए रोगी की दिनचर्या को सुव्यवस्थित करने से रोग के मूल कारण पर प्रहार होता है एवं रोग समूल ठीक होने की दिशा में अग्रसर होता है। रोगी को शुद्ध एवं सात्विक आहार निश्चित मात्रा एवं समय पर देने से रोगोपचार में काफी सहायता मिलती है।

इन रोगों का दूसरा प्रमुख कारण पेट तथा आँतों की अच्छी प्रकार सफाई नही होना होता है। पेट तथा आँतों में अर्द्धपचा भोजन एवं मल पदार्थ सडकर विभिन्न प्रकार की जहरीली गैसों को उत्पन्न करता है। यहीं से कब्ज, पेट दर्द, गैस, अफारा आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इस अवस्था में एनीमा क्रिया का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी प्रभाव रखता है। रोगी की आँतों में सड रहे पुराने मल का शोधन करने में गुनगुने जल से एनीमा देने से शीघ्र लाभ प्राप्त होता है। गुनगुने जल का एनिमा देने से रोगी की आँतों में स्थित पुराना मल फूल कर बाहर निकलने लगता है, एनिमा क्रिया को और अधिक लाभकारी बनाने के लिए गर्म जल के तुरन्त बाद ठण्डे जल का एनिमा भी रोगी को देना चाहिए। ठण्डे जल के एनिमा से आँतों को स्वभाविक बल प्राप्त होता है एवं आँतों की क्रियाशीलता बढती है। इस प्रकार के रोगी को नीम, आडू के पत्ते तथा गिलोय को जल में पकाकर तैयार किये गये एनिमा द्रव्य से एनीमा देना चाहिए। एनिमा के जल में नींबू के रस का प्रयोग करने से भी आंतों की सफाई अच्छी प्रकार से होती है और रोग ठीक होता है।

इस रोग से पिडित रोगी को रोग ठीक होने के बाद भी अपने खान पान पर विशेष नियंत्रण रखना चाहिए तथा समय समय पर उपवास करते हुए एनिमा क्रिया के द्वारा पेट एवं आंतों की साफ रखना चाहिए क्योंकि लम्बे समय तक पेट साफ नही होने के कारण यह रोग आगे चलकर अल्सर में तथा इसके बाद यह आंतों की सडन (आंतों के कैन्सर) में भी परिर्वतित हो जाता है। इन रोग को शीघ्र अतिशीघ्र आहार विहार नियंत्रण एवं एनिमा क्रिया द्वारा आंतों का शोधन करते हुए नियंत्रित कर लेना चाहिए।

21.3.2 उल्टी एवं दस्त रोग में एनीमा का प्रयोग–आधुनिक समय में विकृत तले भूने तामसिक आहार का अधिक सेवन, अधिक से अधिक कार्य का बोझ व के अभाव के कारण यह इस वर्ग के रोग तेजी से फैलते जा रहें हैं। इन रोगों की उत्पत्ति के कुछ निम्न लिखित कारण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं –

रोग के कारण : इन रोगों के निम्न लिखित कारण होते हैं –

(1) बासी, सारहीन, अधिक अम्लीय, वसा एवं तेल युक्त गरिष्ठ अथवा रासायनिक पदार्थो युक्त अप्राकृतिक आहार का सेवन करने के कारण।

(2) अनिश्चित समय पर अनिश्चित मात्रा में आहार ग्रहण करने के कारण।

(3) संक्रमित विषाक्त भोजन अथवा अशुद्ध जल सेवन के कारण।

(4) अत्यधिक ठण्ड अथवा लू लगने के करना।

(5) पाचन अंगों जैसे लीवर, पैन्क्रियाज व आंतों आदि में संक्रमण अथवा पाचक रसों का स्रावण अनियमित होने के कारण।

रोग के लक्षण : इन रोगों में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) मुँह से बार बार उल्टीयां होना अथवा बार बार दस्त होना।

(2) पेट में अम्ल अथवा गैस बनना।

(3) पेट में ऐठन, हल्का अथवा तेज दर्द होना।

(4) जी मिचलाना एवं चक्कर आना।
(5) शारीरिक एवं मानसिक थकान होना।

एनीमा द्वारा चिकित्सा –सर्वप्रथम रोगी के आहार विहार को नियंत्रित करते हुए रोगी को पूर्ण रुप से विश्राम देना ही रोग की मूल एवं प्रथम चिकित्सा है। इसके साथ साथ रोगी को ठण्डे जल का एनीमा देने से रोगी को तुरन्त लाभ मिलता है। ठण्डे जल के एनीमा के साथ साथ रोगी के पेट पर ठण्डे जल से भीगा तौलिया अथवा बर्फ से पेट की सिकाई करने से रोग ठीक होने लगता है। इस रोग में रोगी को ठण्डे जल में मठ्ठे अथवा दही मिलाकर एनीमा देने से भी रोग ठीक होता है। उल्टी एवं दस्त रोग में ठण्डे जल का एनीमा बहुत प्रभावशाली सिद्ध होता है।

21.3.3 सामान्य सर्दी जुकाम एवं बुखार रोग में एनीमा का प्रयोग–प्रिय विधाथियों, प्रायः मौसम परिर्वतन के समय अधिकांश लोग सर्दी जुकाम एवं बुखार रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण शरीर की जीर्ण रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है। शरीर में विजातीय पदार्थों की अधिकता प्रतिरोधक क्षमता (Immunity Power) को कमजोर बना देती है जिसके कारण मौसम परिर्वतन होने पर शरीर आसानी से वायरल सर्दी जुकाम एवं बुखार से ग्रसित हो जाता है। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढाने एवं शरीर को रोगाणुओं के संक्रमण से बचाने में एनीमा क्रिया बहुत लाभकारी सिद्ध होती है। एनीमा द्वारा शरीर शोधन होने पर शरीर की प्रतिरोधक क्षमता तेजी से बढती है एवं रोग ठीक होता है। इन रोगों की उत्पत्ति के निम्न कारण होते हैं

रोग के कारण : इन रोगों की उत्पत्ति के निम्न लिखित कारण होते हैं –
(1) विकृत आहार विहार के कारण शरीर में विजातीय विषाक्त पदार्थों की मात्रा बढने के कारण।
(2) अनियमित दिनचर्या एवं यौगिक क्रियाओं का अभ्यास नही करने के कारण।
(3) पेट साफ नही होने (कब्ज) के करण एवं आंतों में गन्दगियां भरी होने के कारण।
(4) अचानक मौसम परिवर्तन (गर्म–सर्द) होने के कारण।
(5) ठण्डी प्रकृति के पदार्थों के अधिक सेवन तथा रात्रिकाल में दही, चावल व आइसक्रीम आदि का सेवन करने के कारण।

रोग के लक्षण – इस प्रकार के रोगों में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–
(1) शरीर का तापक्रम बढना एवं पूरे शरीर विशेष रुप से जोडों में तेज दर्द होना।
(2) ठण्ड लगना, सिर दर्द होना एवं नाक बहना तथा आँखों से आसु आना।
(3) श्वास दर, हृदय गति एवं रक्तचाप का बढना।
(4) भूख नही लगना तथा भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न होना।
(5) शारीरिक एवं मानसिक थकान के साथ कार्यों में अरुचि उत्पन्न होना।

एनीमा द्वारा चिकित्सा –सर्दी जुकाम एवं बुखार रोग में अनियमित दिनचर्या एवं आहार विहार की अनियमितता सबसे महत्वपूर्ण कारण है अतः सर्वप्रथम रोगी की दिनचर्या को नियमित करते हुए रोगी को कुछ समय के लिए पूर्ण विश्राम देना चाहिए। सर्दी जुकाम एवं बुखार रोग की उत्पत्ति में पेट की कब्ज भी एक महत्वपूर्ण कारण है अतः एनीमा क्रिया द्वारा आँतों का शोधन करने से रोग के मूल महत्वपूर्ण कारण पर प्रभाव पडता है।

रोगी की आंतों का भली भांति शोधन करने हेतु गर्म जल में नींबू का रस मिलाकर तैयार एनीमा द्रव्य से एनीमा देना चाहिए। इन रोगों में शरीर के संक्रमण को दूर करने के लिए

गिलोय एक प्राकृतिक एंटी बायोटिक का कार्य करती है। अतः गिलोय की टहनियों को जल में उबालकर तैयार एनीमा द्रव्य से एनीमा देने से रोग शीघ्र अतिशीघ्र ठीक होता है। नीम के पत्तों को जल में उबालकर तैयार एनीमा द्रव्य से एनीमा देने से भी रोगी को लाभ मिलता है। इसी प्रकार आडू एवं अमरुद के पत्तों को उबालकर तैयार एनीमा द्रव्य से एनीमा देने से भी रोग ठीक होता है। आशय यह है कि विभिन्न प्रकार के आंतों का शोधन करने वाले एनीमा द्रव्यों से रोगी को एनीमा देने से इस प्रकार के रोग शीघ्र ठीक होते हैं। इस प्रकार के रोगियों को आंतों को बल एवं पुष्टि प्रदान करने हेतु शहद का एनीमा भी दिया जा सकता है।

21.3.4 पेट में कृमि अथवा कीडे रोग में एनीमा का प्रयोग–आधुनिक समय पेट में कृमि अथवा कीडों की समस्या बहुत आम होती जा रही है विशेष रुप से दस साल से छोटे बच्चों में यह रोग बहुत तेजी से फैलता जा रहा है। इस रोगों की उत्पत्ति के कुछ निम्न लिखित कारण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं –

रोग के कारण : इस रोग के निम्न लिखित कारण होते हैं –

(1) अशुद्ध भोजन अथवा अशुद्ध जल का सेवन करना।
(2) चाकलेट, टॉफी अथवा अन्य मीठी वस्तओं एवं मैदे युक्त आहार का अधिक सेवन।
(3) पेट में कब्ज रहने के कारण।
(4) हर समय खाने की वस्तु खाते रहने की आदत के कारण।
(5) पाचन अंगों विशेष रुप से आँतों में संक्रमण के कारण।

रोग के लक्षण : इन रोगों में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) पेट में हर समय हल्का मीठा दर्द रहना अथवा पेट में ऐठन या चुभन रहना।
(2) बहुत अधिक भूख लगना।
(3) बच्चों का सोते समय दाँत किटकिटाना।
(4) शरीर का तेजी से वजन कम होना एवं चेहरा तेजहीन होना।
(5) शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा क्षीण होने के कारण थकान बने रहना।

एनीमा द्वारा चिकित्सा –इस रोग से ग्रस्त रोगी को सामान्य जल के एनिमा के साथ साथ प्याज के रस के साथ लहसुन का रस जल में मिलाकर एनिमा देने से रोग समूल नष्ट होता है। आडू के पत्तों को जल में भलि भांति उबालकर छानकर ठण्डा कर सामान्य तापक्रम का होने पर इस द्रव्य का एनिमा देने से पेट के कीडें नष्ट होते हैं एवं रोग से मुक्ति प्राप्त होती है।

जिज्ञासु पाठकों, इस प्रकार उपरोक्त त्रीव रोगों में एनिमा के प्रयोग एवं महत्व को जानने के उपरान्त आपके मन में अन्य रोगों में भी एनिमा के प्रयोग को जानने की जिज्ञासा अवश्य ही बढ गयी होगी। वास्तव में एनिमा केवल उपरोक्त त्रीव रोगों के उपचार में ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका नही निभाता है अपितु सिर दर्द, कमर दर्द, सर्वाइकल आदि त्रीव रोगों के उपचार में एनीमा तुरन्त लाभकारी प्रभाव दिखलाता है। परन्तु अब आपके मन में यह प्रश्न भी अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा कि क्या एनीमा केवल त्रीव रोगों के उपचार में ही लाभकारी एवं प्रभावी है अथवा जीर्ण रोगों के उपचार में एनीमा की क्या भूमिका होती है ? अतः अब हम जीर्ण कब्ज, त्वचा रोग (फोडे फुन्सी), रक्त विकार, गठिया एवं कैन्सर नामक जीर्ण रोगों में एनीमा क्रिया के प्रभावों पर विचार करते हैं –

21.3.5 जीर्ण कब्ज रोग में एनिमा का प्रयोग– प्रिय पाठकों, कब्ज वर्तमान समय में बहुत अधिक फैला (A Common Disease) रोग है। यद्यपि इस रोग का कोई एक निश्चित कारण निर्धारित नही किया जा सकता अपितु निम्न कारण रोग को उत्पन्न करने एवं बढाने में भूमिका निभाते हैं –

(1) मैदे युक्त व रेशेरहित भोजन का सेवन करना।
(2) भूख नही होने पर अथवा अल्प मात्रा में भोजन का सेवन करना।
(3) शारीरिक श्रम का पूर्णता अभाव तथा अत्यन्त विलासितापूर्ण जीवन शैली एवं मानसिक तनाव।
(4) बहुत कम मात्रा में जल का सेवन करना तथा चाय, कॉफी आदि का अधिक सेवन करना।
(5) दवाईयों का अधिक सेवन अथवा पाचन तंत्र की विकृति के कारण।

इस रोग में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) शौच के उपरान्त पेट भलि भांति साफ नही होना।
(2) पेट में भारीपन, गैस बनना तथा शरीर में दर्द रहना।
(3) मुख से दुर्गन्ध आना।
(4) सिर दर्द एवं स्वभाव चिडचिडा हो जाना।
(5) आलस्य एवं निन्द्रा की स्थिति में रहना।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –कब्ज रोग में एनिमा का प्रयोग अत्यन्त प्रभावी एवं लाभकारी होता है। कब्ज रोगी को सर्वप्रथम अपने आहार पर नियंत्रण करते हुए मैदे युक्त तने–भुने एवं रेशेरहित आहार का त्याग करते हुए चोकर युक्त आटे एवं रेशेयुक्त पदार्थों व फलों की मात्रा बढा देनी चाहिए। इसके साथ साथ निम्न विधिनुसार एनिमा क्रिया का प्रयोग करना चाहिए।

चूंकि गर्म जल में सफाई करने की अधिक क्षमता होती है और पुराने जमा मल भी गर्म जल के प्रयोग से साफ हो जाता है अतः लम्बे समय के जीर्ण कब्ज रोगियों को गर्म पानी का एनीमा देना चाहिए। कब्ज रोगी को एक से तीन दिनों का लघु उपवास करते हुए उपवास काल में प्रर्याप्त जल का सेवन करना चाहिए तथा प्रातःकाल अथवा प्रातः और सांय दोनों कालों में पाचन तंत्र के शोधन हेतु एनिमा क्रिया का प्रयोग करना चाहिए। कुछ समय गर्म जल के एनिमा से आँतों का शोधन करने के बाद रोगी को ठण्डे जल का एनीमा देने से भी रोग में लाभ प्राप्त होता है।

सामान्य कब्ज रोग में रोगी को सामान्य तापक्रम के जल का एनिमा देने से रोग दूर होता है। इसके साथ साथ कुछ अवस्थाओं में रोगी को 150 से 250 ग्राम जल का एनिमा रात्रिकाल में सोने से पूर्व देने से भी अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। कब्ज रोग में रोगी को नींबू के रस मिश्रित जल का एनिमा, नीम के पत्तों का एनिमा, मट्ठे का एनिमा देने से भी लाभ मिलता है। कैस्टर ऑयल का एनिमा देने से रोगी को विशेष लाभ प्राप्त होता है, इस एनिमा द्रव्य के प्रभाव से आँतों की शुष्कता दूर होती है एवं आँतों में चिकनाहट बढती है।

प्रिय पाठकों, एक ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कब्ज रोगी को अपने आहार विहार पर संयम करते हुए रोग को शीघ्र दूर कर लेना चाहिए तथा एनिमा क्रिया का प्रयोग अधिक लम्बे समय तक नही करना चाहिए। कब्ज रोगी को एनिमा क्रिया

नियमित दिनचर्या का अंग नही बनाना चाहिए, अपितु निश्चित समय सीमा में एनिमा क्रिया का प्रयोग करते हुए आंतों की स्वभाविक क्रियाशीलता एवं मल उर्त्सजन क्षमता को बढाने का प्रयास करना चाहिए।

21.3.6 त्वचा रोग में एनिमा का प्रयोग–प्रिय पाठकों, आधुनिक समय में अलग अलग प्रकार के रासायनिक पदार्थों से युक्त तेल, साबून, शैम्पू, क्रीम, डियोड्रेन्ट, परफ्यूम आदि का प्रचलन बहुत तेजी से बढा है। इन पदार्थों में उपस्थित रासायनिक तत्वों का हमारी त्वचा पर बहुत दुष्प्रभाव पडता है। इसके साथ साथ विकृत आहार एवं विहार के परिणाम स्वरुप पेट की सफाई नही होने के कारण विभिन्न त्वचा रोग समाज में बहुत तेजी से बढ रहे हैं। जिसके समाधान में अग्रेंजी उत्तेजक दवाईयों के स्थान पर एनिमा क्रिया एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। त्वचा रोगों की उत्पत्ति में निम्न कारण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं–

रोग के कारण : त्वचा रोगों की उत्पत्ति के निम्न लिखित कारण होते हैं –

(1) रासायनिक पदार्थों से युक्त सिंथेटिक सौन्दर्य प्रसाद्यक वस्तुओं का त्वचा पर अधिक प्रयोग करने के कारण।

(2) खट्‌टे पदार्थों, मैदे से बनी वस्तुओं, तले–भुने पोषण विहीन पदार्थों विशेष रुप से नमक, तेल व खटाई के अधिक सेवन करने के कारण।

(3) अनियमित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या को अपनाने (देर से सोने एवं प्रातः देर से उठने) के कारण।

(4) अत्यधिक विलासितापूर्ण जीवनशैली (शारीरिक श्रम का पूर्ण अभाव) के कारण।

(5) एंटी बायोटिक्स, स्टीरायॅड, गर्भ निरोधक दवाईयों अथवा गर्म प्रकृति के उत्तेजक पदार्थों जैसे चाय, कॉफी एवं नशीले पदार्थों का अधिक सेवन करने के कारण।

रोग के लक्षण : इस रोग में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) त्वचा का लाल पडना अथवा लाल लाल दाने होना।

(2) त्वचा में छोटी छोटी अथवा बडी फुन्सीयां निकलना।

(3) त्वचा की परतें पपडी के रुप में उतरना एवं खुजली होना।

(4) त्वचा पर झुर्रियां पडना।

(5) कुरुपता।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –सर्वप्रथम दिनचर्या पर नियंत्रण के साथ साथ खान पान पर नियंत्रण करना रोग की मूल चिकित्सा है। प्रातः काल जल्दी उठकर उषापान करना, प्रातःकालीन भ्रमण करना एवं नियमित योगाभ्यास करने से त्वचा मे रक्त संचार बढता है। इसके साथ साथ विकृत पोषणहीन आहार को त्याग कर पोषक तत्वों से युक्त शुद्ध व सात्विक आहार (अंकुरित अन्न) ग्रहण करने से शरीर एवं त्वचा को पोषण प्राप्त होता है।

चूंकि विकृत आहार एवं श्रमहीनता के कारण आंतों की क्रियाशीलता कम हो जाती है तथा आंतों का भलि प्रकार शोधन नही होने के कारण मल पदार्थ आंतों से रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। रक्त से ये विषाक्त पदार्थ त्वचा में प्रवेश करते हुए त्वचा रोग उत्पन्न करते हैं अतः एनिमा क्रिया द्वारा आंतों का शोधन करने से ये रोग समूल दूर होते हैं। इस प्रकार के रोगियों को दस से बीस दिन प्राकृतिक चिकित्सा की अन्य शोधन क्रियाओं के साथ साथ एनिमा क्रिया द्वारा शरीर शोधन कराने से रोग ठीक होता है।

त्वचा रोगी को एनिमा द्रव्य के रुप में गुनगुने जल में नींबू का रस मिलाकर एनीमा देने से भी लाभ होता है इसके अतिरिक्त त्रिफला चूर्ण को जल में पकाकर तैयार काढे को

एनिमा द्रव्य के रुप में प्रयोग करने से भी रोग जल्दी ठीक होता है। रोगी को नीम एवं आडू की पत्तियों को उबालकर तैयार काढे से एनिमा देने से आंतों एवं रक्त का शोधन भलि भांति होता है एवं रोग ठीक होता है।

21.3.7 रक्त विकार (उच्च रक्तचाप) में एनिमा का प्रयोग– आधुनिकता के भागदौड भरे जीवन की अव्सवस्थित दिनचर्या, विकृत आहार – विहार एवं प्रदूषणयुक्त वातावरण ने शरीर (रक्त) में अशुद्धियों की मात्रा में वृद्धि की है। इसके साथ साथ पेट साफ नही होने के कारण ये अशुद्धियां रक्तवाहिनीयों एवं नस नाडियों में जाकर रक्तचाप को बढाती है तब यह अवस्था उच्च रक्तचाप कहलाती है। वर्तमान समय में उच्च रक्तचाप की समस्या बहुत तेजी से बढती जा रही है। इस रोग से ग्रस्त होकर एल्पेक्स जैसी शामक दवाईयों का सेवन करने वाले रोगियों की संख्या भी काफी है। इस रोग में दवाईयों के स्थान पर एनिमा क्रिया का प्रयोग लाभकारी एवं दुष्प्रभावरहित सिद्ध होता है।

रोग के कारण : उच्च रक्तचाप रोग की उत्पत्ति के निम्न कारण होते हैं–

(1) अधिक समय तक मानसिक तनाव अथवा क्रोध में रहने के कारण।

(2) तला भुना हुआ पोषणहीन पदार्थों के अधिक सेवन के कारण।

(3) अनियमित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या को अपनाने (देर से सोने एवं प्रातः देर से उठने) के कारण।

(4) कार्य का अधिक दबाव एवं विश्राम के अभाव के कारण।

(5) एंटी बायोटिक्स, स्टीरायॅड, अथवा अन्य उत्तेजक दवाईयों के अधिक सेवन करने के कारण।

रोग के लक्षण : इस रोग में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) बैचेनी व आन्तरिक घबराहट होना एवं रक्तचाप का बढ जाना।

(2) श्वसन दर एवं हृदय गति का बढना।

(3) सिर में पीछे की ओर तेज सुई के चुभन के समान दर्द होना।

(4) आंखें उभर जाना व हाथों पैरों में सुक्ष्म कम्पन्न होना।

(5) निन्द्रा कम होने के कारण स्मरण शक्ति कमजोर होना।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –सर्वप्रथम रोगी की मानसिक सोच विचार को सकारात्मक दिशा प्रदान करनी चाहिए। इसके साथ साथ आहार विहार पर नियंत्रण करने से रोग समूल दूर होने लगता है। प्रातः काल जल्दी उठकर उषापान करना, प्रातःकालीन भ्रमण करना एवं यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करने से सम्पूर्ण शरीर की रक्त वाहिनीयों मे रक्त संचार बढता है।

उच्च रक्तचाप की अवस्था में रोगी को ठण्डे जल का एनिमा देने से तुरन्त लाभ मिलता है। किन्तु यदि आंतों में पुराना मल पदार्थ अधिक मात्रा में जमा है तब पुराने मल का शोधन करने हेतु एनिमा में गुनगुने जल का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उच्च रक्तचाप रोगी को गुनगुने जल का एनिमा बहुत सावधानीपूर्वक देना चाहिए तथा इसके बाद पुनः ठण्डे जल का एनिमा भी रोगी को देना चाहिए।

अशोक की छाल एवं पत्तियों को जल में उबालने के उपरान्त ठण्डा कर सामान्य तापक्रम का होने पर इस द्रव्य का एनीमा देने से रोगी को शीघ्र लाभ प्राप्त होता है।

21.3.8 गठिया (जोडों में दर्द व सूजन) में एनिमा का प्रयोग–प्रिय पाठकों, अप्राकृतिक आहार का सेवन एवं नकारात्मक चिन्तन के साथ भोग विलासितापूर्ण जीवनशैली ने सम्पूर्ण

विश्व में वात व्यधियों को बहुत तेजी से बढाया है। गठिया, जोडों का दर्द, सन्धिवात और आर्थराइटिस ऐसी ही वात व्याधियां है जिनसे ग्रस्त रोगी भारत के साथ अमेरिका और यूरोप अर्थात ठण्डे देशों में काफी संख्या में पाये जाते है। यद्यपि रोग के उपचार में अनेक प्रकार की दवाइयों का सेवन किया जाता है किन्तु दवाईयों की तुलना में एनिमा किया द्वारा बडी आंत का शोधन करने से ये वात व्याधियां समूल नष्ट होती हैं। इस प्रकार के वात रोगों की उत्पत्ति के निम्न कारण होते हैं–

(1) खट्टा, बासी, अम्लीय एवं पोषक तत्व विहीन आहार अथवा मांसाहार सेवन के कारण।
(2) शरीर में यूरिक एसिड की मात्रा बढने के कारण एवं मोटापा।
(3) पेट साफ नही होने पर वात कुपित होकर जोडों में इकठ्ठा होने के कारण।
(4) शारीरिक श्रम का अभाव (जोडों में गतिहीनता) के कारण।
(5) दुर्व्यसनों के कारण।

रोग के लक्षण : इस रोग में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) शरीर के जोडों में सूजन के साथ दर्द होना।
(2) जोडों में तेज चुभव के साथ दर्द एवं गांठे बनना।
(3) जोडों का अकडना एवं अँगुलियों का तिरछा होना।
(4) चलने में, उठने बैठने में एवं कार्य करने में कठिनाई होना।
(5) शरीर का तापक्रम सामान्य से अधिक रहना।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –सर्वप्रथम रोगी के आहार पर नियंत्रण करते हुए रोगी को अम्लीय एवं तामसिक भोजन के स्थान पर शुद्ध सात्विक क्षारीय आहार देना चाहिए। रोगी को लघु उपवास एवं उपवास काल में एनीमा देने से रोग में शीघ्र एवं स्थाई लाभ प्राप्त होता है। इसके साथ साथ यौगिक कियांए जैसे सुक्ष्म अभ्यास, आसन, प्राणायाम व ध्यान करने से रोग ठीक होने की दिशा में अग्रसर होता है। गठिया जैसी वात व्याधियों के उपचार में एनीमा क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है कि शरीर में वात दोष के विकृत होने पर वस्ति कर्म (एनीमा क्रिया) का अभ्यास कराने दोष की विकृति से उत्पन्न लक्षण (रोग) ठीक उसी प्रकार शान्त हो जाते है जिस प्रकार किसी वृक्ष का मूल अर्थात जड काट देने पर वृक्ष के पत्ते एवं फल फूल स्वतः ही सूख जाते हैं अर्थात एनीमा क्रिया वात व्याधियों की मूल चिकित्सा है।

गठिया रोग में गर्म एवं उत्तेजक अग्रेंजी दवाईयों के सेवन की तुलना में रोगी को गुनगुने अथवा गर्म जल का एनीमा अधिक लाभ प्रदान करता है। यदि रोगी की आँतों में पुराना मल पदार्थ अधिक मात्रा में जमा है तब पुराने मल का शोधन करने हेतु गर्म अथवा गुनगुने जल में नींबू का रस मिलाकर अथवा अन्य एनीमा द्रव्यों जैसे त्रिफला चूर्ण से तैयार एनीमा द्रव्य अथवा नीम, आडू व अमरुद के पत्तों से तैयार एनीमा द्रव्य का एनीमा भी रोगी को देना चाहिए। एनीमा द्वारा आंतों का शोधन होते ही तुरन्त रोग पर प्रभाव पडता है एवं रोगी ठीक होने लगता है। इस प्रकार के रोगी को भलि प्रकार बडी आंत अथवा पाचन तंत्र के शोधन होने तक एनीमा देना चाहिए एवं उपचार के उपरान्त भी पेट की सफाई पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। रोग से ग्रसित व्यक्ति को जब भी कब्ज अनुभूति हो तुरन्त एनीमा क्रिया द्वारा आंतों का शोधन करना चाहिए क्योकि कब्ज होने के साथ ही रोग के लक्षण तेजी से बढते है।

निर्गुण्डी के काढे का एनीमा गठिया रोग में अत्यन्त लाभकारी प्रभाव रखता है।

21.3.9 कैन्सर रोग में एनिमा का प्रयोग—कैन्सर वर्तमान समय का अत्यन्त गंभीर रोग है। वर्तमान समय में बढते अप्राकृतिक रासायनिक आहार के सेवन एवं तनावयुक्त नकारात्मक चिन्तन के कारण इस रोग ने तेजी से समाज में अपनी जडें गहराई के साथ जमा ली है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इस रोग पर अनेक शोध अनुसन्धान करते हुए रेडियोथैरेपी तथा ऑपरेशन की संस्तुति तो अवश्य करता है किन्तु इन अप्राकृतिक, रासायनिक पदार्थों युक्त एवं खतरनाक रेडियेशन की चिकित्सा की तुलना में प्राकृतिक चिकित्सा का उपचार काफी प्रभावशाली, उपयोगी एवं दुष्प्रभावरहित सिद्ध होता है, प्राकृतिक चिकित्सा में विशेष रुप से एनिमा क्रिया रोग के मूल पर चोट करती हुई रोग को समूल नष्ट करती है।

रोग के कारण : इस रोग की उत्पत्ति के निम्न कारण होते हैं–

(1) अप्राकृतिक रासायनिक पदार्थ युक्त आहार जैसे सैकरीन, चीनी, नमक व परिरक्षक (Preservative) पदार्थ युक्त कन्फेक्शनरी की वस्तुओं का अधिक सेवन के कारण।

(2) कीटनाशक दवाईयों युक्त फल, सब्जियों, सिंथेटिक दूध अथवा जहरीली एंटीबायोटिक्स दवाईयों के अधिक सेवन करने के कारण।

(3) अनियमित दिनचर्या के परिणामस्वरुप कब्ज से ग्रसित रहने के कारण।

(4) प्रदूषणयुक्त वातावरण, धूम्रपान, गुटका, पान मसाला, शराब अथवा अन्य दुर्व्यसन के कारण।

(5) तनावयुक्त नकारात्मक चिन्तन की अधिकता के कारण।

रोग के लक्षण : इस रोग में निम्न लिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(1) शरीर के किसी भी अंग अथवा भाग में सडन उत्पन्न होना।

(2) शरीर में गांठे बनना।

(3) बार बार जुकाम व बुखार होना अथवा संक्रमण ठीक नही होना (रक्त में श्वेत रक्त कणों की संख्या तेजी से व लम्बे समय तक बढे रहना)।

(4) आवाज का भारी होकर बैठ जाना, शरीर में रक्त बनना बंद होना एवं चेहरा निर्जीव (पीला) होना।

(5) अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक थकान की अनुभूति के साथ कार्यों में अरुचि होना।

एनिमा द्वारा चिकित्सा –सर्वप्रथम रोगी की दिनचर्या को नियंत्रित करते हुए पूर्ण रुप से आहार पर नियंत्रण करते हुए रोगी के सम्पूर्ण शरीर का प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न विधियों (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु व आकाश तत्व चिकित्सा) द्वारा शोधन करना चाहिए। इसी क्रम में रोगी की क्षमतानुसार उसे उपवास कराते है। उपवास काल में शरीर शोधन हेतु रोगी को नियमित रुप से एनीमा देते है। कैन्सर रोगी को गुनगुने जल में नींबू का रस मिलाकर तैयार एनिमा द्रव्य से एनीमा देना चाहिए। इसके अलावा त्रिफला चूर्ण को जल में पकाकर एवं नीम के पत्तों को जल में उबालकर तैयार एनिमा द्रव्य से एनिमा देने से भी रोगी को लाभ मिलता है। इसी प्रकार आडू एवं अमरुद के पत्तों को उबालकर एवं गिलोय की टहनियों को उबालकर अथवा गिलोय के रस को जल में मिलाकर तैयार एनिमा द्रव्य से एनिमा देने से भी रोग में आराम मिलता है।

प्रिय पाठकों, उपरोक्त रोगों के साथ साथ एनिमा का प्रयोग दमा, मधुमेह एवं हृदय सम्बन्धित अन्य जीर्ण रोगों में भी लाभकारी सिद्ध होता है। चूंकि एनिमा बडी आँत के शोधन के रुप में शरीर से विजातीय पदार्थों को बाहर निकालता है अतः यह सभी रोगों के उपचार में लाभकारी प्रभाव रखता है। एनिमा की सब रोगों को दूर करने की इसी विशेषता

के कारण इसे सर्वरोग नाशक के विशेषण से सुशोभित किया जाता है। किन्तु इस लाभकारी एनिमा क्रिया के प्रयोग में क्या क्या सावधानियां रखनी चाहिए, इस विषय का ज्ञान होना भी आपके लिए अत्यन्त आवश्यक है अतः अब एनिमा क्रिया की कुछ प्रमुख सावधानियों पर विचार करते हैं।

21.4. एनीमा प्रयोग में सावधानियां

रोगी को एनिमा देने में निम्न सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए –

(1) एनिमा क्रिया में साफ स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए, एनीमा कक्ष, एनीमस पात्र एवं एनीमा कैथेटर आदि में स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिउ अन्यथा संक्रामक रोग तेजी से फैलते हैं।

(2) प्रातः काल शौच के उपरान्त ही एनिमा देना चाहिए।

(3) एनिमा में प्रयुक्त जल एवं एनिमा द्रव्य के तापक्रम का विशेष ध्यान रखना चाहिए तथा कभी भी बहुत अधिक अथवा बहुत न्यून तापक्रम के जल एवं एनिमा द्रव्यों का प्रयोग नही करना चाहिए।

(4) रोगी के रोग के अनुसार उपयुक्त लाभकारी औषध द्रव्य से ही एनिमा देना चाहिए।

(5) एनिमा में एनीमा द्रव्य के रुप में सदैव प्राकृतिक पदार्थों जैसे नींबू, शहद, त्रिफला एवं निर्गुण्डी आदि का प्रयोग करना चाहिए तथा कभी भी रासायनिक पदार्थों जैसे साबून आदि का प्रयोग नही करना चाहिए।

(6) एनिमा देने के तुरन्त बाद रोगी को शौच नही जाने देना चाहिए। एनीमा द्रव्य जितने अधिक समय तक आँतों में स्थित रहता है, उतना ही अधिक लाभ रोगी को प्राप्त होता है।

(7) एनिमा देते समय एनीमा कैथेटेर के अन्तिम सिरे पर किसी स्निग्ध पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए।

(8) एनिमा देते समय एनीमा पाईप में स्थित वायु को अच्छी प्रकार बाहर निकालकर ही एनीमा देना चाहिए अर्थात इस वायु को एनीमा द्रव्य से पूर्व अथवा साथ आंतों में नही जाने देने चाहिए।

(9) रोगी को एनिमा देते समय एनीमा द्रव्य को आंतों में देने की गति नियंत्रित रखनी चाहिए तथा रोगी को पेट दर्द होने पर एनिमा द्रव्य को वहीं रोककर हाथों से रोगी के पेट पर नाभि के चारों ओर गोलाई में मर्दन करना चाहिए।

(10) एनिमा को अधिक लम्बे समय तक नियमित रुप से इस प्रकार नही देना चाहिए कि व्यक्ति को इसकी आदत पड जाए।

इस प्रकार उपरोक्त सावधानियों को ध्यान में रखते हुए ही एनिमा क्रिया रोगी को करानी चाहिए। इसके साथ साथ जीर्ण रोग से पीडित रोगी व्यक्ति को एनिमा देने से पूर्व उसका पूर्व इतिहास अर्थात उसके रोग का अच्छी प्रकार ज्ञान करने के उपरान्त उसके रोग में लाभकारी एनिमा द्रव्य से ही एनिमा देना चाहिए।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य / असत्य**

(क) त्रीव रोगों के उपचार में एनिमा दवाई सेवन की तुलना में शीघ्रता, सरलता एवं दुष्प्रभावरहित लाभ प्रदान करता है।

(ख) एनीमा के तुरन्त बाद रोगी को शौच जाना चाहिए।

(ग) गठिया रोगी को गुनगुने अथवा गर्म जल का एनीमा अधिक लाभ प्रदान करता है।

(घ) प्रतिरोधक क्षमता कम होने पर शरीर आसानी से वायरल सर्दी जुकाम एवं बुखार से ग्रसित नही होता है।

(ड) कब्ज रोगी को नींबू के रस मिश्रित जल का एनीमा व नीम के पत्तों का एनिमा देने से भी लाभ मिलता है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) एनिमा को ————————— नामक विशेषण से सुशोभित किया जाता है।

(ख) ठण्डे जल के एनिमा के साथ पेट पर बर्फ से पेट की सिकाई करने से ———————— रोग ठीक होने लगता है।

(ग) कब्ज रोग में ——————— का प्रयोग अत्यन्त प्रभावी एवं लाभकारी होता है।

(घ) उच्च रक्तचाप रोगी को ———————— का एनिमा अधिक लाभ प्रदान करता है।

(ड) वात व्याधियों के उपचार में ——————— क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

3–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) एनिमा क्रिया किन रोगों में लाभकारी है –

(a) त्रीव रोगों में (b) जीर्ण रोगों में

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नही।

(ख) पेट दर्द एवं गैस रोग का कारण है –

(a) अधिक अम्लीय, वसा एवं तेल युक्त गरिष्ठ भोजन

(b) शौच में पेट साफ नही होना

(c) चाय, कॉफी, गुटका धुम्रपान एवं तम्बाकू सेवन करना।

(d) सभी।

(ग) निम्न में से एनिमा की सावधानी नही है –

(a) एनिमा सदैव रोगी मनुष्य को ही देना चाहिए।

`(b) एनिमा सदैव खाली पेट ही देना चाहिए।

(c) एनिमा कैथेटर को एक रोगी से दूसरे रोगी पर प्रयोग नही करना चाहिए।

(d)एनिमा में स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(घ) बार बार जुकाम व बुखार होना तथा श्वेत रक्त कणों की संख्या तेजी से व लम्बे समय तक बढे रहना किस रोग के लक्षण है

(a) मधुमेह (b) कैन्सर

(c) उच्च रक्तचाप (d) गठिया ।

(ड) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार वस्ति कर्म (एनिमा क्रिया) का अभ्यास किस दोष की विकृति दूर करता है

(a) वात दोष की (b) पित्त दोष की

(c) कफ दोष की (d) रक्त दोष की।

21.5 सारांश–

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई में विभिन्न व्रीव एवं जीर्ण रोगों के उपचार में एनिमा की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। इकाई में पहले पेट दर्द एवं पेट में गैस, उल्टी व दस्त, सामान्य सर्दी जुकाम एवं बुखार नामक व्रीव रागों में एनीमा क्रिया के प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है जबकि आगे कब्ज, त्वचा रोग (फोडे फुन्सी), रक्त विकार, गठिया एवं कैन्सर नामक जीर्ण रोगों के उपचार मे एनीमा के महत्व को वर्णित किया गया है। इकाई मे रोगी के आहार विहार एवं दिनचर्या पर संयम को महत्वपूर्णता से वर्णित करते हुए एनीमा क्रिया के द्वारा रोग की दुष्प्रभावरहित, प्राकृतिक एवं स्थाई चिकित्सा को वर्णित किया गया है। इसके साथ साथ इकाई में यह भी समझाया गया है कि अलग अलग एनीमा द्रव्यो के द्वारा एनीमा देने से प्रायः सभी रोगो में लाभ मिलता है।

इकाई के अंत मे एनीमा क्रिया की सावधनियों को समझाया गया है। एनिमा क्रिया में स्वच्छता, एनिमा द्रव्यों का तापक्रम, रोग में उपयुक्त औषधद्रव्य एवं एनीमा में रासायनिक पदार्थों के स्थान पर प्राकृतिक द्रव्यो के प्रयोग आदि सावधनियों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार उपरोक्त इकाई के अध्ययन से सारांश रुप में यह स्पष्ट होता है कि एनिमा एक ऐसी लाभकारी शोधन क्रिया है जिसके प्रयोग से स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य उन्नत होता है जबकि रोगी व्यक्ति के रोगों के दूर करने में भी यह क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्व होती है।

21.6 शब्दावली–

संरक्षित — अधिक समय तक रखने पर खराब नही होने वाला

प्रतिरोधक क्षमता — शरीर की रोगों व रोगाणुओं से लडने की शक्ति

मूल — जड, आधार

शामक दवाई — शरीर की चयापचय दर एवं क्रियाशीलता को कम करने वाली

21.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क.	सर्वरोगनाशक	क.	c
ख.	असत्य	ख.	उल्टी व दस्त	ख.	d
ग.	सत्य	ग.	एनीमा	ग.	a
घ.	असत्य	घ.	ठण्डे जल	घ.	b
ड.	सत्य	ड.	एनीमा	ड.	a

21.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान – डॉ0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदी नगर (उ0प्र0) ।
7. प्राकृतिक चिकित्सा – डॉ0 टी0 एन0 श्रीवास्तव, मैत्रेयी प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. प्राकृतिक चिकित्सा – रामगोपाल शर्मा, प्रभात पेपरबैक्स , नई दिल्ली।
9. प्राकृतिक उपचार की विधियाँ – डॉ0 राजीव रस्तोगी, पापुलर बुक डिपो जयपुर।

21.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1 कल्याण आरोग्य अंक (जनवरी एवं फरवरी 2001 ई0) – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. असाध्य रोगों की सरल चिकित्सा – डॉ0 नागेन्द्र कुमार नीरज,
3 मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
4. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 राजकुमार प्रुथी, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
5. वैकल्पिक चिकित्सा – डा0 आर0 एस0 विवेक , डायमण्ड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।

21.10 निबन्धात्मक प्रश्न–

1.रोगोपचार में एनीमा क्रिया के महत्व पर प्रकाश डालते हुए किन्ही दो त्रीव रोगों की एनिमा द्वारा चिकित्सा लिखिए।
2.किन्ही चार जीर्ण रोगों की एनिमा द्वारा चिकित्सा लिखिए।
3एनिमा द्वारा रोगों का उपचार करते समय किन किन सावधनियों का पालन करना चाहिए।